स्वर्गीय–श्रेष्ठि–चन्दन–जैनागम–ग्रन्थमाला। ग्रन्थसङ्ख्या १

श्रीदशवैकालिकसूत्रम्।

(सावचूरि सच्छायम्)

पूज्यश्री–हस्तिमल्लजी–महाराजकृत–

सौभाग्यचन्द्रिका–भाषाटीका–समेतम्।

एम्. ए., एल्एल्. बी., पदवीधरेण अमोलकचन्द्रेण, सुरपुरियोपनामकेन सम्पादितम्।

प्रथमावृत्तिः।
१०००

प्रकाशक: रावबहादूर मोतीलाल बालमुकुंद मुथा,
भवानी पेठ, सातारा (M. S. M. Rly.)

मूल्यं [illegible]।

मुद्रक: रा. रा. विठ्ठल हरि बर्वे, आर्यभूषण प्रेस, ९१५।१ पेठ भांबुर्डा, पूना नं. ४.

दर्शन-चारित्र-रूप रत्नत्रयकी आराधनासे आत्माको सुगतिगामी बनाता है। और अन्तमें सब दुःखोंसे मुक्त करता है। हित, अहित, कर्तव्य, अकर्तव्य आदिका बोध कराके आगम इस लोकमें मनुष्यको शिष्ट, संयत व शान्त बनाता है। यदि मनुष्यका सञ्चित कर्म प्रतिकूल न हो तो, इसी प्रकार ज्ञानद्वारा परम्परासे मुक्तिरूप परमलाभ मिलता है। अन्तःकरणकी विशुद्धिका तो यह प्रधान साधनही है। जैसे कहा भी है—

" मलिनस्य यथाऽत्यन्तं जलं वस्त्रस्य शोधनम्।
अन्तःकरणरत्नस्य, तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः॥

अर्थात् मलिन वस्त्रोंको निर्मल बनानेमें जैसे जल साधन हैं। वैसेही अन्तःकरणरूप रत्नको शुद्ध करनेवाला शास्त्र है, ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं। शास्त्रकी महिमा दिखानेवाले इन वाक्योंकी सच्चाई इसीसे सिद्ध होती है कि " वीतरागोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात् "— रागद्वेषोंसे रहित होनेसे वीतराग मृषा (झूंठ) नहीं कह सकते हैं।

आगम याने क्या?—

' आप्तवचनमागमः ' अर्थात् आप्तोंका वचन आगम है और आप्त[1] उन पुरुषोंको कहते हैं जो रागद्वेष आदि विकारी भावोंसे दूर हैं। तथा श्रुत ज्ञानकी विशेषतासे स्वच्छ हृदयवाले व चौदह पूर्वोंसे दश पूर्वोंतकके ज्ञानोंको रखनेवाले भी आप्तोंके समानही माननीय हैं। इसी लिये नन्दीसूत्रमें इनके वचनोंको सम्यक् श्रुत कहा है। यह कैसे मालुम हो कि ये वचन आप्तोंके होनेसे मानने चाहिए? इसके लिये शास्त्रमें परीक्षा बताई है—

" जं सुच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं " उ. अ. ३ गा. ८

अर्थात् जिस वचनको सुनकर श्रोता तप, शान्ति व शुद्ध अहिंसाको स्वीकार करें, उसको आप्त वचन समझना चाहिए। ऐसे गुण जिन अन्य ग्रन्थोंमें या ग्रन्थोंके एक भागमें हों वे ग्रन्थ अथवा ग्रन्थका एक भाग भी आप्तवचनोंके समान

---

१. आप्तलक्षणं यथा—" कात्स्न्र्येन ज्ञातसकलतत्त्वो रागद्वेषादिनाऽपि नाऽन्यथावादी यः स आप्त इति चरके पतञ्जलिः।

दाता अगर साधुके लिये ही निसरणी सीढी व बडा पाट वा चौकी तथा खटिया और कीलक इनमेंसे किसीको भी ऊंचा करके कोठे व प्रासाद आदिपर चढे और उनके सहारे साधुके लिये आहार लाके दे तो चढकर लाये हुए उस आहारको साधु ग्रहण नहीं करे ॥ ६७ ॥

इस प्रकारके आहार लेनेमें दोष दिखाते हैं--कठिनाईसे चढती हुई वह स्त्री[1] यदि गिर जाय तो हाथ पैरको खंडित करे, चोट पहुंचावे, और पृथ्वीकायिक व जो पृथ्वीके आश्रित हैं उन जीवोंकी भी हिंसा करेगी ॥ ६८ ॥

इस प्रकारके बडे दोषोंको जानकर महार्षि साधु अधिक दोषयुक्त है इसलिये मालासे उतारकर दी हुई भिक्षाको नहीं लेते हैं ॥ ६९ ॥

सूरण आदि कन्द व विदारिका आदि मूल, तथा तालफल आदि प्रलम्ब, वा कटा हुआ पत्रशाक, ये अगर कच्चे हों, ऐसेही तुम्बक-घीयाशाक-कोई २ इसे तुलसी भी कहते हैं-और अदरख ये कच्चे हों तो इन वनस्पतिओंको साधु नहीं लेवे (आग आदिसे अच्छी तरह प्रासुक हो गये हों तो ले सकते हैं) ॥ ७० ॥

इसी प्रकार बाजारमें सत्तूका चूर्ण, बोरोंका चून तथा तिलपापडी व द्रवीभूत (ढीला) गुड, और चूडा तथा अन्य भी वैसे मोदक आदि जो अचित्त पदार्थ हैं वे यदि बेचनेके लिये दुकानपर फैलाये हुए हों और अनेक दिनोंसे पडे रहनेके कारण सचित्त धूलिसे लिपटे हों, यदि ऐसी चीजें गृहस्थ साधुको देवे तो साधु देनेवालेसे कहे कि मुझे ऐसा आहार नहीं कल्पता है ॥ ७१-७२ ॥

बह्वास्थिक[2]-याने गुठालिओंकी अधिकतावाले सीताफल आदि, तथा अनिमिष नामक बहुत कांटेवाला फल ऐसेही अस्थिक और तिंदुरुकी फल, तथा बिल्व वा इक्षुखंड व शालमली (साधु इन फलोंको नहीं लेवे) ॥७३॥

१. स्त्रीही प्रायः भिक्षा देनेवाली होती है, अतः स्त्रीग्रहण किया गया।

२. विशेष जानकारीके लिये मूलकी टिप्पणी देखें।

शास्त्रोद्धारकी योजनाके बारेमें कुछ वक्तव्य.

शास्त्रोद्धार-योजनाके बारेमें निम्नोक्त पत्र भेजा गया था—

सादर सप्रेम जयजिनेंद्र !

हमारे परमपूज्य काकाजी स्व० श्री. चन्दनमलजी साहब मूथाके स्मरणार्थ एक शास्त्रोद्धारकी योजना कीगई है। उस योजनाके अनुसार आगमोंका सम्पादनकार्य श्रीमज्जैनाचार्य बालब्रह्मचारी पंडितवर्य परमपूज्य श्री. हस्तीमलजी महाराजके देखरेखमें चल रहा है। इस कार्यको सर्वाङ्गसुंदर एवं विद्वन्मान्य बनानेके लिये समाजके अन्यान्य सुयोग्य विद्वानोंके सहकारकी भी नितान्त आवश्यकता है। वास्ते हम अपनी कार्यपद्धति आपके सामने रखते हुए आपसे सविनय प्रार्थना करते हैं कि आप इस कार्यमें अपना योग्य सहयोग देकर हमें कृतार्थ बनाएँ।

हमारे कार्यपद्धतिमें सम्पादनके नीचेमुजब विभाग किये गये हैं—

१ प्रथमतः पुरानीसे पुरानी एवं उपादेय ऐसी मूलकी जो शुद्ध प्रति मिले उसपरसे मूलका संशोधन करना.

२ बादमें उसकी प्राचीन टीकाके आधारसे संस्कृतमें छाया देना।

३ उपरान्त कोई अप्राप्य एवं अत्युत्तम टीका आदि हो तो वह भी उपयोगितानुसार छपवाना।

४ इसके अलावा पारिभाषिक व कठिन शब्दोंपर टिप्पणी आदि देना। फिर प्रश्न आता है अनुवादका।

५ अनुवाद—अंग्रेजी, हिन्दी, गुजराथी एवं मराठी—इसतरह चारोंमेंसे कोई तयार करके आवश्यकतानुसार कोनसा भी एक देना। अंग्रेजीके प्रतिमें एक अंग्रेजी भूमिका (Introduction) भी देना। इसतरह बनसके वहांतक प्रत्येक सूत्रका शुद्ध मूल, सरल छाया एवं उपयोग दिखनेसे खुला अनुवाद तय्यार होकर जनताके सामने आवे ऐसा हमारा विचार है।

इस कार्यमें आपकी क्या राय है तथा आप किसप्रकार सहयोग दे सकते हैं यह कृपया अतिशीघ्रही हमें लिखकर भिजवावें। इस कार्यको मान्य बनानेके लिये आपकी तरफसे अन्य भी कोई योग्य सूचना आई तो उसका भी साभार स्वीकार होगा।

हालमें श्रीमद्दशवैकालिक सूत्रका कार्य चलता है। मूल एवं छायाकी प्रति लगभग तयार होगई है। आपका जवाब आनेपर एक कॉपी शीघ्रही आपकी सेवामें भेजी जायगी। इसके आगे नन्दीसूत्र लेनेका निश्चित हुआ है—आपको ज्ञात रहे।

पत्रोत्तर शीघ्रही देवें—

आपका कृपाकांक्षी :

मोतीलाल बा. मूथा—सातारा.

इस पत्रके जो उत्तर आये वे इसप्रकार हैं—

उपाध्यायजी श्री आत्मारामजी महाराजसाहब—

"मैं अपने विचार पं. दुःखमोचनजी झाको बतला चुका हूँ"—जो कि यह कार्य अत्यन्त आवश्यक है और बनसके वहांतक मैं अपना सहयोग देनेमें सहमत हूँ, इत्यादि थे.

उपाध्यायजी कविवर श्री अमरचन्द्रजी महाराजसाहब—

"बडी प्रसन्नता है कि आप जैसे दानवीर गृहस्थ अपनी लक्ष्मीका सदुपयोग साहित्य-प्रकाशन जैसे पवित्र कार्यमें कर रहे हैं। वास्तवमें आगमोंके प्रकाशनका कार्य अतीव आवश्यक है।

क्या ही अच्छा हो यदि यह कार्य सबका संगठितरूपसे हो। इधर श्री उपाध्यायजी महाराज भी बडे परिश्रमसे कार्य कर रहे हैं। उधर पूज्यश्री जैनाचार्य पं. श्री. हस्तीमल्लजी महाराजका भी सविशेष कृपाभाव है कि—आप भी इस पुनीत कार्यमें

जुटे हैं। परन्तु आप जानते हैं एक साथ अलग २ शास्त्र निकलेंगे तो उनमें वैषम्य भी अवश्य ही कहीं न कहीं होगा और वह फिर समाजके लिये भविष्यमें दुःखद होगा। आप कुछ ऐसा मार्ग सोचें ताकि-एकही अर्थ एकही भावसे कार्य हो, और फिर उसमें मतभेद दिखाने जैसा विरोधियोंको कोई अवसर न मिले।

आपके योजनासम्बन्धी नियम सभी सुन्दर हैं और वे विचारपूर्वक ही रक्खे गये हैं। उनमें कोई विशेष ऐतराज नहीं।"

उत्तरमें अन्य योग्य सूचनाएँ भी हैं।

जैनाचार्य पूज्यश्री जवाहिरलालजी महाराजसाहब—

"शास्त्रोद्धारका कार्य पवित्र और अत्युपयोगी है। मैं इस कार्यकी सफलता चाहता हूँ। आप मेरेसे इस कार्यमें क्या सहयोग चाहते हैं यह पत्रमें स्पष्ट नहीं लिखा। मेरा शरीर वृद्ध और रोगी है, फिरभी सहायताके विषयकी स्पष्टता मालूम होनेपर विचार करूंगा।

भारतभूषण शतावधानी पण्डितरत्न श्री रत्नचन्द्रजी महाराजसाहब—

"आपने जो स्कीम उठाई है वह उत्तम है। समाजमें ठोस साहित्यकी बहुत आवश्यकता है। पूज्यश्री हस्तीमल्लजी महाराजके तत्त्वावधानमें कार्य होनेसे आशा बन्धती है कि यह कार्य बहुत शुद्ध और प्रामाणिक ही होगा। पूज्यश्री उदीयमान विद्वान् हैं।"

पत्रमें अन्य योग्य सूचनाएँ भी हैं।

पंडितवर्य युवाचार्यजी श्री आणंदऋषिजी महाराजसाहब—

"आगमसंशोधनके विषयमें विचारणीय बातें सुयोग्य प्रतीत हुई। चौथी बात जरूर विचारणीय है। यदि सुयोग्य विद्वान् मुनिवरोंसे एक पद्धतिसे आगमसम्पादनकार्य होवे तो अल्पकालमें कार्य हो जावें ऐसी हमारी सम्मति है।"

पंडितवर्य युवाचार्यजी श्री गणेशलालजी महाराजसाहब—

“ शास्त्रोद्धारके विषयमें दो मत हो ही नहीं सकते । यह कार्य जितना पवित्र उतना ही आदरणीय भी है । योग्य हाथोंसे इसका सम्पादन होनेमें सफलता असम्भव नहीं ।

वर्तमान साम्प्रदायिक परिस्थिति एवं दायीत्वपूर्ण भारके कारण लगभग मैं इस कार्यमें सहायता देनेमें असमर्थ हूँ । फिर भी आपकी ओरसे यह स्पष्ट मालूम होनेपर कि आप कौनसा कार्य मुझसे लेना चाहते हैं, मैं उसपर विचार कर सकता हूँ । लेकिन इस समय तो किसी भी वचनको देनेमें असमर्थ हूँ ।

इन सबमें भी पूज्यश्रीकी आज्ञा सर्वोपरी होगी । ”

श्री० वर्धमानजी साहब पितलिया, रतलाम—

“ शास्त्रोद्धारका कार्य करनेकी आपकी प्रबल इच्छा है यह जानकर बहुतही हर्ष हुआ । आपकी समाजसेवाकी भावना प्रशंसनीय है । एवं श्रीमज्जैनाचार्य पूज्यश्री हस्तीमल्लजी महाराजसाहबका शास्त्रीय ज्ञान तथा लघुवयमें बुद्धिप्रावल्य भी अतिही सराहनीय है । ऐसे महापुरुषके द्वारा सम्पादित साहित्य जैन समाजमें आदरपात्र बनें यह स्वाभाविक है । फिर भी इस योजनाको सर्वाङ्गसुन्दर एवं विद्वन्मान्य बनानेके हेतु आपने विद्वानोंका सहकार प्राप्त करनेका प्रयत्न किया है यह भी वांछनीय है । उक्त कार्यमें मेरा भी सहयोग आपने चाहा है यह आपका बडप्पन है । आप जानतेही हैं कि इस विषयमें मेरा अनुभव ज्यादा नहीं है । ”

श्री० अगरचन्दजी भैरोंदानजी साहब सेठिया, बिकानेर—

“ शास्त्रोद्धारकी आपकी योजना अत्यन्त सराहनीय है एवं कार्यपद्धति भी उत्तम है । श्रीमान् पूज्यश्री हस्तीमल्लजी महाराजसाहबकी देखरेख और सलाहसे कार्य होरहा है उसके उत्तम एवं उपयोगी होनेमें क्या सन्देह हो सकता है ?

आपने दशवैकालिक सूत्र भेजनेबाबत लिखा सो आप खुशीके साथ भेजिये। हमें इस विषयका शौक है इसलिये ऐसे ज्ञानवर्द्धक कार्योंमें हमारी दिलचस्पी रहती है और हम उनका हृदयसे स्वागत करते हैं।"

श्री० बहादूरमलजी साहब बांठिया, भीनासर—

"आपकी जो योजना है वह सर्वोत्तम है। मैं सब प्रकारसे पूर्ण सहमत हूँ और आप महानुभावोंने समयानुकूल जैसा भी विचार किया है वह सर्वथा प्रशंसनीय है।

इसके सम्पादनका कार्य श्रीमज्जैनाचार्य बालब्रह्मचारी पंडितवर्य परमपूज्य श्री. हस्तीमल्लजी महाराजसाहबके देखरेखमें चलना हम लोगोंके लिये बडे सौभाग्यकी बात है। परन्तु मेरे लिये जो आपने सहयोगके लिये लिखा वह आपकी कृपा है। मैं जिस योग्य भी हूँ सदा प्रस्तुत हूँ।"

उपरोक्त एवं अन्य भी जयपुरके श्री. केसरीमलजी चोरडिया व श्री. मूसलजी आदि कई सज्जनोंकी तरफसे उत्साहवर्धक जवाब आनेपर ईप्सित सूत्रकी तीन अध्ययनतककी टाइप की हुई कॉपी निम्नोक्त सज्जनोंकी सेवामें भेजदी गई—

१ जैनधर्मदिवाकर उ० जी श्री आत्मारामजी महाराज.
२ उ० जी कविवर श्री. अमरचन्द्रजी महाराज.
३ भारतभूषण शतावधानीजी श्री. रत्नचंद्रजी महाराज.
४ जैनाचार्य पूज्यश्री जवाहिरलालजी महाराज.
५ युवाचार्यजी आणंदऋषिजी महाराज.
६ श्रीमान् सेठ भैरोंदानजी साहब सेठिया—बिकानेर.

परम हर्षकी बात है कि विद्वान् मुनिवरोंने एवं सहयोगी श्रावकबन्धुओंने भेजी हुई प्रतिका परिशीलन करके योग्य सूचनाएँ भेजकर हमें कृतार्थ किया है व चर्चात्मक ऐसे दो दो चार चार पत्रोंका व्याकरणदृष्ट्या विचार करके जबाब भेजनेका कष्ट उठाया है इसलिये हम इन सबोंका हार्दिक आभार मानते हैं व भविष्यमें भी वे इसीप्रकार सहयोग देते रहेंगे ऐसी उत्कट इच्छा प्रकट करते हैं।

निवेदक—

मोतीलाल बालमुकुंद मुथा.

अमोलकचंद नवलमल सुरपुरिया.

श्री देवी कॉन्फरन्सको

सादर समर्पण.

प्रकाशक.

प्राक्कथनम् ।

सिद्धाः साध्यसिद्धिसाधकाः सन्तु । अत्रार्यावर्ते प्राणिप्राणपीडनपरा धर्मेति कृत्वा वलवर्द्धकेतिकृत्वा क्षुत्प्रतीकारक्षमेतिकृत्वा हिंसासु हिंसका अजस्रं प्रासजन्, तासां भूतदयाहेतोः प्रतीकारेण भाव्यमिति मन्वाना जैना महर्षयः सर्वज्ञगवीश्चिरन्तनीः संगृह्य जग्रन्थुः कांश्चिद्ग्रन्थान्, येष्वङ्गोपाङ्गमूलच्छेदादयो भेदा भूयांसः सन्ति यदीयतत्त्वानि ज्ञातुं सप्तनयाः सप्तभङ्ग्यश्चत्वारो निक्षेपा गुणस्थानानि योगमार्गणा समुद्घातादयः परश्शताः पारिभाषिकशब्दा निदानीभावमुपयान्ति, संक्षेपतोऽभिधेयं यद् य एव प्रतिभाशालिन आर्हतायाऽऽगमाय समर्पितजीविनाः, त एवैतदीयं रहस्यमवस्यन्ति, नेतरे पल्लवग्राहिपाण्डित्याः,कार्यतः क्षणं क्षिप्ताक्षाः सहस्राक्षा अपि इत्यत्र नास्ति संशीतिलेशोऽपि । अतश्च सिद्धोयमगाधोऽनघो दुरधिगमो जैनागमपयोनिधिर्निशितशेमुषीकैर्वशीकृतदर्पकैः कैश्चिद्विपश्चिद्भिरन्यदुर्लभमेधामन्थानकेन प्रमथ्य वेद्यः सुधासन्दोहसंनिभाऽभिधेय इति । सोऽयमिदानीन्तनैर्बहुविधः सद्भावाऽभावपिशाचक्रान्तस्वान्तैर्दुराधिगम इति किं वाच्यम् ? चिरन्तनैरवदानावधानधुरीणैर्मुनिपुङ्गवैर्भनकजनकैरपि श्रीशय्यम्भवाचार्यैर्गृहीतमुनिव्रतेन मनकनाम्ना निजतनुजन्मना दुराधिगमागमरहस्यं ग्राहयितुमिदं दशवैकालिकाभिधानस्य सूत्रस्य नूतनं निर्माणमेव सुलभबोधानिदानममानि । वन्धुर्नाम स योऽविज्ञातोऽपि हृदयं वध्नाति, वद्धमपि हृदयं यत्र वलात्प्रह्लादते, अत एव पूर्वसम्बन्धनिवद्धाः सत्पथपथिकं वालं वीक्ष्य दयार्द्रहृदयाः श्रीशय्यम्भवाचार्या द्वादशाङ्गादि श्रीदशवैकालिकनामकं नवप्रव्राजितोपकारकं मूलसूत्रं प्रणीतवन्तः, यद्यपीदं सूत्रं नाङ्गगतं नोपाङ्गाङ्गीकृतम्, अथापि विस्तृतदुरूहपूर्वाद्यङ्गग्रन्थेभ्यः सारतया स्थविरैरुद्धृतमित्यतीव संयमजीवातुभूततया स्तोकप्रज्ञोत्साहवतां मादृशां हितामितिहेतोर्मन्नेत्रमत्रैव प्रथममापातितम्, ज्ञानमूलकतया संयमस्य संयमिभिरागमसेवा हेवाकितया विधेया

इति मनस्याधाय स्वीकृतमिदं कार्यम् । आगमोद्धारनिमित्तं वित्तं तदकिञ्चनैर्दुरधिगममिति मौनमालम्बमानं मां स्वर्गीयो वदान्यः सातारानिवासी श्रेष्ठी श्रीचन्दनमल्लजीमहोदयः पञ्चाशत्सहस्रपरिमिता मुद्रा जैनागमोद्धिधीर्षया वितीर्य व्यापारयामास । श्रेष्ठि-श्रीचन्दनमल्लजी-वितीर्ण-द्रव्यस्य सदुपयोगाऽर्थं श्रीमोतीलालजी-श्रेष्ठिना वर्षतौ साधुदर्शनाय उदयपुरमागतवताऽभ्यर्थितं यत्स्वर्गतश्रेष्ठिनो विशेषमभिलाषमनुलंध्य साम्प्रतं महाराष्ट्रप्रान्तेऽर्द्धमागधीभाषानिवद्धसूत्राणि आंग्लभाषया सह व्यवस्थापकसमित्या पाठ्यरूपेण स्वीकृतानि सन्ति तानि च सौलभ्येन न प्राप्नुवन्ति विद्यार्थिनः, यानि च लभन्ते तेष्वपि भाषाभावतः शुद्धाः सरला व्याख्या नोपलभ्यन्ते, अतः श्रीमतां समीहा चेत्तदा योऽव्ययो भविता, तमहं पितृव्यप्रत्तवित्ताद्विधास्यामीति, श्रीमन्तस्तु शोधयन्तु शास्त्राणि, अर्थसौकर्येऽपि पदवाक्यप्रमाणाद्यल्पज्ञतादिवैषम्यं तदनु रुरोध माम्, किन्तु–

'सत्कार्यं विदधानस्य दयन्ते साधवो भुवि । विधानादेधते प्रज्ञा निष्प्रज्ञस्य प्रसङ्गतः'।

अनेन विधिनाऽल्पप्रज्ञोऽप्यत्यल्पसहायकोऽप्यागमसेवां साधयितुं प्रावर्तिषि । सोऽयं मामकीनः प्रथमः प्रयासः सद्गुणहीनः प्रमादादिदोषपीनः स्यात्, अथापि दोषज्ञा मदीयं सेवाभावं वहुमन्यमानाः स्वीयसमुचितसूचनयाऽपनेष्यन्ति दोषान्, उत्साहयिष्यन्ते च माम्, किमधिकैरभिधेयहीनैरभिधानैरिति विरमामि प्रचुरजल्पनात् ।

निवेदकः

हस्तिमल्लो मुनिः ।

भूमिका—

सुज्ञ पाठक ! आप इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि, संसारमें रहनेवाले सुर, नर, असुर, पशु, पक्षी आदि सभी प्राणी रोग-शोक-वियोग-चिन्ता-रूप अनेक दुःखोंसे पीडित रहते हैं। अच्छेसे अच्छे सर्व साधनसम्पन्न व्यक्ति भी दुःखके समुद्रमें डूबे हुए दिख पडते हैं। अनुभवशीलोंका यह प्रत्यक्ष अनुभव है। इसी लिये सभी प्राणी शान्तिकी खोजमें थोडी अधिक मात्रामें लगे हुए दिखते हैं। शारीरिक व मानसिक दुःखोंसे छुटकारा पाकर वैसी शान्ति पानेके लिये चारित्र-धर्मकी आराधना अपेक्षित होती है। स्वपरका महान् उपकार करनेवाला यह चारित्र–धर्म श्रुतज्ञानके विना अर्थात् धर्मशास्त्र-ज्ञानके विना नहीं हो सकता है, अतः सर्वप्रथम श्रुतज्ञानको प्राप्त करना बहुत आवश्यक है। श्रुतज्ञानकी महिमामें प्रभुने श्रीउत्तरा-ध्ययन सूत्रके २९ वें अध्ययनमें फरमाया है—" जहा सूई ससुत्ता न विणस्सइ, तहा जीवो ससुत्तो संसारे न विणस्सइ " अर्थात् श्रुतज्ञानसम्पन्न आत्मा डोरेमें गूंथी हुई सूईकी तरह संसारमें गिरकर भी नष्ट नहीं होता।

शास्त्रज्ञानकी महिमामें विशेषज्ञोंने बहुत कुछ विचार किया है। उन सब वाक्योंको उद्धृत करनेका स्थान यह नहीं, केवल प्रसङ्गसे कुछ उद्धरण देना योग्य समझता हूँ। आगममें दुःखोंका मूल अज्ञान है ऐसा कहा गया है। जो अनुभवसे भी ठीक दिखता है, एक तरफ अज्ञानीका दुःखानुभव और दूसरी तरफ ज्ञानिओंका दुःखानुभव इन दोनोंमें बहुत अन्तर रहता है। जहाँ अज्ञानी अज्ञानके कारण स्वपरको त्रास देकर छोटेसे दुःखको बहुत बडा अनुभव करता है, वहाँ ही ज्ञानी ज्ञानके कारण दूसरोंकी चिन्ताको दूर करते हुए भयङ्कर दुःखको भी सहज अनुभव करते हैं। यह है ज्ञानकी विशेषता। इस बातको हरएक व्यक्ति अनुभवसे समझ सकता है। हाँ इतना अवश्य ध्यान रहे कि वह ज्ञान सम्यग् ज्ञान हो, न कि मिथ्या ज्ञान। क्यों कि सम्यग् ज्ञानकी उपासनाही आत्माको शान्ति दे सकती है।

देखी हुई चीज यदि देशसे या कालसे दूरमें भी होगी तो अनुमान आदि उनका निर्णय दिला सकते हैं। लेकिन कभी न देखी या सुनी आत्मा, परलोक, बन्ध, मोक्ष आदि वस्तुके विषयमें सम्पूर्ण निर्णय देनेके लिये तो एकमात्र साधन आगमही है। इसी लिये नीतिकारोंने कहा है कि–" सर्वस्य लोचनं शास्त्रम् ", शास्त्रही सब की आंख है। यह शास्त्रही ज्ञान-

दर्शन-चारित्र-रूप रत्नत्रयकी आराधनासे आत्माको सुगतिगामी बनाता है। और अन्तमें सब दुःखोंसे मुक्त करता है। हित,
अहित, कर्तव्य, अकर्तव्य आदिका बोध कराके आगम इस लोकमें मनुष्यको शिष्ट, संयत व शान्त बनाता है। यदि मनुष्य-
का सञ्चित कर्म प्रतिकूल न हो तो, इसी प्रकार ज्ञानद्वारा परम्परासे मुक्तिरूप परमलाभ मिलता है। अन्तःकरणकी विशुद्धिका तो
यह प्रधान साधनही है। जैसे कहा भी है—

> " मलिनस्य यथाऽत्यन्तं जलं वस्त्रस्य शोधनम्।
> अन्तःकरणरत्नस्य, तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः ॥

अर्थात् मलिन वस्त्रोंको निर्मल बनानेमें जैसे जल साधन हैं। वैसेही अन्तःकरणरूप रत्नको शुद्ध करनेवाला शास्त्र
है, ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं। शास्त्रकी महिमा दिखानेवाले इन वाक्योंकी सच्चाई इसीसे सिद्ध होती है कि " वीतरागोऽ-
नृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात् "– रागद्वेषोंसे रहित होनेसे वीतराग मृषा (झूंठ) नहीं कह सकते हैं।

आगम याने क्या ?—

'आप्तवचनमागमः' अर्थात् आप्तोंका वचन आगम है और आप्त उन पुरुषोंको कहते हैं जो रागद्वेष आदि विकारी
भावोंसे दूर हैं। तथा श्रुत ज्ञानकी विशेषतासे स्वच्छ हृदयवाले व चौदह पूर्वोंसे दश पूर्वांतकके ज्ञानोंको रखनेवाले भी आप्तों-
के समानही माननीय हैं। इसी लिये नन्दीसूत्रमें इनके वचनोंको सम्यक् श्रुत कहा है। यह कैसे मालुम हो कि ये वचन आप्तों-
के होनेसे मानने चाहिए ? इसके लिये शास्त्रमें परीक्षा बताई है—

> " जं सुच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं " उ. अ. ३ गा. ८

अर्थात् जिस वचनको सुनकर श्रोता तप, शान्ति व शुद्ध अहिंसाको स्वीकार करें, उसको आप्त वचन समझना
चाहिए। ऐसे गुण जिन अन्य ग्रन्थोंमें या ग्रन्थोंके एक भागमें हों वे ग्रन्थ अथवा ग्रन्थका एक भाग भी आप्तवचनोंके समान

---

१. आप्तलक्षणं यथा—" कात्स्न्र्येन ज्ञातसकलतत्त्वो रागद्वेषादिनाऽपि नाऽन्यथावादी यः स आप्त इति चरके पतञ्जलिः।"

माननीय है। क्यों कि उन ग्रन्थोंमें जो कहीं युक्तिसंगत और प्रमाणयुक्त भाग मिलता है, वह भी आप्त वाक्योंसे संगृहीत है, कारण यह कि अतीन्द्रिय विषयोंको निश्चयपूर्वक पूर्ण जानकर कहना यह साधारण पुरुषोंकी शक्तिसे बाहर है। इसी लिये पण्डितेन्द्र हेमचन्द्राचार्यने अपने स्तुति-काव्यमें कहा है—

"सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसम्पदः।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः॥

रागद्वेषको समूल नष्ट कर पूर्णज्ञानी ऐसे महापुरुषोंसे उक्त होनेके कारणसे आगम स्वयं प्रमाण है, इसकी प्रामाणिकतामें अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है क्यों कि दीपककी तरह आगम स्वयंप्रकाशित है। यही मनुष्य जीवनकी सफलताकी कुञ्जी है।

शास्त्रोंमें विशेषतासे उपाङ्ग आदि संज्ञासे आगमोंका विभाग नहीं दिखता, हाँ श्रीनन्दीसूत्रमें श्रुतज्ञानका विचार करते हुए अङ्गप्रविष्ट और अनङ्गप्रविष्ट अर्थात् अङ्गबाह्य ये दो प्रकार मिलते हैं जिसमें आचाराङ्ग आदि द्वादश अङ्गोंको अङ्गप्रविष्ट कहा हैं, तथा अङ्गबाह्यमें आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त ऐसे दो विभाग किए हैं फिर आवश्यक व्यतिरिक्तमें कालिक व उत्कालिक रूप दो भेद करके शास्त्रोंके नाम भी कह दिए हैं, किन्तु मूल आदि संज्ञाओंका निर्देश नहीं मिलता, इस लिये ये उपाङ्ग, मूल व छेद आदि संज्ञायें नवीन रक्खी गई मालुम होती हैं, तथापि ये संज्ञायें हैं सार्थक व प्रामाणिक।

वर्तमान समयमें पूर्ण माननीय आगम ३२ हैं, जो अङ्ग, उपाङ्ग, मूल, छेद तथा आवश्यक नामसे प्रसिद्ध हैं, उनका नामसे परिचय निम्नलिखित है—

आत्मसाधनका प्रधान अङ्ग होनेसे और इनमें तीर्थङ्करोंके कहे हुए भाव होनेसे आचाराङ्ग आदि ११ अङ्ग ह, वैसेही अङ्गशास्त्रसे सम्बन्धित व अङ्गगत भावोंका विस्तार करनेवाले शास्त्र उपाङ्ग कहे जाते हैं—

११ अङ्गोंके नाम	१२ उपाङ्गोंके नाम
१ आचाराङ्ग	१ उववाइ (औपपातिक)
२ सूत्रकृताङ्ग	२ रायपसेणिअ
३ स्थानाङ्ग	३ जीवाभिगम
४ समवायाङ्ग	४ पण्णवणा
५ भगवती	५ जंबूदीवपण्णात्ति
६ ज्ञाताधर्मकथा	६ चंदपण्णात्ति
७ उपासकदशाङ्ग	७ सूरपण्णत्ति
८ अन्तकृद्दशाङ्ग	८ काप्पिया
९ अनुत्तरौपपातिक	९ कप्पवडंसिया
१० प्रश्नव्याकरण	१० पुष्फिया
११ विपाक	११ पुप्फचूलिया
	१२ वण्हिदसा

उपरोक्त ११ अङ्गसूत्रोंसे सम्बन्धित १२ उपाङ्ग तथा ४ मूल और ४ छेद व आवश्यक इस प्रकार कुल ३२ आगम होते हैं, जो कि मूर्तिपूजक तथा साधुमार्गीय इन दोनों सम्प्रदायोंको मूलरूपसे मान्य हैं, इनके सिवाय चतुश्शरण आदि दश प्रकीर्णक और मूल व छेदोंमें दो दो संख्या बढाकर श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय ४५ आगम मानती है। किन्तु अभिधानराजेन्द्र–कोशके प्रथम भागकी प्रस्तावनामें 'वीरत्थव-पइण्णा १, इसिभासियसुत्त २, सिद्धिपाहुडसुत्त ३, दीव-सागरपण्णत्ति ४, अंगविज्जा-पइण्णा ५, ज्योतिष्करण्डक ६, गच्छाचार-पइण्णा ७, अंगचूलिया ८, इन आठोंके नाम प्रकीर्णकमें बढाकर लिख दिये हैं, उपरोक्त मूल छेद और प्रकीर्णकमें की हुई संख्यावृद्धिसे ४५ संख्या नियत किस तरह रह सकेगी यह विचारणीय है, अस्तु।

साधुमार्गीय सम्प्रदायमें ३२ ही आगम शास्त्ररूपसे माननीय हैं, यद्यपि नन्दीसूत्रमें प्रकीर्णक आदिमें आए हुए कुछ नाम अधिक दिए गए हैं, तथापि उन नामवाले ग्रन्थोंमें पूर्वापरविरोधी और जिनवाणीके बाधक ऐसे वर्णनोंके होनेसे उनकी मौलिक स्थिति विशुद्ध नहीं रही इसलिये वे सम्पूर्ण माननीय नहीं हैं, अलबत्ताँ उनमें भी जो अंश आगमोंके पोषक या अबाधक हैं ऐसे अंश तो जैन व जैनेतर किसी भी ग्रन्थके मान्य हैं, उन अंशोंको छोडकर अन्य अक्षरशः सम्पूर्ण वेही आगम मान्य हैं जो न्यायोंसे व युक्तिओंसे परिपूर्ण जिनवाणीरूप हैं।

जैनागमके विषयमें स्पष्टीकरण—

आगममें अङ्गादि भेदोंपर कुछ विचार करना यहाँ अवसरप्राप्त है, कालका आकलन कहें या पुद्गलोंका परावर्तन किन्तु यह हरएक वस्तुओंमें स्थूल-सूक्ष्मरूपसे जरूर होता है, इस परिवर्तनका आगममें भी कुछ प्रवेश हुआ यह दुःखके साथ मानना पडता है, आगममें अङ्ग—उपाङ्ग—मूल—छेद—रूप विभाग हैं इस बातको हम पहले लिख चुके हैं। यहाँ पर पाठकोंको संक्षिप्त परिचय कराना उचित समझते हैं, यद्यपि श्रुतग्रन्थोंके विभाग करते हुए शास्त्रकारोंने अङ्ग-प्रविष्ट और अङ्गबाह्य इन दो संज्ञाओंसेही विभाग किये हैं और आचार्य श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणके समय वीरनिर्वाण संवत् ९५० तक यही परम्परा चलती रही। नन्दीमें सूत्रोंकी संज्ञा और दिए हुए सूत्रोंके नामोंसे ऐसा निर्णय होता है, तथापि इन श्रुतोंकी सत्ता तो उस समयमें भी मान्य थी, इससे आगमग्रन्थोंकी प्राचीनतामें तो कोई शङ्का नहीं रहती, अब रही अङ्गादि संज्ञासे आगमोंके विभागोंकी बात, सो वीरं नि० संवत् ९५० के बाद आचार्योंने श्रुतोंकी रचना स्थिर रखनेके लिये ११ अङ्गोंकी रचनासे सम्बन्धित तथा निकटवर्ती होनेसे उववाइ आदि बारह शास्त्रोंकी उपाङ्ग संज्ञा रक्खी है, इससे सिद्ध होता है कि उपाङ्गोंमें अङ्गोंके आधारसे ही वर्णन होना चाहिए, किन्तु बाधित नहीं, यह परीक्षाका साधनभी भविष्यकालके श्रुताराधकोंके लिए रख छोडा, जो भी इन उपाङ्गोंमें कई जगह परिवर्तन होना पाया जाता है, फिरभी अङ्गशास्त्रोंसे अधिक विरोध दृष्टिगोचर नहीं होता है, आचार्योंने केवल उपाङ्गादि संज्ञासे विभागही नहीं किया बल्कि शास्त्रोंके श्लोकोंकी गणना और अक्षरोंकी गणना तकभी की है, जैनागमोंके सिवाय यह शैली प्रायः अन्यत्र नहीं दिख पडती है, मौलिकताको सुरक्षित रखने के लिये आचार्योंकी दूरदर्शितासे परिपूर्ण यह अन्तिम उपाय तो है ही, इसके साथही इससे

यहभी साबित होता है कि उस समयतक शास्त्रोंमें परिवर्तन प्रारम्भ हो गया था, अथवा भविष्यमें पाठ-प्रक्षेप होनेकी आशङ्का हो चुकी थी, इसीलिये श्लोकगणना व अक्षरगणनातक की गई, आगममें पाठ प्रक्षेपकी सूचना टीकाकारनेभी दी है। वे जहाँ तहाँ लिखते हैं कि "अत्र बहवो वाचनाभेदा दृश्यन्ते।"

श्री दशवैकालिक सूत्रका स्थान—

श्री दशवैकालिक सूत्रका स्थान 'मूल' संज्ञक आगममें आता है, वस्तुतः चतुर्दशपूर्वधारी श्री शय्यम्भवाचार्यने दश अध्ययनरूप इस सूत्रका उद्धरण कर नवदीक्षित साधुसाध्वींके लिये तो साधु मार्गका मूल निचोर ही रख दिया है, इसके उपदेशानुसार प्रवृत्ति करनेवाले साधु सहजमें आत्मकल्याण कर सकते हैं, इसी लियेआचाराङ्ग जैसे मुनिधर्मको दिखानेवाले अङ्गसूत्रके होते हुए भी सरलता व सुबोधकतासे इसका प्रचार बढा हुआ मिलेगा। श्वे. समाजके हरएक संघमें इसके पठन पाठनका प्रेम मिलता है, अतएव इस सूत्रका प्रकाशन भी अन्य सूत्रोंकी अपेक्षा अधिक दिख पडता है इससे पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

'मूलसूत्र' याने क्या ?—

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, व तप ये चार आत्माके मूल गुण हैं, इनके नाम, स्वरूप व परिणाम बताकर जो मूल गुणोंका पोषण करते हों वे शास्त्रभी मूल कहाते हैं। जैसे—नन्दीसूत्रमें ज्ञानके स्वरूप आदिका पूर्ण विवेचन है, इसलिये यह ज्ञानगुणका प्रकाशक है १।

अनुयोगद्वारसूत्रमें आनुपूर्वी नयनिक्षेपका वर्णन है और वस्तुके यथार्थ स्वरूपको समझने समझानेमें प्रधान कारण है, सापेक्ष वस्तुस्वरूपको समझना सम्यग्दर्शन होनेसे उपरोक्त सूत्र उसका पोषक बनता है २।

दशवैकालिक सूत्र सर्वविरतिरूप चारित्रधर्मका प्रारम्भिक पूर्ण वर्णन करनेवाला है, इसको सभी जानते हैं, अतः यह चारित्रधर्मका विकाशक है ३।

उत्तराध्ययन सूत्र विनयरूप आभ्यन्तर तपसे प्रारम्भ कर तपमार्ग इस नामसे ३० वे अध्ययनमें पूर्ण तपका वर्णन करते हुए अन्तिम अध्ययनमें भी संलेखनारूप तपका वर्णन करता है। इस प्रकार तपके वर्णनकी प्रधानतासे यह तपोगुणका प्रबल प्रचारक है ४।

इससे इन चार सूत्रोंकी मूलसंज्ञा परंपरासे प्रचलित-और युक्तिसंगत दिखती है, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदायने संख्यासे मूलसूत्र चार मानकर भी 'आवश्यक १ दशवैकालिक २ पिण्डनिर्युक्ति ३ ओघनिर्युक्ति ४ उत्तराध्ययन ५ ऐसे पांच गिनाये हैं, पूर्वोक्त मूल संज्ञाका हेतु इनमें संगत नहीं होता है, उन्होंने नन्दी और अनुयोगद्वारको चूलिका-सूत्रमें माने हैं, देखो अभिधानराजेन्द्र कोश प्रथम भाग, इस गणनासे न्यूनाधिक साफ समझा जाता है।

श्री दशवैकालिक सूत्रके रचयिता व रचनाकाल —

श्री प्रभवस्वामीके पट्टधर आचार्य श्री शय्यम्भव स्वामी इस सूत्रके उद्धारक व कर्ता हैं। इनके सम्बन्धमें प्राचीन वृत्तिमें ऐसा उल्लेख मिलता है—प्रभवस्वामीको अपने उत्तराधिकारीके लिये अर्थात् भावी आचार्यके लिये उपयोग लगाना पडा। उन्होने ज्ञानातिशयसे उपयोगमें देखा कि राजगृहीनिवासी प्रसिद्ध विद्वान् श्री शय्यम्भव भट्ट हमारा उत्तराधिकारी बनेगा। तदनुसार आपने अपने शिष्योंको शय्यम्भव भट्टके घर पर भेजा, और कहा कि यह शय्यम्भव भट्ट एक बडा यज्ञ कर रहा है, जिसमें कि वैदिक ब्राह्मणोंकाही प्रधानतासे सन्मान किया जाता है, तुम्हे चाहे वहां सन्मान नही मिलेगा, फिर भी तुम वहां जाकर शय्यम्भव भट्टको सुनाकर कहना कि "तत्त्वं तु न ज्ञातम्" ऐसा कहकर चला आना, साधुओंने आचार्यश्रीके सङ्केतानुसार जाकर सुनाथा, शय्यम्भव भट्ट भी द्वारपर खडा था, उसने एक शान्तदान्त मुनिके मुखसे यह सुना कि 'तत्त्वं न ज्ञातम्'। उसी वक्त सोचने लगा कि ये साधु असत्य नहीं बोलते हैं। तो क्या मैं तत्त्व नहीं समझता हूँ ? मुझे चाहिए कि तत्त्वकी खोज करूं। इस तरह सोचता हुआ आचार्य श्री प्रभवस्वामीके पास पहुंचा। विनयपूर्वक प्रार्थना की कि महाराज ! कृपा कर मुझे धर्म सुनाओ, आचार्यश्रीने योग्य श्रोताको उपस्थित देखकर श्रुत चारित्र भेदसे धर्मका स्वरूप फरमाया, हृदयस्पर्शी उपदेशको सुनकर श्री शय्यम्भवजीने यज्ञसामग्री याजक तथा पण्डितोंको देकर आचार्यश्रीके पास स्वयं मुनिदीक्षा ले ली। श्री प्रभवाचार्यके स्वर्गवासी होनेपर, वीर निर्वाण ७५ में यह श्री शय्यम्भवाचार्य बने, येही प्रस्तुत ग्रन्थके निर्माता है।

इस सूत्रकी रचनाका काल वी० नि० ७८ के बाद श्री यशोभद्रके समकालिकही होना चाहिए।

रचना का कारण—

प्रस्तुत शास्त्रकी रचनामें जनहितकारी श्री मनकमुनिही कारणीभूत हैं। इस बातको निर्युक्तिकारने—" मणगं पडुच्च सिज्जंभवेण निज्जूहिया दसज्झयणा " इस प्रकार कहा है। इस बातको स्पष्ट समझनेके लिये संक्षिप्त इतिहास ऐसा है। जिस समय शय्यम्भवभट्टने दीक्षा ली, उस समय उनकी धर्मपत्नी गर्भवती थी। ज्ञातिके लोगोंने उससे पूछा कि क्या तेरे गर्भमें कुछ है? इस पर उसने कहा, 'मणगं' जिसका अर्थ हुआ मनाक् अर्थात् थोडा किंचित्। समय पाकर बालकका जन्म हुआ। कुटुम्बिओंने माताके उत्तरके अनुसार उस बालकका नाम मनक ऐसाही रक्खा। कुछ बडा होनेपर बालकने अपनी मातासे पूछा कि मेरा पिता कौन है और वह कहाँ है? माताने अपने पतिकी घटित घटना कह सुनाई, उसी वक्त वह मनक बालक अपने पिताकी खोजमें चल पडा। आचार्यश्री शय्यम्भव उस समय चम्पा नगरीमें विचरते थे। वह बालक भी किसी तरह वहाँ जा पहुंचा। स्थण्डिल जाते हुए शय्यम्भवस्वामीसे मनककी भेट हुई, जन्मजात धार्मिक संस्कारसे बालकने भक्तिसहित वन्दना की, उसकी भक्ति देख आचार्यने उसका परिचय पूछा। बालकके उत्तरसे ज्ञात हुआ कि यह बालक राजगृहीका वासी शय्यम्भवभट्टका पुत्र है और अपने पिताको खोजता हुआ यहाँतक आया है। और खुद भी दीक्षा लेना चाहता है। इस पर आचार्यने अपना परिचय दिया। बालकने भी शीघ्रही दीक्षा ली। इस आचिन्तित धार्मिक घटनासे आचार्यको सन्तोष हुआ। एक दिन प्रथम पुत्र फिर शिष्य ऐसे मनकमुनिकी आयुके विषयमें आचार्यश्रीने उपयोग लगाया। सिर्फ छह मासकी उसकी आयु ज्ञात हुई। इतनी थोडी आयुमें मनकमुनि अपना आत्मकल्याण कर सकें इस लिये साररूप शिक्षणकी आवश्यकता थी। ऐसा आनिवार्य कारण होने पर पूर्वधारी मुनि पूर्वोंका सार उद्धृत कर सकते हैं तदनुसार मुझेभी वैसा करना आवश्यक है, ऐसा सोचकर 'ननु करुणा मृदु मानसं मुनीनाम्' इस वचनके अनुसार श्री शय्यम्भवाचार्यने पूर्वोंसे दश अध्ययनात्मक दशवैकालिक सूत्रका उद्धरण किया। इस प्रकार दशवैकालिककी रचनामें मनकमुनिकी आत्मसाधनाही प्रधान कारण है।

दशवैकालिकनामकी सार्थकता—

श्री शय्यम्भवाचार्यने पूर्वोंसे अथवा द्वादशाङ्गीसे दश अध्ययनोंका उद्धरण विकालमें अर्थात् दिनके अन्तिम कुछही भाग शेष रहनेपर पूर्ण किया, इसलिये ' वैकालिकं च तद् दशाध्ययननिर्माणञ्चेति दशवैकालिकम् ' अर्थात् विकालमें उद्धृत किये गए दश अध्ययनको दशवैकालिक कहते हैं।

दशवैकालिकका उत्पत्तिस्थान—

कर्मप्रवादपूर्वसे पांचवाँ पिण्डैषणा अध्ययन, आत्मप्रवादपूर्वसे छट्ठा धर्मप्रज्ञप्ति अध्ययन, सत्यप्रवादपूर्वसे वाक्यशुद्धि नामका सातवाँ अध्ययन, बांकीके सात अध्ययन नवमपूर्वकी तृतीयवस्तुसे उद्धृत कर लिखे गये हैं। दूसरे पक्षमें द्वादशाङ्गीसे उद्धृत होना बताया गया है, तदनुसार अधिकांशमें तो कई प्रकरणोंका भाव व भाषा इन दोनों दृष्टिसे आचाराङ्ग आदि अङ्गशास्त्रोंसेही साम्य मिलता है, जैसे—आचाराङ्ग और दशवैकालिकका पिण्डेषणाध्ययन। इसीप्रकार वाक्यशुद्धि और भाषाध्ययनकी भी भावसे समता है। विशेष पंजाबी मुनि उपाध्यायजी श्री आत्मारामजी माहाराजने अपनी दशवैकालिक सूत्रकी भूमिकामें विशद विचार किया है। जिज्ञासुओंके लिये पठनीय है, हम यहाँ सबका उल्लेख नहीं करके श्री आत्मारामजी महाराज-लिखित दशवैकालिक सूत्रकी भूमिका देखनेके लिये संकेत करते हैं।

दशवैकालिककी रचनाशैली व पुनरुक्तिका आभास—

आगमोंमें अधिकतासे गुरु-शिष्य-संवाद-रूपसे वर्णन मिलता है, जो कि साधारण पाठकोंको विशेष रुचिकर होता है। कई स्थानोंमें एकही बातको समझानेके लिये अनेक उदाहरण और पर्यायवाची शब्द देकर भी शिष्यको विशेष बोध करानेका व सरलतासे समझानेका प्रयत्न किया हुआ मिलता है, विषयको स्थिर करनेके लिये उपक्रम उपसंहारमें विषयका पुनरावर्तन होता है; इसी प्रकार दशवैकालिक सूत्रमें ' सुअं मे ' आदि पदोंसे प्रश्नोत्तरकी पद्धति मिलती है। प्रथम अध्ययनमें जिस अहिंसा संयम तपको धर्म कहा है, उन्हीं अहिंसा संयम तपका नवम अध्ययनतकमें विशद वर्णन किया गया है। पुनरुक्तिका हेतु—" चतुर्थ अध्ययनमें अहिंसा आदिके निषेधपूर्वक पांच महाव्रतोंकी प्रतिज्ञा व उपदेश है, इन्ही छह कायोंकी हिंसा व मृषा, अदत्त, अब्रह्म, परिग्रह, रात्रिभोजनरूप पापसमूहको दोषरूपसे छट्ठे अध्ययनमें लिये हैं, इस लिये सदोष होनेसे

ये त्याज्य हैं " यह हेतु बताया, आठवेमें आचार-प्रणिधिका वर्णन करते हुए जिस लिये छह काय जीवोंकी हिंसा और मैथुन आदि सदोष हैं अतएव त्याज्य हैं इस प्रकार उपनय किया गया है, दशम अध्ययनमें निगमनसे इन्हीं बातोंको कह-कर यह बताया है कि पूर्वोक्त अध्ययनोंके अनुसार प्रवृत्ति रखनेवालाही भिक्षु है। इस तरह एकही विषय ३।४ वार लिखा जाकर भी सहेतुक है, अतएव यह पुनरुक्ति सदोष नहीं कही जा सकती।

संशोधनके विषयमें हमारी शैली—

संशोधन कार्यमें हमने भांडारकर-प्राच्य-विद्या-संशोधन-मन्दिर पूनाकी अवचूरिसहित मूल पुस्तककी हस्तलिखित (संवत् १५१५ श्रावण सुदि ७ चन्द्रदिन) इतनी पुराणी प्रतिसे अवचूरि टीका उतारी और सिर्फ अवचूरिकी तीन प्रतियोंसे मिला-कर पाठसंशोधन किया, साथही मूल तथा टीका संशोधनमें हस्तलिखित तथा समितिमुद्रित तथा अन्य मुद्रित प्रतियोंसे सहायता ली। पहले जो मूल संशोधन किया उसमें जहाँ तहाँ प्रामाणिक पाठभेदोंको टिप्पणमें स्थान दिया। किन्तु बादमें उन पाठभे-दोंसे विशेष लाभ न देखकर उन्हें छोड दिया, छायामें वृत्ति और मूलके भावोंको दृष्टिमें रखकर अधिकतर मूलानुगामिनी पद्धतिसेही काम लिया है, मूलमें एकदम अवशिष्ट या पाठान्तरको ( ) ऐसे कोष्ठकमें रक्खा है, अवचूरिमें मौलिक अशुद्धि-ओंको रखकर उसके आगे कोष्ठकमें शुद्धरूप दिया हैं, उद्धरण या प्राकृत कथाको " " इस चिह्नके भीतर लिया है, व्याकरणके नियम आदिको [ ] इस चिह्नके भीतर लिया है, बहुतसे पाठभेदोंको न देकर केवल शुद्ध और वृत्ति आदिसे बहुमत पाठान्तरोंको ही रक्खा है, शिवाय इसके प्राकृत अर्द्धमागधीके वैकल्पिकरूपोंके पाठोंको जैसे—चार्थमें अ, य, सोगमल्ल—सोगुमल्ल, आविअइ-आवियइ, गाच्छिज्जा, गाच्छिज्ज, गच्छेज्ज, हुज्ज, होज्ज इत्यादि पाठान्तररूपसे नहीं दिया है, क्यों कि इस प्रकार पाठान्तरोंके बढजानेसे मूलका निर्णयही कठिन हो जाता। रही भाषाकी दृष्टिकी बात सो प्रायः आगमोंमें प्राकृत मागधी आदि भाषाओंके प्रयोग मिले हुए ही दिखते हैं इसलिये उनका पृथक्करण नहीं करके जो अधिक प्राचीन प्रतिमें पाठ मिला वहीं पाठ अधिकतासे रक्खा है। जो गाथायें वृत्तिमें व्याख्यात नहीं हैं, उन गाथाओंपर सूचना दे दी गई है।

संशोधनमें हमारी प्रवृत्तिका कारण—

अपनी स्वाभाविक व विशाल देवगुरुधर्मसम्बन्धी भक्तिसे प्रेरित होकर सातारानिवासी शेठ श्रीमान् चन्दनमलजी

साहब मूथा सं. १९९२ के चातुर्मासमें साधुदर्शनार्थ पाली पधारे । वहाँ आगमोद्धार आदिके विषयमें चर्चा चली। पूज्यश्रीने फरमाया कि अन्य २ समाजोंमें सेवाभावी व धर्मके लिये तन, धन अर्पण करनेवाले व्यक्ति मिलते हैं। किन्तु इस साधुमार्गीय समाजमें रातदिन त्यागके उपदेशोंको सुनते हुए भी ऐसे व्यक्ति थोडे मिलेंगे जो धर्मके लिये आत्मभोग देनेको तैयार हों, आपने वर्षोंसे मुनिओंके ज्ञानध्यानमें सहयोग दिया है और देते आरहे हैं, अब विशेषमें आपसे हमारा यह कहना है कि आप समाजके लिये कोई आदर्श कार्य कर जाइए, इसमें आपकी अखण्डकीर्ति बनी रहेगी, और धर्म व समाजकी शोभा होगी। किसी भी कार्यको करनेके लिये आज साधनोंकी कमी नहीं है। केवल उनसे लाभ लेनेवालोंकी जरूरत है। मैं तो साधु हूँ और आपकी उदारतासे साक्षर समझा जाता हूँ। साधु नियमोंके अनुकूल यदि कुछ सेवाका लाभ मिलेगा, तो अपने जीवनमें आंशिक सफलता समझूंगा। श्रुत-सेवा जो परम पवित्र है, संघोंका उपकार जो पूर्ण उच्च व प्रथम कर्तव्य है, इन सब साध्योंकी सिद्धि एक ज्ञानप्रचारसे हो सकती है। लेकिन जो सब कार्योंका निमित्त है उस वित्तकी इसमें भी आवश्यकता पडेगी। ऐसा फरमाकर पूज्यश्री चुप हो गए। शेठजीने भी उस समयमें कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया, केवल उपदेशके बीजको हृदयमें रखकर वहाँसे प्रयाण किया। फिर अजमेर चातुर्मासमें दर्शनार्थ आकर शेठजीने सातारा फरसनेकी विनन्ती इन शब्दोंमें की—"हमारी शक्ति रही वहाँतक मैंने दर्शन किया। अब सातारा पधारकर दर्शन दिलावें तो फिर दर्शनका लाभ हमको मिल सकता है नहीं तो हमारा यह दर्शनका लाभ आखीरका है।"

शेठजीकी बात सच्ची हुई, सं. १९९३ के ज्ये० मासमें शेठजीका स्वर्गवास होगया। स्वर्गवासके समयमें आपने अपने एकमात्र उत्तराधिकारी विनीत उदार व आज्ञाधारी रायबहादूर शेठ श्री० मोतीलालजी साहबको आगमोद्धारके बाबत रु. पचासहजार सद्विचारके अनुसार व्यय करनेको कहा। स्व० शेठसाहबकी आज्ञाका पालन करना अपना मुख्य फर्ज समझकर रा० ब० शेठ मोतीलालजी साहबने उस शुभ आज्ञाको कार्यरूपमें शीघ्रही लाना चाहा। योगानुयोगसे इसी वर्षमें मैंने अर्धमागधी भाषा लेकर चान्सलर–पदकके साथ एम्. ए. परीक्षा पास की। रायबहादुर साहबने मुझे शास्त्रोद्धारके कार्यमें नियत किया। १९९५ कार्तिक दीपावलीसे मूलका संशोधन कर लिखना आरम्भ किया गया। पूनाके भाण्डारकर इन्स्टिट्यूटमें जैनागमका पर्याप्त संग्रह है। प्रत्येक आगमकी प्राचीनसे प्राचीन प्रतियाँ वहाँ मौजूद हैं। इस मूल संशोधनमें उसीको आधारस्तम्भ बनाकर शुद्ध व प्राचीन कुछ चुनी

हुई प्रतियाँ वहाँसे ली गई। पाठभेदोंकी तो कभी कमी नहीं थी। यदि केवल शुद्ध पाठ व उनके पाठान्तरोंकोही देते तो भी पुस्तकका बहुतसा कलेवर बढ जाता। इसलिये यह निश्चय हुआ कि वृत्ति व निर्युक्तिसे सिद्ध सिर्फ एकही पाठ रखना चाहिए। मूलका अर्थ संस्कृत भाषाके विद्वानोंके लिये संस्कृत टीकाके सहारेसे विशेष सुलभ तथा रोचक होगा। इस लिये टीकामें संक्षिप्त तथा सारगर्भित अर्थयुक्त होनेसे प्राचीन अवचूरि टीका पसन्द पडी। भाण्डारकर इन्स्टिटच्यूटमें इस अवचूरिकी बहुत प्राचीन प्रति मिली। अतिसूक्ष्म अक्षरोंमें होनेसे यह प्रति कुछ भ्रमात्मक और कुछ अशुद्धभी थी। इसलिये इस प्रतिकी प्रतिलिपि करनी अत्यन्त आवश्यक जची। इसमें श्रमभी अधिक पडा। अर्थके लिये मुख्यतया आगमोदय-समिति प्रकाशित प्रतिही सामनेमें रक्खी गई है। दुःखसे कहना पडता है कि समिति-सम्पादित प्रतिभी सर्वथा शुद्ध नहीं निकली।

किसीभी नवीन कार्यके प्रारम्भमें विचाराचारसे कालक्षेप होताही है। तदनुसार इस दशवैकालिकके संशोधन-प्रकाशनमें कार्यकी दृष्टिसे वर्षभरका काल लम्बाही कहा जायगा। इस अवधिमें इस सूत्रका मूलसंशोधन, छायालेखन, अवचूरिकी प्रतिलिपि, उसका श्रीहरिभद्रकी वृत्तिसे पुनः संशोधन, हिन्दी सौभाग्यचन्द्रिका-टीकालेखन इतने कामोंको साताराके चातुर्मासके समयको छोडकर बहुत कुछ शेषकालके विहारमेंही किया गया। सातारा चातुर्मासमें मूल, छाया, अवचूरि, हिन्दी-टीका आदिका पुनः पुनः संशोधन करना, प्रेस कॉपी बनाना, ३ अध्य० तककी कॉपी भेजकर सम्मति मंगवाना, मुद्रणके लिये प्रेसको खोजना इत्यादि ठीक करते कराते आखिर ता. २४।९।३९ में आर्यभूषण प्रेस पूनाको एक मासमें छापदेनेके लिये यह मुद्रणकार्य दिया गया। प्रेसकी तरफसे यह पुस्तक छापकर अवधिपर अवश्य मिलजाती किन्तु जिन मान्य मुनियोंकी सम्मतियाँ मंगवाई गई, उन्होंने लिखवाया कि अनुवादकी हिन्दी अच्छी नहीं है। इस सूचनाके अनुसार निश्चय हुआ कि पहला अनुवाद बदल दिया जाय। वैसाही किया गया। इस उलट फेरमें जो धांधली मची उसको सम्हालना काबूसे बाहर होगया। फिरभी अपनी प्रतिभा एवं परिश्रम सावधानीकी कसौटीपर कसनेमें कसर नहीं रक्खा गया है। तोभी जैनागमकी गम्भीरतासे व आधुनिक जनोंकी अल्पज्ञतासे और आगम-संशोधन-कार्यमें यही प्रथम प्रयत्न होनेसे त्रुटि रहजाना अधिक सम्भव है। इसलिये आगमरसिक विद्वानोंसे नम्र निवेदन है कि वे त्रुटियोंकी सूचना देकर हमें सावधान करेंगे तो हम आगे अधिक उत्साहसे आगमसेवा कर सकेंगे। इत्यलम्—

प्रार्थी—सम्पादक।

सम्पादक और प्रकाशककी ओरसे दो शब्द

आज परम हर्षकी बात है कि हम आप लोगोंके समक्ष श्रीदशवैकालिकसूत्र छाया अवचूरि व हिन्दी अनुवादके साथ रख रहे हैं। प्रस्तुत संशोधनके विषयमें बहुत कुछ भूमिकामेंही लिखा जा चुका है। विशेष आगमोदय-समिति-प्रकाशित व रायधनपतिसिंह बहादुरकी ओरसे प्रकाशित दशवैकालिकसूत्रके चतुर्थ अध्ययनमें पञ्चमहाव्रतके प्रतिज्ञापाठोंमें 'पाणे अइवाएज्ज' इत्यादि तीन पाठोंमें तीसरे पाठका 'समणुजाणामि' ऐसा वर्तमानकालमें प्रयोग किया है, किन्तु प्रस्तुत दशवैकालिककी प्रतिमें तीनों पाठोंका विधिमेंही प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह कि इन तीनों पाठोंका अर्थ करते हुए टीकाकारने 'तिङां तिङो भवन्ति' इस व्याकरणके नियमसे वर्तमानके अर्थमें विधिप्रयोग माना है। इसलिये प्राचीन तथा छान्दसरूपका परिवर्तन नहीं किया गया है।

संशोधनमें 'विवीदन' जैसे असाधु शब्दोंका परिवर्तन अनुशासनकी दृष्टिसे कर दिया गया है, इसी प्रकार कई स्थलोंमें आत्मनेपद परस्मैपदका भी परिवर्तन किया गया है। कई स्थल दृष्टिदोषसे छूट भी गए हैं।

समयकी कमी होनेसे ग्रन्थान्तरोंके उद्धृत प्रमाणोंका स्थलनिर्देश नहीं किया जासका, तथा दशवैकालिकसूत्रमें प्रतिपादित विषयोंकी चर्चा आचाराङ्गादि सूत्रोंमें किस प्रकार की गई है उसका तुलनात्मक विचार व सूत्रमें कहे गए ऐतिहासिक व्यक्ति व स्थानोंका परिचय आदि उपयोगी विषयोंपर परिशिष्ट नहीं दे सके हैं। ऐसेही शास्त्रकी मौलिकता समझनेमें प्रबल व प्रशस्त साधन श्लोकसंख्याके परिमाणको भी मिलानेकी आवश्यकता थी किन्तु समयाभावसे ये सब नहीं दे सके हैं।

॥ १ ॥

सम्मतिदाताओंके प्रति कृतज्ञता—

प्रस्तुत सूत्रके मुद्रणसे पूर्व तीन अध्ययनतक संशोधित कॉपी भेजकर पांच स्थानोंसे सम्मति लीगई, उन सम्मतिदाताओंके नामोल्लेख करना भी हम नहीं भूल सकते हैं क्योंकि जिन मान्य मुनिओंने इस कार्यमें अपना उपयुक्त समय और सपरिश्रम मनोयोग लगाकर योग्य सूचनाएँ दिलवाई हैं, तथा हमारा उत्साह बढाया है, हम उनके पूर्ण आभारी हैं।

सम्मतिदाता मान्य मुनिओंके शुभनाम—

(१) मनस्वि-शिरोमणि पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज।
(२) ज्ञान-वदान्य भारतभूषण शतावधानी मुनि श्री रत्नचन्द्रजी महाराज।
(३) सहृदयशिरोमणि जैनागममर्मज्ञ उपाध्यायजी श्री आत्मारामजी महाराज।
(४) उपाध्याय कविवर श्री अमरचन्द्रजी महाराज।
(५) युवाचार्य पण्डितप्रवर श्री आनन्दऋषिजी महाराज।

इनके सिवाय छह स्थानोंसे शास्त्रज्ञ श्रावकोंकी भी सम्मतियाँ मंगवाई गई थी, इन्होंने भी अपनी सहानुभूतिप्रदर्शक सम्मति व सूचनाओंसे हमें प्रोत्साहित किया, अतएव वे सब धन्यवादके पात्र हैं।

विशेषतया शारीरिक अस्वस्थताके रहते हुए भी जो पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज व भारतभूषण श्री शतावधानीजी महाराज तथा उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराजने भेजी हुई कॉपीका सूक्ष्म निरीक्षण करके योग्य सूचनाएँ प्रदान की, तथा उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराजने समक्षमें पण्डितजीकी मार्फत शास्त्रोद्धार विषयकी जो योग्य सूचनाएँ भेजी तथा इधर भी समय २ पर जो समुचित सम्मति देते रहे उन सब महात्माओंके हम विशेष आभारी हैं।

ऐसेही बाकानेरनिवासी श्रीयुत शेठ अमरचन्दजी भैरोंदानजी सेठियाकी ओरसे कॉपी-निरीक्षण-का भार प्रेमपूर्वक स्वीकार करके तथा सहानुभूतिदर्शक सम्मति व सूचनाएँ देकरके जो उत्साह व्यक्त किया गया इसके लिये हम विशेष सन्तोष प्रकट करते हैं, और आशा करते हैं कि समाजके अन्य श्रीमान् भी सेठियाजीकी तरह विद्यानुराग प्रकट कर लक्ष्मी व सरस्वतीके कृपापात्र बनेंगे। यह भी निश्चितसा है कि श्रीमानोंकी अधिकतासे ऐसी वैधानिक उदारता दिखानेपरही समाजका भविष्य गौरवशाली होगा।

विशेष क्षमायाचना

इसी प्रकार प्रस्तुत कार्यमें अन्तरङ्ग सहायक पं. दुःखमोचनजीको भी हम भूल नहीं सकते। पं. जीने जो छाया अवचूरि व अनुवादके लिखने लिखानेमें तथा अस्वस्थ दशामें भी कार्यको पार लगानेकी तत्परता दिखाई है उसके लिये हम पं. जीका हृदयसे अभिनन्दन करते हैं।

अपनी तरफसे सर्वाङ्गपूर्ण संशोधन प्रकाशन कर चुकनेपर विशेष विमर्षक विद्वानोंकी अनुकूल प्रति-कूल समालोचनासे किसीभी संशोधन सम्पादनमें संशोधन और सम्पादककी सफलता या विफलता समझी जाती है, किन्तु हमें तो स्वयं निर्णयसेही ज्ञान होरहा है कि संशोधनमें हम पूर्ण सफल नहीं हो सके, सो यहाँतक कि हम अपनी सञ्चितशक्तिका भी इसकार्यमें पूर्ण उपयोग नहीं ले सके। कारण यह हुआ कि इस प्रतिका मुद्रण, भूमिकालेखन, जहाँ तहाँ टिप्पण-प्रदान, प्रूफसंशोधन, और द्वितीयवार अनुवादलेखन ये सब कार्य एकसाथही करने पडे, इसी बीचमें दीक्षामहोत्सवके चलते भी विक्षेप कम नहीं रहा, इसी अवसरपर अन्तरङ्ग सहकारी और हृदयके लिये हाथके समान कार्यकारी व्यक्ति श्री पं. जीभी दम्मासे बीमार होगए। इत्यादि कारणोंसे कोई २ चूक तो बुरी तरह खटकने जैसी होगई है, इन सब भूलोंका शक्य समाधान शुद्धिपत्रमें किया जायगा।

लेकिन् विद्वानोंसे यह बात छिपी नहीं रह सकती है कि इन अशुद्धिओंमें संशोधनकी अव्युत्पत्तिसे असावधानीसे या विवशतासे होनेवाली चूक कौनसी ? तथा लेखक, कम्पोजीटर, और प्रूफरीडरकी गलतीस होनेवाली चूक कौनसी ? तोभी हम अपने सूज्ञ पाठकोंके सामने अपनी रही हुई अशुद्धिओंके लिये क्षमाप्रार्थी हैं।

हमें पूर्ण आशा एवं विश्वास है कि पाठकगण इस नवीन प्रकाशित दशवैकालिक सूत्रसे लाभ उठाकर हमारे श्रमको सफल करेंगे। शुभमधिकम्।

प्रार्थी

मोतीलाल मुथा.

अमोलकचन्द सुरपुरिया.

श्री दशवैकालिक सूत्रकी गाथाक्रमसे संक्षिप्त अनुक्रमणिका.

गाथा

अध्ययन १.

१ धर्मकी सच्ची व्याख्या और फल.
२–३ श्रमणवृत्तिमें भ्रमरकी उपमा और तुलना.
४–५ शिष्यका माधुकरी वृत्तिस्वीकार व उपसंहार.

अध्ययन २.

१ क्या वासनाओंके आधीन मनुष्य साधुपनका पालन कर सकता है ?
२–३ भोग नहीं भोगते हुए भी त्यागी नहीं होता; सच्चे त्यागीका स्वरूप.
४–५ वासनाके उदयसे चंचल बने हुए चित्तको स्थिर करनेके अन्तरंग व बहिरंग उपाय.
६–१० मुनि रथनेमिको महासती राजिमतीका मार्मिक उपदेश व मुनिश्रीकी धर्ममें स्थिरता.

गाथा

११ रथनेमिकी तरह भोगोंसे निवृत्त होनाही पंडितपन है.

अध्ययन ३.

१ संयममें स्थिरचित्तवाले मुनिओंके अनाचीर्ण.
२–९ औद्देशिक आदि ५२ निषिद्ध कार्योंका निर्देश.
१०–१५ उपरोक्त निषेधोंको त्यागनेवाले मुनिओंका स्वरूप और फलप्रदर्शन.

अध्ययन ४.

गद्य गुरुशिष्यके प्रश्नोत्तरपूर्वक अध्ययनका प्रारम्भ. षट्कायिक जीवोंका वर्णन व पंच महाव्रत और छट्ठा रात्रिभोजनपरिहारव्रत.
पृथ्वी, अप्, तेजः, वायु, वनस्पति और त्रस इन षट्कायिक जीवोंकी यतनाका विधान.

॥ १ ॥

॥ २ ॥

गाथा

६५–६६ हिलते हुए पत्थर आदिसे या पोले मार्गसे जानेका निषेध.

६७–६९ ऊपरसे उतारके दी हुई भिक्षाका निषेध और कारण.

७०–७२ कच्चे व सजीव फल, पत्ते आदि तथा सचित्त रजसे भरे हुए खाद्य पदार्थके लेनेका निषेध.

७३–७४ जिसमें खानेका भाग कम और फेंकने योग्य अधिक हो वैसे फल आदिके लेनेका निषेध.

७५–७९ अग्राह्य और ग्राह्य पानीके प्रकार.

८०–८१ कदाचित् विना ध्यानके अग्राह्य उदक आजाय तो उसे डालनेकी विधि.

८२–८६ आहार करनेकी विधि, स्थानपर आकर गुरुको आहार दिखाना.

८७–९१ आलोचना करना.

९२ निर्दोष भिक्षावृत्ति दिखानेवाले तीर्थङ्करोंकी स्तुति.

९३–९९ विश्रान्ति, चिन्तन व अन्य साधुओंको निमन्त्रण करना; भोजन करनेकी विधि.

गाथा

१०० निःस्वार्थ दाता तथा ग्राहककी दुर्लभता और फल.

अध्ययन ५ उद्देश २.

१ भिक्षाके ग्रहण करनेपर मुनि जो कुछ भी मिला हो सभी खा लेवे.

२–३ एकवार ली हुई भिक्षासे यदि निर्वाह न हो तो फिरसे भिक्षा लेनेकी विधि.

४–५ कालकी योग्यायोग्यता; अकालमें भिक्षार्थ जानेसे होती हुई हानि.

६ कालोचित भिक्षालाभ न मिलनेपर तप समझकर चलना.

७ दूसरा कोई भिक्षाके लिये आया हो तो उसके सन्मुख नहीं जाना.

८ भिक्षार्थ जानेपर कहीं बैठना नहीं या कथा करना नहीं.

९ किवाड आदिका अवलंबन करके खडा नहीं रहना.

॥ ३ ॥

१०–१३ भिक्षार्थ जानेपर वहांपर कोई अन्य ब्राह्मण, श्रमण या भिखारी आदि आजाय तो आचरनेकी विधि.

गाथा

गाथा

अध्ययन ६.

गाथा

७–८ अठारह दोषस्थान और उनके नाम.

९–११ प्रथमस्थान अहिंसा और उसका स्वरूप.

१२–१३ झूंठ बोलनेका निषेध और कारण.

१४–१५ अदत्तादान लेनेका निषेध.

१६–१७ अब्रह्मचर्य यह सब दोषोंका मूल है इसलिये उसका निषेध.

१८–२२ लोण, तेल आदि पदार्थोंका ग्रहणनिषेध, सच्चे साधुका स्वरूप याने निर्लोभता; परिग्रहकी शुद्ध व्याख्या.

२३–२६ रात्रिभोजनका निषेध और उसके दोष.

२७–२९ पृथ्वीकाय-विराधनाका निषेध.

३०–३२ अप्काय-विराधनाका निषेध.

३३–३६ अग्निकाय-विराधनाका निषेध.

३७–४० वायुकाय-विराधनका निषेध.

४१–४३ वनस्पतिकायकी विराधनाका निषेध.

४४–४६ त्रसकायकी हिंसाका निषेध.

४७–४८ चार अभोज्य वस्तुओंको त्यागना.

गाथा

४९–५० क्रीतादि दोषयुक्त आहारोंको वर्जन करना.

५१–५३ गृहस्थके भाजनमें आहार करनेका निषेध एवं कारण; पश्चात्कर्म और पुरःकर्म इन दोषोंका विवेचन.

५४–५६ कुर्सी, पलंग आदि आसनोंका निषेध.

५७–६० निषद्या दोषका विवेचन; निषेधके कारण और इस दोषमें अपवाद.

६१–६३ स्नाननिषेध और निषेधके कारण.

६४–६७ शरीरविभूषाकी मुण्ड ऐसे साधुके लिये अनावश्यकता अतः उसका निषेध.

६८–६९ सच्चे त्यागीका कर्तव्य–पहले किये हुए पापोंकी निर्जरा करना व नये पाप नहीं करना तथा योग्य मार्गसे सिद्धिप्राप्ति करलेना इत्यादि उपसंहार.

अध्ययन ७.

१ भाषाके चार प्रकार–दो आदरणीय और दो त्याज्य.

२ नहीं बोलनेलायक सत्य एवं सत्यामृषा भाषाका निषेध.

॥ ५ ॥

गाथा

- ३ साधुको कैसी भाषा बोलना चाहिए ?
- ४ शासनको बाधा पहुंचानेवाली भाषाका निषेध.
- ५ दिखाऊ सत्यमें भी पापकी आशंका.
- ६ निश्चयात्मक भाषाका निषेध.
- ७ शङ्कास्पद भाषा भी वर्ज करना.
- ८–१० जिस बातके विषयमें बोलनेवाला अनजान है, या कुछ शङ्का है ऐसी भाषाका निषेध; साधुको हमेशा निश्शङ्कित भाषा बोलना चाहिए.
- ११ कठोर भाषाका वर्जन.
- १२–१४ दूसरेके दिलको दुःख हो ऐसी भाषाका निषेध.
- १५–१७ स्त्रीको संसारी सम्बन्धसे साधु नहीं पुकारे, तथा अन्य भी गालीके अंशवाले शब्दसे सम्बोधन नहीं करे; स्त्रीको बुलानेकी विधि.
- १८–२० पुरुषके सम्बोधनकी विधि.
- २१ पञ्चेन्द्रिय प्राणियोंका स्त्री पुरुष आदि भेद खबर न हो तो जातिसे उल्लेख करे.

गाथा

- २२–२३ पुष्ट ऐसे मनुष्य, पशु, पक्षी आदिको देखनेपर कैसी भाषा बोलना चाहिए ?
- २४–२५ गाय या बैल इनके बाबतमें क्या कहना ?
- २६–२९ उद्यानमें बडे २ वृक्षोंको देखकर कैसी भाषा नहीं बोलना चाहिए ?
- ३०–३१ वृक्षोंको देखकर क्या बोलना चाहिए ?
- ३२–३५ वृक्षके फल एवं लता इनको उद्देशकर क्या कहना चाहिए ?
- ३६–३९ जिमणवार, चोर और नदीके विषयमें कैसी भाषा बोलना चाहिए ?
- ४०–४२ सावद्यभाषाका निषेध.
- ४३–४६ खरीदी या विक्रीके बारेमें कैसा बोलना ?
- ४७–४९ असंयतको आदरसे बुलाना आदिका निषेध; असाधुको साधु कहनेका निषेध.
- ५० लडाईमें अमुककी विजय हो ऐसा नहीं बोलना चाहिए.

॥ ६ ॥

अध्ययन ८.

॥ ७ ॥

अध्ययन ९ उद्देश १.

॥ ८ ॥

गाथा

१४ आचार्यको इन्द्रकी उपमा.

१५ गणीको चन्द्रमाकी उपमा.

१६--१७ आचार्यकी आराधना करके उनको सन्तोष उपजानेसे होता हुआ फल और उपसंहार.

अध्ययन ९ उद्देश २.

१--२ धर्मको वृक्षकी उपमा देकर धर्मवृक्षके मूलादिका दिग्दर्शन.

३ जो साधु कपटसे रहता है वह प्रवाहमें पडे हुए काष्ठकी तरह बहजाता है.

४ विनयके तरफ खयाल नहीं करनेवाला साधु दिव्य श्रीको दूर हटाता है.

५ अविनयका परिणाम.

६ सुविनीत रहनेसे फल.

७--८ अविनीत लोगोंको शारीरिक एवं मानसिक दुःख भोगना पडता हैं.

९ सुविनीत लोक ऋद्धि प्राप्त कर लेते हैं.

गाथा

१०--११ अविनीत देवोंको भी दुःख, और सुविनीतको सुख.

१२ आचार्यकी आज्ञा माननेसे शिक्षाकी वृद्धि.

१३ शिल्पादिका उपयोग ऐहिक वस्तुके लिये करनेका निषेध.

१४--१६ शिल्पादिका शिक्षण लेनेके लिये भी लोक कष्ट सहन करते हैं फिर आत्मसाधन की तो बातही क्या ?

१७ हरएक बाबतमें नम्रताका अंगिकार.

१८ अयतनासे पाँव आदि लगजाय तो क्षमायाचना.

१९ दुष्ट गजका दृष्टान्त.

२० बाह्य चिन्होंसे हेतुको समझकर उसीके अनुसार चलना.

२१ विनय यही संपत्ति और अविनय यही नाश है.

२२ अविनीतको मोक्ष नहीं मिल सकता है.

२३ विनयका फल मोक्ष और उपसंहार.

अध्ययन ९ उद्देश ३.

१ आहिताग्निकी तरह आचार्यके प्रति जागृत रहकर उनकी आज्ञाको माननेवालाही पूज्य है.

गाथा

२–३ गुरुकी आज्ञामें रहनेवाला, बडोंका विनय करनेवाला नम्र साधु पूज्य है.

४ आहारमें गृद्धि नहीं रखकर भिक्षा लेनेवाला व नहीं मिलनेपर खेद नहीं करनेवाला पूज्य है.

५ सन्तोषप्रधान जो साधु वही पूज्य है.

६–८ किसी वस्तुकी आशासे तो लोहेके खीले भी लोग सहन करते हैं लेकिन् विना किसी आशाके दुरुद्धर ऐसे वाक्प्रहारोंको सहन करनेवाला जितेन्द्रियही पूज्य है.

९ निश्चयात्मक एवं अप्रियकारी भाषा वर्ज करनेवालाही पूज्य है.

१० सामान्यतः माया लोभादि कषायोंका त्याग करनेवाला पूज्य है.

११ गुणोंसे साधु बनता है वास्ते खुदको जानकर जो राग या द्वेषसे अलग रहता है वह पूज्य है.

गाथा

१२ किसीकी निन्दा एवं गर्व नहीं करनेवाला पूज्य है.

१३ माननीय शिष्यके विषयमें कन्याकी उपमा.

१४ पञ्चसमिति–त्रिगुप्तिका धारक और चार कषायोंका त्यागी साधु पूज्य है.

१५ गुरुकी शुश्रूषासे होता हुआ फल दिखाते हुए उपसंहार.

अध्ययन ९ उद्देश ४.

गद्य भगवान श्री महावीरने फरमाये हुए चार विनयसमाधिस्थान.

१ इन्हींमें साधुको रत रहना चाहिए.

गद्य विनयसमाधिके चार प्रकार.

२ अपने हितकी शिक्षा देनेवाले गुरुकी शुश्रूषा करना और मान नहीं दिखाना.

गद्य चार प्रकारकी श्रुतसमाधि.

३ ज्ञानके विषयमें एकाचित्त होकर दूसरोंको भी ज्ञानलय लगाना और स्वाध्याय करना.

॥ १० ॥

गाथा

गद्य तपःसमाधि भी चार प्रकारकी है.

४ निर्जराके हेतुसे विविध प्रकारका तप करना और पुराने पापको हटाना.

गद्य चार प्रकारकी आचारसमाधि.

५ आचारसमाधिसे ही मोक्षप्राप्ति हो सकती है.

६ शास्त्रार्थमें कुशल और आचारसमाधिमें रत रहनेवाला ही अपना भला कर सकता है.

७ वह समाधिवान् साधु जातिमरणसे मुक्त होकर स्वर्गसुखको या मोक्षको पाता है इत्यादि उपसंहार.

अध्ययन १०.

१ कामभोगोंके आधीन नहीं होनेवाला.

२–४ षट्कायिक जीवोंके आरंभका त्रिकरणसे त्यागी.

५ श्रद्धा समदर्शिता आदि भिक्षुगुण.

६ अन्तरंग बहिरंग त्यागिपन.

७–१३ भिक्षुके अन्तरंगगुण और आत्मसाधनाके आदर्श कार्य.

गाथा

२५–१७ संयमकी प्रधानता, मूर्च्छा और लोलुपताका त्याग.

१८–१९ वाणीका संयम और मानका परिहार.

२०–२१ जनहितार्थ धर्मोपदेश व परिणाममें सिद्धि.

चूलिका १.

गद्य दुःखसे उद्विग्न होकर संयम छोडनेकी इच्छावाले साधुको संयममें स्थिर करनेके लिये साधुजीवनके महत्त्वसूचक उपदेशप्रद १८ उपाय.

१ भोगके लिये धर्म त्यागनेवाला अनार्य उससे होनेवाले परिणामको नहीं जानता.

२–८ धर्मभ्रष्टका अनेक उपमाओंसे पश्चात्ताप.

९ अगर मैं चारित्रमें रहता तो आज क्या होता ?

१०–११ संयमपर्यायमें रति रखनेसे स्वर्गीय सुख और अरतिसे नारकीय दुःख समझकर पर्यायमें रमण करना.

॥ ११ ॥

चूलिका २.



॥ १२ ॥

“ श्रीदशवैकालिकसूत्रम् ”

(सावचूरि सच्छायम्)

॥ प्रथमाध्ययनम् ॥

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ॥ १ ॥

छा० धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टम्, अहिंसा संयमस्तपः ।
देवा अपि तं नमस्यन्ति यस्य धर्मे सदा मनः ॥ १ ॥

श्री सिद्धेभ्यो नमः । इहार्थतः श्रीमहावीरप्रणीतस्य सूत्रतो गणधरोपनिबद्धपूर्वगतोद्धृतस्य शारीरमानसानेककटुकदुःखसन्तापविनाशहेतोर्दशवैकालिकाऽभिधानशास्त्रस्यातिसूक्ष्ममहार्थगोचरस्य व्याख्या प्रस्तूयते । तत्र प्रस्तु-

तार्थप्रतिपादनमेव धर्मस्य नमस्कारद्वारेणाऽशेषविघ्नविनायकोपशान्तये भगवान् शय्यम्भवाचार्यो भावमङ्गलमाह—'धम्मो'—दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः स उत्कृष्टं मङ्गलं-मंग्यते हितमनेनेति मङ्गलम्, ऐकान्तिकत्वादात्यन्तिकत्वाच्च, न पूर्णकलशादि, तस्याऽनैकान्तिकत्वादनात्यन्तिकत्वाच्च। अहिंसा प्राणातिपातविरतिः, संयमः पापद्वारनिरोधः, नन्वहिंसैव तत्त्वतः संयम इति तद्भेदेनास्याभिधानमयुक्तम्? उच्यते—संयमस्य अहिंसाया एवोपग्रहकारित्वात् संयमिन एव भावतः खल्वहिंसकत्वादित्यनयोर्भेदः। तापयत्यनेकभवोपात्तमष्टविधं कर्मेति तपः, तच्च द्विविधं बाह्यमान्तरञ्च, बाह्यमनशनादि, आन्तरं प्रायश्चित्तादि। धम्मो मङ्गलेत्यत्र धर्मग्रहणे सति अहिंसासंयमतपोग्रहणमयुक्तम्, तस्य अहिंसासंयमतपोरूपत्वात्? न, अहिंसादीनां धर्महेतुत्वात्, धर्मस्य च कार्यत्वात्, कार्यकारणयोश्च कथञ्चिद्भेदात्तद्भेदः, गम्यादिधर्मव्यवच्छेदेन तत्स्वरूपज्ञानार्थं वा। 'धम्मो मंगलं' इत्याज्ञासिद्धं युक्तिसिद्धं वा? उच्यते-उभयसिद्धं जिनवचनत्वात्, तस्य च विनेयजनाऽपेक्षयाऽऽज्ञासिद्धत्वात्, आह च निर्युक्तिकारः—"जिणवयणं सिद्धं चेव" ॥ १ ॥

जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आविअइ रसं।
नय पुप्फं किलामेइ सो अ पीणेइ अप्पयं ॥ २ ॥

छा० यथा द्रुमस्य पुष्पेषु भ्रमर आपिबति रसम्।
नच पुष्पं क्लमयति स च प्रीणात्यात्मानम् ॥ २ ॥

॥ २ ॥

'जहा दु'०–[असमस्तपदाभिधानम्, उपमेये गृहिद्रुमाणाम् आहारादिपुष्पाण्यधिकृत्य विशिष्टसम्बन्ध-प्रतीत्यर्थम्] तथा च न्यायोपात्तवित्तदानेऽपि ग्रहणं निषिद्धमेव । आपिबति मर्यादया पिबति रसं मकरन्दम्, न च नैव पुष्पं क्लमयति पीडयति, स च भ्रमरः प्रीणात्यात्मानम् ॥ २ ॥

एमेए समणा मुत्ता जे लोए संति साहुणो ।
विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणे (णा) रया ॥ ३ ॥

छा० **एवमेते श्रमणा मुक्ता ये लोके सन्ति साधवः ।**
विहङ्गमा इव पुष्पेषु दानभक्तैषणे रताः ॥ ३ ॥

एवमनेन प्रकारेण 'एते ए'–अधिकृताः प्रत्यक्षेणैव परिभ्रमन्तो दृश्यन्ते, श्राम्यन्तीति श्रमणास्तपस्यन्तीत्यर्थः, ते च तापसादयोऽपि भवन्तीत्यत आह–'मुक्ताः सबाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन, ये लोके अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रपरिमाणे सन्ति विद्यन्ते, साधयन्तीति साधवः' किं साधयन्ति? ज्ञानादीनीति गम्यते । ननु ये मुक्तास्ते साधव एवेत्यत इदमयुक्तम्? उच्यते-व्यवहारेण निह्नवा अपि मुक्ता एव न च ते साधवः, अथ ते न नित्यं सन्तीत्यनेनैव व्यवच्छिन्नाः? उच्यते–वर्तमानतीर्थापेक्षया सूत्रमिदमिति न दोषः, अथवा शान्तिः सिद्धिः, तां साधयन्तीति साधवः । विहङ्गमा इव भ्रमरा इव पुष्पेषु दानभक्तैषणासु रताः, दानग्रहणाद् दत्तं गृह्णन्ति नादत्तम्, भक्तग्रहणात्तदपि प्रासुकं नाधाकर्मादि, एषणाग्रहणेन गवेषणादित्रयपरिग्रहः, तेषु स्थानेषु रता इति ॥ ३ ॥ ननु 'दाणभत्तेसणे रयात्ति' उक्तम्,

यत एवमतो लोको भक्त्याकृष्टमानसस्तेभ्यः प्रयच्छत्याधाकर्मादि, तद्ग्रहणे सत्त्वोपरोधः, अग्रहणे च स्ववृत्त्यलाभः ? इत्यत्र उच्यते—

वयं च वित्तिं लब्भामो न य कोइ उवहम्मइ ।
अहागडेसु रीअंते पुप्फेसु भमरा जहा ॥ ४ ॥

छा० वयं च वृत्तिं लप्स्यामहे न च कश्चिदुपहन्यते ।
यथाकृतेषु रीयन्ते पुष्पेषु भ्रमरा यथा ॥ ४ ॥

'वयं च'०—वयं च वृत्तिमाजीविकां लप्स्यामः (लप्स्यामहे) प्राप्स्यामस्तथा यथा न कश्चिदुपहन्यते, [वर्तमानैष्यत्कालोपन्यासस्त्रैकालिकन्यायप्रदर्शनार्थः] तथा चैते साधवः सर्वकालं यथाकृतेषु (गृहस्थैः) स्वार्थं कृतेष्वाहारादिषु रीयन्ते वर्तन्ते इति ॥ ४ ॥ यतश्चैवमतः—

महुगारसमा बुद्धा जे भवंति अणिस्सिआ ।
नाणापिंडरया दंता तेण वुच्चंति साहुणो ॥ ५ ॥ त्ति बेमि ।

छा० मधुकरसमा बुद्धा ये भवन्त्यनिश्रिताः ।
नानापिण्डरता दान्तास्तेनोच्यन्ते साधवः ॥ ५ ॥ इति ब्रवीमि ।

'महुगारसमा'०—मधुका (क) रसमा भ्रमरतुल्याः, बुध्यन्ते स्मेति बुद्धा अवगततत्त्वकलापाः के ? ये भवन्ति भ्रमन्ति अनिश्रिताः—कुलादिष्वप्रतिबद्धा नानाऽनेकविधाभिग्रहविशेषात्प्रतिगृहमल्पाल्पग्रहणाच्च, पिण्ड आहारपिण्डः, अन्तप्रान्तादिर्वा तत्र रता अनुद्विग्नाः, दान्ता इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन, ईर्यादिसमितिसमिताश्च इति शेषः। अयमर्थः—'यथा भ्रमरोपमया एषणायै यतन्ते तथा ईर्यादिष्वपि त्रसस्थावरजीवाहितं यतन्ते तेनोच्यन्ते साधवः' इति समाप्तौ, ब्रवीमीति न स्वधिया किन्तु तीर्थङ्कराद्युपदेशेन ॥ ५ ॥

॥ दुमपुप्फिअज्झयणं पढमं ॥

॥ द्रुमपुष्पिकाध्ययनं प्रथमम् ॥



॥ द्वितीयाध्ययनम् ॥



व्याख्यातं द्रुमपुष्पिकाध्ययनम् । इदानीं श्रामण्यपूर्विकाख्यमारभ्यते—अस्यैवमभिसम्बन्धः—इहाऽनन्तराध्ययने धर्मप्रशंसोक्ता, सा चेहैव जिनशासने इति, इहतु तदभ्युपगमे सति मा भूदभिनवप्रव्रजितस्याऽधृतेः संमोह इत्यतो धृतिमता भवितव्यमिति—एतदुच्यते, अनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम् ।

कहं नु कुज्जा सामण्णं जो कामे न निवारए ।
पए पए विसीअंतो संकप्पस्स वसं गओ ॥ १ ॥

छा० **कथं नु कुर्याच्छ्रामण्यं यः कामान्न निवारयेत् ।**
पदे पदे विषीदन् सङ्कल्पस्य वशं गतः ॥ १ ॥

'कहं नु०'—कत्यहं कदाहं कथमहम् इत्याद्यदृश्यपाठान्तरत्यागेन दृश्यं व्याख्यायते—कथं नु कुर्याच्छ्रामण्यं यः कामान्न निवारयति, कथं केन प्रकारेण 'नु' क्षेपे यथा—'कथं नु स राजा यो न रक्षति' एवं कथं नु कुर्याच्छ्रामण्यं श्रमणभावं यः कामान्न निवारयति न प्रतिषेधते, किमिति न करोति ? [तत्र निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनमिति वचनात् कारणमाह] पदे पदे विषीदन् सङ्कल्पस्य वशं गतः कामाऽनिवारणेनेन्द्रियाद्यपराधपदापेक्षया पदे पदे विषीदनात् (विषदनात्) सङ्कल्पस्य वशङ्गतत्वादप्रशस्तोऽध्यवसायः—

" इंदियविसयकसाए परीसहे वेयणाउ संसग्गे (उवसग्गा)।
एए अवराहपया जत्थ विसीअंति दुम्मेहा " ॥ १ ॥

क्षुल्लकवत्, कृतिनस्तु एभिरेव करणभूतैः संसारकान्तारमुत्तरन्ति, कोऽसौ खुल्लउत्ति कहाणयं——

" कुंकणगो जहा एगो खंतो सपुत्तो पव्वइओ, सो अ चेल्लओ तस्स अईव इट्ठो, सीयमाणो भणइ— खंता ! ण सक्केमि अणुवाहणो हिंडिउं, अणुकंपाए खंतेण दिण्णाओ उवाहणाओ, ताहे भणइ—उवरितला सीएण फुट्टंति, खल्लिता (ओ) से कयाओ, पुणो भणइ—न सक्केमि भिक्खं हिंडिउं, तो सो पडिसए ठियस्स आणेइ, एवं न तरामि खंत ! भूमिए सुविउं, ताहे संथारो से अणुण्णाओ, पुणो भणइ—ण तरामि खंत ! लोअं काउं, तो खुरेण पकित्तितं, ताहे भणति—अण्हाणयं न सक्केमि, तओ से फासुअपाणएणं कप्पो दिज्जति, आयरियपाउग्गं वत्थजुयलं घिप्पति, एवं जं जं भणति तं तं सो खंतो णेहपडिबद्धो तस्साणुजाणति । एवं काले गच्छमाणे य भणिओ—न तरामि अविरइआए विणा अच्छिउं खंतत्ति । ताहे खंतो भणति—सढो, अजोगोत्ति काउं (ऊण) पडिसगाओ निप्फेडिओ, कम्मं काउं न जाणइ, अजाणंतो छणसंखडीए धाणिं काउं (ऊण) अजिण्णेण मओ, विसयविसट्टो मरिउं (ऊण) महिसो आयाओ, वाहिज्जइ अ। अह खंतो सामण्णपरियागं पालेऊण आउक्खए कालगओ, देवेसु उववण्णो, ओहिं पउंजति, ओहिणा आभोएऊण तं चेल्लयं तेण पुव्वणेहेण तेसिं गोहाण हत्थओ किणइ, वेउव्वियभंडिए जोएइ, वाहेति य गुरुगं, तं अतरंतो वोढुं तोत्तएण विंधिउं (ऊण) भणति—न तरामि खंता ! भिक्खं हिंडिउं, एवं भूमीए

सयणं, लोअं काउं, एवं ताणि वयणाणि सव्वाणि उच्चारेति जाव आविरतिआए विणा न तरामि खंतोत्ति। ताहे एवं भणंतस्स तस्स महिसस्स इमं चित्तं जायं–‘ कहं एरिसं वक्कं सुतंति ’, ताहे ईहापूहमग्गणगवेसणं करेइ, एवं चिंतयंतस्स तस्स जातिसरणं समुप्पण्णं, देवेण ओही पउत्तो, संबुद्धो। पच्छा भत्तं पच्चक्खाइत्ता देवलोअं गओ। एवं पए विसीअंतो संकप्पस्स वसं गच्छइ, जम्हा एस दोसो तम्हा अट्ठारससहस्ससीलंगाणं सारणानिमित्तं एए अवराहपए वज्जेज्जा ” । तथा चाह निर्युक्तिकारः—

“ अट्ठारस उ सहस्सा, सीलंगाणं जिणेहिं पण्णत्ता ।
तेसिं पडिरक्खणट्ठा, अवराहपए उ वज्जेज्जा ” ॥ १ ॥

द्रव्यक्रियां कुर्वन्, न श्रमणः, एवं चैतदाह—

वत्थगधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि अ ।
अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चइ ॥ २ ॥

छा० **वस्त्रगन्धाऽलङ्कारं स्त्रियः शयनानि च ।**
अच्छन्दा ये न भुञ्जते न से[1] त्यागीत्युच्यते ॥ २ ॥

१ ‘ ते त्यागिन इत्युच्यन्ते ’ । इति पाठेन भाव्यम् ।

'वत्थ'०—वस्त्राणि चीनांशुकादीनि, गन्धाः कोष्टपुटादयः, अलङ्काराः कटकादयः, [अनुस्वारोऽलाक्षणिकः] स्त्रियोऽनेकप्रकाराः, शयनानि पर्यङ्कादीनि, 'च' शब्द आसनाद्यनुक्तसमुच्चयार्थः, एतानि वस्त्रादीनि किम्? अच्छन्दा अस्ववशा ये केचन न भुञ्जते नासेवन्ते [किं बहुवचनोद्देशेऽप्येकवचनानिर्देशः? विचित्रत्वात्सूत्रगतेर्विपर्ययश्च भवत्येवेति कृत्वा] आह—नासौ त्यागीत्युच्यते, सुबन्धुवन्नासौ श्रमणः, कः पुनः सुबन्धुः? इत्यत्र कथानकम्—

" जदा णंदो चंदगुत्तेण निच्छूढो, तया तस्स दारेण निग्गच्छंतस्स दुहिआ चंदउत्ते दिट्ठिं बंधेइ, एअं अक्खाणयं जहा आवस्सए, जाव बिंदुसारो राया जाओ। णंदसंतिओ अ सुबंधू णाम अमच्चो, सो चाणक्कस्स पदोसमावण्णो, छिद्दाणि मग्गति, अण्णया राआणं विण्णवेइ—जतिवि तुम्हे अम्हं वित्तं न देह तहावि अम्हेहिं तुम्ह हितं वत्तव्वं, भणइ य—तुम्हं माया चाणक्केण मारिआ, रण्णा धाती पुच्छिया, आमंति, कारणं न पुच्छियं, केणवि कारणेणं रण्णो अ सगासं चाणक्को आगओ। जाहे दिट्ठिं न देति ताहे चाणक्को चिंतेति—'रुट्ठो एस राया, अहं गताउ'त्ति काउं (ऊण) दव्वं पुत्तपउत्ताणं दाऊण, संगोवित्ता य, गंधा संजोइआ, पत्तयं च लिहिऊण सो वि जोगो समुग्गे छूढो। समुग्गो अ चउसु मंजूसासु छूढो। तासु छुभित्ता पुणो गंधोवरए छूढो। तं बहुहिं कीलियाहिं सुघडियं करेत्ता दव्वजायं णातिवग्गं च धम्मे णियोइत्ता अडवीए गोकुलट्ठाणे इंगिणीमरणं अब्भुवगओ। रण्णा य पुच्छियं—चाणक्को किं करेइ? धाती य से सव्वं जहावत्तं परिकहेइ। गहियपरमत्थेण य भणियं—अहो मया असमोक्खितं कतं। सव्वंतेउर—जोह—बल—समग्गो खामेउं णिग्गओ। दिट्ठो य णेण करीसमज्झट्ठिओ। खामियं सबहुमाणं, भणिओ अणेणं—णगरं वच्चामो, भणति—मए सव्वपरिच्चाओ कओत्ति, तओ सुबंधुणा राया विण्णविओ—अहं से पूअं करेमि, अणुजाणह,

अणुण्णाए धूवं डहिऊण तंमि चेव एगप्पएसे करीसस्सोवरिं ते अंगारे परिट्ठवेइ। सो अ करीसो पलित्तो। दड्ढो चाणक्को। ताहे सुबंधुणा राया विण्णविओ—चाणक्कस्स संतिअं घरं ममं अणुजाणह, अणुण्णाए गओ, घरं पच्चुविक्खमाणेण दिट्ठो अपवरओ घट्टिओ। सुबंधू चिंतेइ—किमवि इत्थत्थि, कवाडे भंजित्ता उग्घाडिओ, मंजूसं पासइ, सा वि उग्घाडिआ, जाव समुग्गं पासइ। मघमघंतगंधं सपत्तयं पेच्छइ, तं पत्तयं वाएइ, तस्स य पत्तयस्स एसत्थो—'जो एअं चुण्णयं अग्घाइ, सो जइ ण्हाइ वा, समालभइ, अलंकारेइ, सीओदकं च पीअति, महतीए सिज्जाए सुवति, जाणेण गच्छति, गंधव्वं वा सुणेइ, एवमादि अन्ने वा इट्ठे विसए सेवेइ, जहा साहुणो अच्छंति तह सो जइ ण अच्छइ, तो मरइ'। ताहे सुबंधुणा विण्णासणत्थं अन्नो पुरिसो अग्घाइत्ता सद्दाइणो विसए भुंजाविओ, मओ अ। तओ सुबंधू जीवियट्ठी अकामो साहू जहा अच्छंतो वि ण साहू "।

एवमधिकृतसाधुरपि न साधुः; अतो न त्यागीत्युच्यते अभिधेयाऽर्थाऽभावात् ॥ २ ॥ यथा चोच्यते तथाभिधातुकाम आह—

जे अ कंते पिए भोए लद्धे विप्पिट्ठिकुव्वइ।
साहीणे चअइ भोए से हु चाइत्ति वुच्चइ ॥ ३ ॥

छा० यश्च कान्तान्प्रियान्भोगाँल्लब्धान् विपृष्ठीकरोति।
स्वाधीनस्त्यजति भोगान् स हि त्यागीत्युच्यते ॥ ३ ॥

'जे अ कंते'०—'च' शब्दस्याऽवधारणार्थत्वात् य एव कान्तान् कमनीयानित्यर्थः, निजान् इष्टान्, इह कान्तमपि किञ्चित् कस्यचित् कुतश्चिन्निमित्ततरादप्रियं स्यात्, यथोक्तम्—"चउहिं ठाणेहिं संते गुणे नासेज्जा, तंजहा-रोसेणं, पडिनिवेसेणं, अकतण्णुताए, मिच्छत्ताभिनिवेसेणं"। अतो विशेषणं—प्रियान् इष्टान् इति, भोगान् शब्दादीन्विषयान्, लब्धान् प्राप्तान्—उपनतान् इति यावत्। 'विप्पिट्ठिकुव्वइ' त्ति विविधमनेकैः प्रकारैः शुभभावनादिभिः पृष्ठतः करोति परित्यजतीत्यर्थः, न बन्धनबद्धः प्रोषितो वा किन्तु स्वाधीनोऽपरायत्तः, स्वाधीनानेव त्यजति भोगान्, पुनस्त्यागग्रहणं प्रतिसमयं त्यागपरिणामवृद्धिसंसूचनार्थम्, भोगग्रहणन्तु सम्पूर्णभोगग्रहणार्थं त्यक्तोपनतभोगसंसूचनार्थं वा। ततश्च य ईदृशो 'हु' शब्दस्याऽवधारणार्थत्वात्, स एव त्यागीत्युच्यते भरतादिवदिति। अत्राऽऽह—जदि भरहजंबुनामादिणो जे संपुण्णे संते भोगे परिच्चयंति ते परिच्चागिणो एवं ते भणंतस्स अयं दोसो भवति—"जे केइ अत्थसारहीणा दमगाइणो पव्वइऊण भावओ अहिंसादिगुणजुत्ते सामण्णे अब्भुज्जुआ ते किं अपरिच्चागिणो भवंति?" आयरिओ आह—ते वि तिण्णि रयणकोडीओ परिच्चइऊण पव्वइआ—अग्गिं, उदयं, महिलं, तिण्णि रयणाणि लोगसाराणि परिच्चइऊण पव्वइआ, दिट्ठंतो—"एगो पुरिसो सुहम्मसामिणो सगासे कट्ठहारओ पव्वइओ, सो भिक्खं हिंडंतो लोएण भण्णति—एसो सो कट्ठहारओ पव्वइओ, सो सेहत्तेण आयरियं भणइ—मयं अण्णत्थ णेह, अहं ण सक्केमि अहियासेत्तए, आयरिएहिं अभओ आपुच्छिओ—वच्चामोत्ति, अभओ भणति—मासकप्पपाओग्गं खित्तं किं न एअं भवति, जेण अत्थक्के अण्णत्थ वच्चह? आयरिएहिं भणितं, जहा—सेहणिमित्तं, अभओ भणति—अच्छह वीसत्था, अहमेयं लोअं उवाएण निवारेमि, ठिओ आयरिओ। बितीए दिवसे तिण्णि रयणकोडीओ ठवियाओ,

उग्घोसाविअं नयरे—जहा अभओ दाणं देति, लोगो आगतो, भणियं च णेण—तस्स अहं एआओ तिण्णि कोडीओ देमि जो एआइं तिण्णि परिहरइ—अग्गिं, पाणियं, महिलियं च, लोगो भणति—एतेहिं विणा किं सुवण्णकोडीहिं? अभओ भणति—ता किं भणह दमउत्ति पव्वइओ, जो वि निरत्थओ पव्वइओ? तेण वि तिण्णि सुवण्णकोडीओ परिच्चत्ताओ, सच्चं सामि! ठिओ लोगो पत्तिओ। तम्हा अत्थपरिहीणो वि संजमे ठिओ तिण्णि लोगसाराणि अग्गिं, उदयं, महिलाओ य, परिच्चयंतो चाइत्ति लब्भइ"॥ ३ ॥ केनालम्बनेनेति?—

समाइ पेहाइ परिव्वयंतो
सिया मणो निस्सरइ बहिद्धा ॥
न सा महं नोवि अहं पि तीसे।
इच्चेव ताओ विणइज्ज रागं ॥ ४ ॥

छा० समया प्रेक्षया परिव्रजतः।
स्यान्मनो निस्सरति बहिः ॥
न सा मम नो अपि अहमपि तस्याः।
इत्येवं तस्या विनयेद्रागम् ॥ ४ ॥

'समाइ०'—तस्यैवं त्यागिनः समया आत्मपरतुल्यया प्रेक्षया—दृष्ट्या परिसमन्ताद्व्रजतो गच्छतः परिव्रजतो गुरूपदेशादिना संयमगेहेषु वर्तमानस्येत्यर्थः, स्यात्कदाचित् अचिन्त्यत्वात्कर्मगतेर्मनो निस्सरति—बहिर्धावति, भुक्तभोगिनः पूर्वक्रीडितानुस्मरणादिना अभुक्तभोगिनश्च कुतूहलादिना मनोऽन्तःकरणं निस्सरति निर्गच्छति बहिद्धा संयमगेहाद् बहिरित्यर्थः। एत्थ उदाहरणं, जहा—" एगो रायपुत्तो बाहिरिआए उवट्ठाणसालाए अभिरमंतो अच्छइ, दासी अ तेण अंतेण जलभरिअघडेण वोलेइ, तओ तेण तीए दासीए सो घडो गोलिआए भिण्णो, तं च अद्धितिं करिंतिं दट्ठूण पुणरावत्ती जाया, चिंतिअं च—

जे चेव रक्खगा ते वि लोलगा, कत्थ कुविउं सक्का?।
उदगाओ समुज्जालिओ किह अग्गी विज्झवेअव्वो ॥ १ ॥

पुणो चिक्खलगोलिआए तक्खणा एव लहुहत्थयाए तं घडच्छिड्डं ढक्कितं। एवं जइ संजयस्स संजमं करिंतस्स बाहिआ मणो निग्गच्छति तत्थ पसत्थेण परिणामेण तं असुहसंकप्पाछिड्डं चरित्तजलरक्खणट्ठाए ढक्केअव्वं"। केनालम्बनेनेति ? यस्यां राग उत्पन्नः, तां प्रति चिन्तनीयम्—न सा मम नाऽप्यहं तस्याः, पृथक्कर्मफलभुजो हि प्राणिनः, इत्येवं ततस्तस्याः सकाशाद्व्यपनयेद्रागम्। तत्त्वदार्शिनो हि सन्निवर्तन्त एव अतत्त्वदार्शिनो (र्शन) निमित्तत्वात्तस्येति तत्र—न सा महं नो वि अहं पि तीसेत्ति। एत्थ उदाहरणं—" एगो वाणिअदारओ, सो जायं उज्झित्ता पव्वइओ, सो अ ओहाणुप्पेहीभूओ, इमं च घोसेति—ण सा महं णो वि अहं पि तीसे, सो चिंतेति—सा वि मम अहं

पि तीसे, सा ममाणुरत्ता, कहमहं तं छड्डेहामित्ति काउं(ऊण)गहिआयारभंडगणेवत्थो चेव संपट्ठिओ। गओ अ तं गामं जत्थ सा, निवाणतडं च संपत्तो, तत्थ य सा पुव्वजाया पाणियस्स आगता, सा अ साविआ जाया, पव्वइउकामा अ, ताए सो णाओ, इयरो तं न जाणति, तेण सा पुच्छिता–अमुगस्स धूआ, किं मया जीवइ वा ? सो चिंतेइ–जइ सासधरा तो उप्पव्वयामि, इतरहा न, ताए णातं, जहा–एस पव्वज्जं पयहिउकामो तो दो वि संसारे भमिस्सामोत्ति, भणियं च णाए–सा अण्णस्स दिण्णा, तओ सो चिंतिउमारद्धो–सच्चं भगवंतेहिं साहूहिं पाढिओ, जहा–ण सा महं णो वि अहं पि तीसे, परमसंवेगमावण्णो, भणियं च णेण–परिणिअत्तामि, तीए वेरग्गपडिओत्ति णाऊण अणुसासिओ–'अणिच्चं जीविअं कामभोगा इत्तरिया,' एवं तस्स केवलिपण्णत्तं धम्मं परिकहेइ, अणुसिट्ठो जाणाविओ अ, पडिगओ आयरिअसगासं पव्वज्जाए थिरीभूओ। एवं अप्पा साहारेतव्वो जहा तेणंति "॥ ४ ॥ एवं तावदान्तरो मनोनिग्रहविधिरुक्तः, न चायं बाह्यमन्तरेण कर्तुं शक्यते, अतस्तद्विधानार्थमाह––

आयावयाही चय सोगमल्लं ।
कामे कमाही कमिअं खु दुक्खं ॥
छिंदाहि दोसं विणइज्ज रागं ।
एवं सुही होहिसि संपराए ॥ ५ ॥

छा० आतापय त्यज सौकुमार्यम् ।
कामान् क्राम क्रान्तं खलु दुःखम् ॥

छिन्धि द्वेषं विनयेद्रागम् ।
एवं सुखी भविष्यासि सम्पराये ॥ ५ ॥

'आयाव०'—संयमगेहान्मनसोऽनिर्गमार्थम् आतापय—आतापनां कुरु । [एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण-मिति न्यायात्] यथानुरूपम् ऊनोदरतादेरपि विधिः, अनेनात्मसमुत्थदोषपरिहारमाह, तथा त्यज सौकुमार्यम्, अनेन तूभयसमुत्थदोषपरिहारम्, तथाहि सौकुमार्यात् कामेच्छा प्रवर्तते, योषितां च प्रार्थनीयो भवति । एवमुभयासेवनेन कामान्—प्राङ्निरूपितस्वरूपान् क्राम—उल्लंघय, यतस्तैः क्रान्तैः क्रान्तमेव दुःखं भवतीति शेषः । कामनिबन्धनत्वाद्दुःखस्य, 'खु' शब्दोऽवधारणे, अथाऽऽन्तरकामक्रमणमाह—छिन्धि द्वेषम् व्यपनय रागम् सम्यग्ज्ञानबलेन विपाकालोचनादिना, क्व ? कामेष्विति गम्यते, शब्दादयो हि विषया एव कामा इति कृत्वा । एवं कृते फलमाह—एवमनेन प्रकारेण प्रवर्तमानः, किम् ? सुखमस्यातीति सुखी भविष्यासि, क्व ? सम्पराये संसारे यावदपवर्गं न प्राप्स्यासि तावत्सुखी भविष्यासि, सम्पराये—परीषहोपसर्गसङ्ग्रामे इत्यन्ये ॥ ५ ॥ किञ्च संयमगेहान्मनस एवाऽनिर्गमार्थमिदं चिन्तयेत्, यदुत—

पक्खंदे जालिअं जोइं धूमकेउं दुरासयं ।
निच्छंति वंतयं भुत्तुं कुले जाया अगंधणे ॥ ६ ॥

छा० प्रस्कन्दन्ति ज्वलितं ज्योतिषं धूमकेतुं दुरा(सदं)श्रयम् ।
नेच्छन्ति वान्तं भोक्तुं कुले जाता अगन्धने ॥ ६ ॥

'पक्खंदे०'—प्रस्कन्दन्ति—अध्यवस्यन्ति ज्वलितं ज्वालामालाकुलं न मुर्मुरादिरूपं, कम्? ज्योतिषम्—अग्निं, धूमकेतुं—धूमध्वजं, नोल्कादिरूपं, दुरासदं—दुरभिभवमित्यर्थः, 'च' शब्दलोपान्नेच्छन्ति वान्तं भोक्तुं विषमिति गम्यते, के? नागा इति गम्यत एव; किंविशिष्टा इत्याह—कुले समुत्पन्ना अगन्धने, नागानां हि भेदद्वयम्—गन्धनाः, अगन्धनाश्च "तत्थ गंधणा णाम जे डसिए मंतेहिं आगड्ढिआ तं विसं वणमुहाओ आवियंति, अगंधणा उण ते अवि मरणमज्झवसंति ण य वंतमावियंति"। उदाहरणं—"एगेण परिहिंडंतेण नगरे रायपुत्तो सप्पेण खइओ, आहितुंडएण य विज्जाए सव्वे सप्पा आवाहिआ, मंडले पवेसिता, भणिआ य णेण—जेण पुण रायपुत्तो खइओ सो अच्छउ, सव्वे गता, एगो ठिओ, सो भणितो—अहवा विसं आविअह अहवा एत्थ अग्गिम्मि णिवडाहि, सो अ अगंधणो, ताहे सो अग्गिम्मि पविट्ठो ण य तेण तं वंतयं पच्चाइअं"। उपसंहारस्तु एवं भावनीयः—"यदि तावत्तिर्यञ्चोऽप्यतिमानमात्रादपि जीवितं परित्यजन्ति न च वान्तं भुञ्जते तत्कथमहं जिनवचनविज्ञोऽपि विपाकदारुणान् विषयान् वान्तान् भोक्ष्ये इति"। अस्मिन्नेवार्थे द्वितीयमुदाहरणं—"जदा किल अरिट्ठनेमी पव्वइओ तया रहनेमी तस्स जिट्ठभाउओ रायमतिं उवयरइ, जदि णाम एसा ममं इच्छिज्जा। सा वि भगवती निव्विण्णकामभोगा, णायं च तीए जहा एसो ममं अज्झोववण्णो। अण्णया अ तीए महुघयसंजुत्ता पिज्जा पीआ, रहणेमी आगओ, मदनफलं मुहे काऊण य तीए वंतं, भणियं च—एयं पिज्जं पिआहि, तेण भणिअं—कहं वंतं पिज्जइ? तीए भणिओ—जइ ण पिज्जइ वंतं ततो अहं पि अरिट्ठनेमिसामिणा वंता कहं पिविउमिच्छसि?" ॥ ६ ॥ तथाहि अधिकृतार्थसंवाद्येवाह—

धिरत्थु ते जसोकामी जो तं जीविअकारणा ।
वंतं इच्छसि आवेउं सेअं ते मरणं भवे ॥ ७ ॥

छा० धिगस्तु ते यशस्कामिन् ! यस्त्वं जीवितकारणात् ।
वान्तमिच्छस्यापातुं श्रेयस्ते मरणं भवेत् ॥ ७ ॥

'धिरत्थु०'—तत्र राजीमती किलैवमुक्तवती—'धिगस्तु' धिक् शब्दः कुत्सायाम्, अस्तु-भवतु ते-तव पौरुषमिति गम्यते, हे यशस्कामिन् ! इति सासूयं क्षत्रियामन्त्रणम्, अथवा अकारप्रश्लेषादयशस्कामिन् ! धिगस्तु तव यस्त्वं जीवितकारणात्—असंयमजीवितहेतोर्वान्तमिच्छस्यापातुम्, परित्यक्तां भगवताऽभिलषसि भोक्तुम्, अत उत्क्रान्तमर्यादस्य श्रेयस्ते मरणं भवेत्, शोभनतरं ते मरणम्, न पुनरिदमकार्याऽऽसेवनम् इति । "ततो से धम्मो कहिओ, संबुद्धो, पव्वइओ य, रायमती वि तं बोहिऊण पव्वइआ । पच्छा अण्णया कयाइ सो रहनेमी बारवतीए भिक्खं हिंडिऊण सामिसगासमागच्छंतो वासवद्दलएण अब्भाहओ, एक्कं गुहं अणुप्पविट्ठो, रायमती वि सामिणो वंदणाए गता वंदित्ता पडिसमागच्छइ, अंतरे अ वरिसिउमाढत्तो, भिण्णा य तमेव गुहमणुप्पविट्ठा जत्थ सो रहनेमी, वत्थाणि अ पविसारिआणि, ताहे तीए अंगपच्चंगं दिट्ठं, सो रहनेमी तीए अज्झोववण्णो, दिट्ठो अणाए इंगितागारकुसलाए, णाओ असोभणो भावो एअस्स" ॥ ७ ॥ ततोऽसाविदमवोचत्—

अहं च भोगरायस्स तं च सि अंधगवण्हिणो ।
मा कुले गंधणा होमो संजमं निहुओ चर ॥ ८ ॥

छा० अहं च भोगराजस्य त्वं चासि अन्धकवृष्णेः ।
मा कुले गन्धनौ भूव, संयमं निभृतश्चर ॥ ८ ॥

'अहं च०' अहञ्च भोगराज्ञः (भोगराजस्य)–उग्रसेनस्य दुहितेति गम्यते, त्वं च भवसि अन्धकवृष्णेः समुद्रविजयस्य सुत इति गम्यते, अतो मा एकैकप्रधाने कुले आवां गन्धनौ भूव, 'जहण्ण सप्पतुला होमुत्ति भणियं होति,' अतः संयमं निभृतश्चर–सर्वदुःखनिवारणं क्रियाकलापमव्याक्षिप्तः कुर्विति ॥ ८ ॥

जइ तं काहिसि भावं जा जा दिच्छसि नारीओ ।
वायाविद्धुव्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥ ९ ॥

छा० यदि त्वं करिष्यसि भावं या या द्रक्ष्यसि नारीः ।
वाताविद्धो व हडः, अस्थितात्मा भविष्यसि ॥ ९ ॥

'जइ तं०'–यदि त्वं करिष्यसि भावमभिप्रायं, प्रार्थनामिति, क्व ? या या द्रक्ष्यसि नारीः–स्त्रियः, तासु तासु एताः शोभना एताश्चाशोभनाः, अतः सेवे-कामयामीत्येवम्भूतं भावं यदि करिष्यसि, ततो वाताविद्ध इव

ढः, थतात्मा भविष्यसि ॥ ९ ॥

'जइ तं०'—यदि त्वं करिष्यसि भावमभिप्रायं, प्रार्थनामिति, क्व? या या द्रक्ष्यसि नारीः—स्त्रियः, तासु तासु एताः शोभना एताश्चाशोभनाः, अतः सेवे-कामयामीत्येवम्भूतं भावं यदि करिष्यसि, ततो वाताविद्ध इव हढः (हडः)—वातप्रेरित इवाबद्धमूलो वनस्पतिविशेषः, अस्थितात्मा भविष्यसि—सकलदुःखक्षयनिबन्धनेषु संयमगुणेष्वबद्धमूलत्वात् संसारसागरे प्रमादपवनप्रेरित इतश्चेतश्च पर्यटिष्यसि—इति ॥ ९ ॥

तीसे सो वयणं सुच्चा संजयाइ सुभासिअं।
अंकुसेण जहा नागो धम्मे संपाडिवाइओ ॥ १० ॥

छा० **तस्याः स वचनं श्रुत्वा संयतायाः सुभाषितम्।**
अङ्कुशेन यथा नागः, धर्मे सम्प्रतिपादितः ॥ १० ॥

तीसे सो०'-तस्या राजीमत्याः, असौ-रथनेमिर्वचनमनन्तरोदितं श्रुत्वा, किंविशिष्टायाः? संयत्याः (तायाः)—प्रव्रजिताया इत्यर्थः, किंविशिष्टं वचनम्? सुभाषितं—संवेगनिबन्धनम्, अङ्कुशेन यथा नागो—हस्ती एवं धर्मे सम्प्रतिपादितः—संस्थापित इत्यर्थः, केन? अङ्कुशतुल्येन वचनाङ्कुशेन, 'जहा णागोत्ति' एत्थ उदाहरणं—"वसंतपुरं नयरं, इत्थ एगा इब्भवहुआ नदीए ण्हाति, अण्णो अ तरुणो तं दट्ठूण भणति—

सुण्हायं ते पुच्छइ—एस नदी पवरसोहिअतरंगा।
एए अ नदीरुक्खा अहं च पाएसु ते पाडिओ ॥ १ ॥

ताहे सा पडिभणइ—

सुहया होउ णदी ते, चिरं च जीवंतु जे नदीरुक्खा।
सुण्हाय पुच्छयाणं घत्तीहामो पिअं काउं ॥ २ ॥

सो अ तीसे घरं वा दारं वा ण जाणति, तीसे अ बितिज्जयाणि चेडरूवाणि रुक्खे पलोअंताणि अच्छंति, तेण ताणं पुप्फफलाणि सुबहूणि दिण्णाणि, पुच्छियाणि अ—का एसा? ताणि भणंति—अमुगस्स सुण्हा, सो अ तीए विरहं न सहति, तओ परिव्वाइअं ओलग्गिउमाढत्तो, भिक्खा दिण्णा, सा तुट्ठा भणति—किं करेमि ओलग्गाए फलं? तेण भणिआ—अमुगस्स सुण्हं ममकए भणाहि, तीए गंतूण भणिता—अमुगो ते एवंगुणजाइओ पुच्छइ, ताए रुट्ठाए पउल्लगाणि धोवंतीए मसिलित्तएण हत्थेण पिट्ठीए आहया, पंचंगुलिअं उट्ठिअं, अवदारेण निच्छूढा, गता तस्स साहति—णामं पि सा तव ण सुणेति, तेण णायं कालपंचमीए अवद्दारेण अइगंतव्वं, अतिगतो अ, असोगवणिआए मिलिआणि, सुत्ताणि य, जाव परसवणागतेण ससुरेण दिट्ठाणि, तेण णायं—न एस मम पुत्तो, पारदारिओ कोइ, पच्छा पायाओ तेण नेउरं गहिअं, चेइअं च तीए, सो भणिओ—णास लहुं, आवतिकाले साहिज्जं करिज्जासि, इअरी गंतूण भत्तारं भणइ—एत्थ घम्मो, असोअवणिअं वच्चामो, गंतूण सुत्ताणि, खणमेत्तं सुविऊण भत्तारं उट्ठवेति, भणइ अ—एअं तुज्झ कुलाणुरूवं, जेण मम पायाओ ससुरो नेउरं कड्ढेति? सो भणाति—सुवसु, पभाए लब्भिहिति, पभाए थेरेण सिट्ठं, सो रुट्ठो भणाति—विवरीओ थेरोत्ति, थेरो भणाति—मए दिट्ठो अण्णो पुरिसो, विवाए जाए सा भणइ—अहं अप्पाणं सोहयामि?

एवं करेहि, तओ ण्हाता कतबलिकम्मा गया जक्खघरं, तस्स जक्खस्स अंतरेणं गच्छंतो जो कारगारी सो लग्गइ, अकारगारी णीसरति, तओ सो विडपियतमो पिसायरूवं काऊणं निरंतरं घणं कंठे गिण्हइ, तओ सा गंतूण तं जक्खं भणइ—जो मम मायापिउदिण्णओ भत्तारो, तं य पिसायं च मोत्तूण जइ अण्णं पुरिसं जाणामि तो मे तुमं जाणिज्जासित्ति, जक्खो विलक्खो चिंतेति—पस्स केरिसाइ धुत्ती मंतेति, अहंपि वंचिओ, णत्थि सतित्तणं खु धुत्तीए, जाव जक्खो चिंतेति ताव सा णिप्फेडिआ, तओ से थेरो सव्वलोएण विलक्खीकओ हीलिओ अ, तओ थेरस्स तीए अधितीए णिद्दा णट्ठा, रण्णो अ कण्णे गतं, रण्णा सद्दाविऊण अंतेउरपालओ कओ, अभिसेक्कगं च हत्थिरयणं वासघरस्स हेट्ठा बद्धं अच्छइ, इओ अ एगा देवी हत्थिमिंठे आसत्ता, नवरं हत्थी चोंवालया (माला) ओ हत्थेण अवतारेति, पभाए परिणीणेति, एवं वच्चति कालो। अण्णया अ एगाए रयणीए चिरस्स आगता, हत्थिमिंठेण अ रुट्ठेण हत्थिसंकलाए आहया, सा भणति—एआरिसो तारिसो अ ण सुव्वति, मा मम रूसह, तं थेरो पिच्छइ, चिंतिअं च णेण—एवं पि रक्खिज्जमाणीओ एआओ एवं ववहरंति, किं पुण ताओ सदा सच्छंदाउ'त्ति ? सुत्तो, पभाए सव्वलोओ उट्ठिओ, सो ण उट्ठेति, रण्णो कहिअं, रण्णा भणिअं—सुवउ, चिरस्स अ उट्ठिओ, पुच्छिओ अ, कहितं सव्वं, भणति—जहा एगा देवी, ण जाणामि कतरावि, तओ राइणा भंडहत्थी काराविओ, भणिताओ—एअस्स अच्चणिअं काऊण ओलंडेह, तओ सव्वाहिं ओलंडिओ, एगा णेच्छति, भणइ अ—अहं बीहेमि, तओ रण्णा उप्पलेण आहया, मुच्छिता पडिता, रण्णा जाणितं—एसा कारित्ति, भणिअं च णेण——

मत्तगयमारुहंतीए भंडमयस्स गयस्स बीहीहि।
तत्थ ण मुच्छिता संकलाहया एत्थ सि मुच्छितोप्पलाहया ॥ १ ॥

तओ सरीरं जोइअं, जाव संकलापहारो दिट्ठो, तओ परुट्ठेण रण्णा देवी, मिंठो, हत्थी य तिण्णिवि छिण्णकडए चडावितानि, भणिओ अ मिंठो—एत्थं वाहेहि हत्थिं, दोहि य पासेहिं वेलुग्गाहा ठविया जाव एगो पाओ आगासे ठविओ, जणो भणति—किं एस तिरिओ जाणाति ? एआणि मारियव्वाणि, तहावि राया रोसेणं ण मुंचति, तओ तिण्णि पादा आगासे कता, एगेणाट्ठिओ, लोएण आकंदो कतो—किमेयं हत्थिरयणं विणासिज्जति ? रण्णा मिंठो भणिओ—तरसि णिअत्तिउं ? भणति—जदि दुअगाणं वि अभयं देसि, दिण्णं, तओ तेण अंकुसेण णियट्टिओ हत्थित्ति ''। दार्ष्टान्तिकयोजना कृतैवेति ॥ १० ॥

एवं करंति संबुद्धा पंडिआ पविअक्खणा ।
विणिअट्टंति भोगेसु जहा से पुरिसोत्तमो ॥ ११ ॥ त्ति बेमि ।

छा० **एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।**
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः, यथा स पुरुषोत्तमः ॥ ११ ॥ इति ब्रवीमि ।

'एवं करंति०'—एवं कुर्वन्ति संबुद्धा बुद्धिमन्तो बुद्धाः सम्यग्दर्शनसाहचर्येण दर्शनैकीभावेन वा बुद्धाः सम्बुद्धा विदितविषयस्वभावाः सम्यग्दृष्टय इत्यर्थः, त एव विशिष्यन्ते—'पण्डिताः प्रविचक्षणाः, तत्र पण्डिता दर्शनपरिणामवन्तः प्रविचक्षणाश्चरणपरिणामवन्तः'। अन्ये तु व्याचक्षते—सम्बुद्धाः सामान्येन बुद्धिमन्तः पण्डिता वान्तभोगाऽऽसेवनदोषज्ञाः प्रविचक्षणा अवद्यभीरव इति, किं कुर्वन्ति ? विनिवर्तन्ते भोगेभ्यो यथा, क इत्यत्र आह—

यथासौ पुरुषोत्तमः—रथनेमिः, आह कथं तस्य पुरुषोत्तमत्वं यो हि प्रव्रजितोऽपि विषयाभिलाषीत्युच्यते ? तथाभिलाषेऽप्यप्रवृत्तेः, कापुरुषस्त्वभिलाषाऽनुरूपं चेष्टत एवेति । अपरस्त्वाह—दशवैकालिकं नियतश्रुतमेव यत उक्तम्—

" णायज्झयणा हरणा इसिभासिअ भो पइण्णय सुआ य ।
ते हुंति चाणियता णिअयं पुण सेसमुस्सण्णं " ॥ १ ॥

तत्कथमभिनवोत्पन्नमिदमुदाहरणं युज्यते ? इत्युच्यते—एवम्भूतार्थस्यैव नियतसूत्रेऽपि भावात्, दुस्सहग्रहणाच्चादोषः, प्रायो नियतं न तु सर्वथा नियतमेवेत्यर्थः, ब्रवीमि इति न स्वमनीषिकया किन्तु तीर्थकरगणधरोपदेशेनेति ॥ ११ ॥ दशवैकालिकश्रुतस्कन्धे द्वितीयं श्रामण्यपूर्विकाध्ययनं व्याख्यातम् ।

॥ सामण्णपुव्विअज्झयणं बिईअं ॥

॥ श्रामण्यपूर्विकाध्ययनं द्वितीयम् ॥



॥ तृतीयाध्ययनम् ॥



व्याख्यातं श्रामण्यपूर्विकाध्ययनम्, इदानीं तु क्षुल्लिकाचारकथाख्यमारभ्यते । अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तराध्ययने धर्माभ्युपगमे सति मा भूदभिनवप्रव्रजितस्याधृतेः संमोह इत्यतो धृतिमता भवितव्यमित्युक्तम्, इह तु सा धृतिराचारे कार्या, न त्वनाचारे कार्या, अयमेवात्मसंयमोपाय इत्येतदुच्यते, उक्तं च—

" तस्यात्मा संयतो यो हि सदाचारे रतः सदा ।
स एव धृतिमान् धर्मस्तस्यैव हि जिनोदितः " ॥ १ ॥

इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनमिति ।

संजमे सुट्ठिअप्पाणं विप्पमुक्काण ताइणं ।
तेसिमेयमणाइण्णं निग्गंथाण महेसिणं ॥ १ ॥

छा० **संयमे सुस्थितात्मनां विप्रमुक्तानां त्रायिणाम् ।**
तेषामेतदनाचीर्णं निर्ग्रन्थानां महर्षीणाम् ॥ १ ॥

'संजमे०'—संयमे प्राङ्निरूपितस्वरूपे शोभनेन प्रकारेण आगमनीत्या स्थित आत्मा येषां ते तथा, तेषाम्, त एव विशिष्यन्ते—विविधमनेकप्रकारैः प्रकर्षेण भावसारं मुक्ता बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन इति विप्रमुक्तास्तेषां, त एव

वि०—त्रायन्ते आत्मानं परमुभयञ्चेति त्रातारः, आत्मानं प्रत्येकबुद्धाः, परं तीर्थंकराः, स्वतस्तीर्णत्वादुभयं स्थविरा इति। तेषामिदं वक्ष्यमाणलक्षणम्, अनाचरितम्—अकल्पम्, केषाम्? इत्याह—निर्ग्रन्थानां—साधूनाम्, इत्यभिधानमेतत्, महान्तश्च ते ऋषयश्च महर्षयः, यतय इत्यर्थः। तेषामिह च पूर्वपूर्वभाव एवोत्तरोत्तरभावो नियतो हेतुहेतुमद्भावेन वेदितव्यः, यत एव संयमे सुस्थितात्मानः, अत एव विप्रमुक्ताः, संयमसुस्थिताऽत्मनिबन्धनत्वाद्विप्रमुक्तेः, एवं शेषेष्वपि भावनीयम्, अन्येतु पश्चानुपूर्व्या हेतुहेतुमद्भावमित्थं वर्णयन्ति—यत एव महर्षयः, अत एव निर्ग्रन्थाः, एवं शेषेष्वपि द्रष्टव्यम् इति ॥ १ ॥ साम्प्रतं यदनाचरितं तदाह——

उद्देसिअं कीअगडं निआगमभिहडाणि अ।
राइभत्ते सिणाणे अ गंधमल्ले अ वीअणे ॥ २ ॥

छा० **औद्देशिकं क्रीतकृतं, नियोगिकमभ्याहृतानि च।**
रात्रिभक्तं स्नानं च, गन्धमाल्ये च वीजनम् ॥ २ ॥

'उद्देसिअं०'—साध्वाद्याश्रित्य—दानारम्भस्येत्युद्देशः, तत्रभवमौद्देशिकम्। क्रयणं क्रीतं [भावे क्तः प्र०, साध्वादिनिमित्तमिति गम्यते] तेन कृतं क्रीतकृतम्, 'निआग'मिति—आमन्त्रितस्य पिण्डस्य ग्रहणं नित्यं नत्वनामन्त्रितस्य, 'अभिहडाणि'त्ति स्वग्रामादेः साधुनिमित्तमभिमुखमानीतमभ्याहृतम् [बहुवचनं स्वपरग्रामनिशीथादिभेदख्यापनार्थम्] तथा रात्रिभोजनं दिवसगृहीतदिवसभक्तादिचतुर्भङ्गिलक्षणम्, देशस्नानम्—अधिष्ठानशौचातिरेकेण अक्षि-

पक्ष्मप्रक्षालनं, सर्वस्नानं प्रतीतम्, तथा गन्धमाल्ये वीजनं च गन्धग्रहणात्कोष्टपुटादिपरिग्रहः, माल्यग्रहणाच्च ग्रथित-वेष्टिमादेर्माल्यस्य, वीजनं तालवृन्तादिना घर्मे, इदमनाचरितम्, दोषाश्चौद्देशिकादिषु आरम्भप्रवर्तनादयः स्वधिया वाच्याः ॥ २ ॥

संनिही गिहिमत्ते अ रायपिंडे किमिच्छए ।
संबाहणा दंतपहोअणा य संपुच्छणा देहपलोअणा य ॥ ३ ॥

सन्निधिर्गृहिमात्रं च राजपिण्डः किमिच्छकः ।
सम्बाधनं दन्तप्रधावनं च सम्प्रश्नः (सम्प्रच्छना) देहप्रलोकनं च ॥ ३ ॥

'संनिही०'—सन्निधीयतेऽनया दुर्गतावात्मेति सन्निधिः—घृतगुडादीनां सञ्चयक्रिया, गृहिमात्रं च गृहस्थभाजनं च, तथा च राजपिण्डो नृपाऽऽहारः, कः किमिच्छतीत्येवं यो दीयते स किमिच्छकः, तथा सम्बाधनम्—अस्थिमांसत्व-ग्रोमसुखतया चतुर्विधमर्दनम्, दन्तप्रधावनं च अङ्गुल्यादिना क्षालनम्, तथा सम्प्रश्नः—सावद्यो गृहस्थविषयः, राढार्थं कीदृशो वाऽहमित्यादिरूपः, देहप्रलोकनं च आदर्शादौ, दोषाश्च सन्निधिप्रभृतिषु परिग्रहप्राणातिपातादयः स्वधिया वाच्याः ॥ ३ ॥

अट्ठावए अ नालीए छत्तस्स य धारणट्ठाए ।
तेगिच्छं पाणहा पाए समारंभं च जोइणो ॥ ४ ॥

छा० अष्टापदं च नालिका, छत्रस्य च धारणमनर्थाय ।
चैकित्स्यमुपानहौ पादयोः, समारम्भश्च ज्योतिषः ॥ ४ ॥

'अट्ठावए०'—अष्टापदं च इति अष्टापदं द्यूतम्, अर्थपदं वा गृहस्थमाधिकृत्य नीत्यादिविषयम्, तथा नालिका चेति द्यूतविशेषलक्षणा यत्र मा भूत् कलयाऽन्यथा पाशपातनमिति नालिकया पात्यते इति, अष्टापदेन सामान्यतो द्यूतग्रहणे सत्यपि अभिनिवेशानिबन्धनत्वेन नालिकायाः प्राधान्यख्यापनार्थम् भेदेनोपादानम्, अर्थपदमेवोक्तं तादित्यन्येऽभिदधाति, अस्मिन्पक्षे सकलद्यूतोपलक्षणार्थं नालिकाग्रहणम् अष्टापदद्यूतविशेषपक्षे चोभयोरिति, तथा छत्रस्य च लोकप्रसिद्धस्य धारणम्, आत्मानं परञ्च प्रत्यनर्थाय इति, आगाढग्लानाद्यालम्बनं मुक्त्वा अनाचरितम् [प्राकृतशैल्यात्र अनुस्वारलोपः, अकारनकारलोपौ च द्रष्टव्यौ, तथा च श्रुतिप्रामाण्यादिति] तथा नेच्छन्ति चिकित्साया भावश्चैकित्स्यम्, उपानहौ पादयोरिति साभिप्रायकं न त्वापत्कल्पपरिहारार्थमुपग्रहधारणेन, तथा समारम्भणं च ज्योतिषोऽग्नेः, दोषा अष्टापदादीनां क्षुण्णा एवेति ॥ ४ ॥

सिज्जायरपिंडं च आसंदी पलिअंकए ।
गिहंतरनिसिज्जा य गायस्सुव्वट्टणाणि अ ॥ ५ ॥

छा० शय्यातरपिण्डश्च आसन्दीपर्यङ्कौ ।
गृहान्तरनिषद्या च गात्रस्योद्वर्तनानि च ॥ ५ ॥

'सिज्जायर०'–शय्यातरपिण्डः–शय्या–वसतिः, तया तरति संसारमिति शय्यातरः–साधुवसतिदाता तत्पिण्डः, तथा आसन्दकपर्यङ्कौ–आसन्दको मञ्चकः, पर्यङ्कः पल्यङ्कः, तथा गृहान्तरनिषद्या च–गृहमेव गृहान्तरम् गृहयोर्वाऽपान्तरालं तत्रोपवेशनं, 'च' शब्दात् पाटकादिग्रहः, तथा गात्रस्य–कायस्योद्वर्तनानि च, उद्वर्तनानि–पङ्कापनयनलक्षणानि, 'च' शब्दादन्यसंस्कारपरिग्रहः ॥ ५ ॥

गिहिणो वेआवडिअं जा य आजीववत्तिया ।
तत्तानिव्वुडभोइत्तं आउरस्सरणाणि अ ॥ ६ ॥

छा० **गृहिणो वैयावृत्यं, या च आजीववृत्तिता ।**
तप्ताऽनिर्वृतभोजित्वम्, आतुरस्मरणानि च ॥ ६ ॥

'गिहिणो०'–गृहिणो–गृहस्थस्य वैयावृत्यमिति व्यावृत(स्य)भावो वैयावृत्यं गृहस्थं प्रति अन्नादिसम्पादनमित्यर्थः, तथा या चाऽऽजीववृत्तिता–जातिकुलगणकर्मशिल्पानामाजीवनमाजीवः, तेन वृत्तिस्तद्भाव आजीववृत्तिता, जात्याद्याजीवनेन आत्मपालनेत्यर्थः, इयञ्च अनाचारिता, तथा तप्ताऽनिर्वृतभोजित्वं तप्तञ्च तदनिर्वृतञ्च अत्रिदण्डोद्वृतं चेति विग्रहः, उदकमिति विशेषणान्यथानुपपत्त्या गम्यते, तद्भोजित्वं मिश्रसचित्तोदकभोजित्वम् इत्यर्थः, तथा आतुरस्मरणानि च क्षुधाद्यातुराणां पूर्वोपभुक्तस्मरणानि च, आतुरशरणानि च दोषातुराश्रयदानानीति ॥ ६ ॥

मूलए सिंगबेरे अ इ (उ) च्छुखंडे अनिव्वुडे ।
कंदे मूले अ सच्चित्ते फले बीए अ आमए ॥ ७ ॥

छा० मूलकः शृङ्गवेरं च इक्षुखण्डमनिर्वृतम् ।
कन्दो मूलं च सचित्तं फलं बीजं चामकम् ॥ ७ ॥

'मूलए०'—मूलको लोकप्रतीतः, शृङ्गवेरं चार्द्रकञ्च, तथेक्षुखण्डं च लोकप्रतीतम्, अनिर्वृतग्रहणं सर्वत्राभिसंबध्यते। अनिर्वृतम् अपरिणतम्, इक्षुखण्डं वाऽपरिणतं द्विपर्वान्तं यद्वर्तते, तथा कन्दः—वज्रकन्दादि, मूलञ्च सट्टामूलादि, साचित्तं, तथा फलं च त्रपुषादि, बीजञ्च तिलादि, आमकं—सचित्तम् ॥ ७ ॥

सोवच्चले सिंधवे लोणे रु (रो) मालोणे अ आमए ।
सामुद्दे पंसुखारे अ कालालोणे अ आमए ॥ ८ ॥

छा० सौवर्चलं सैन्धवं लवणं रुमालवणं चामकम् ।
सामुद्रं पांशुक्षारश्च कृष्णलवणं चामकम् ॥ ८ ॥

'सोवच्चले०'—सौवर्चलम्, सैन्धवम्, लवणञ्च—साम्भरिलवणं, रुमालवणं च, आमकमिति साचित्तम्, सामुद्रं समुद्रलवणमेव, पांशुक्षारश्चोषरलवणं, कृष्णलवणञ्च, सैन्धवलवणं पर्वतैकदेशजम् ॥ ८ ॥

धूवणित्ति वमणे अ वत्थीकम्म विरेयणे ।
अंजणे दंतवणे अ गायब्भंगविभूसणे ॥ ९ ॥
छा० धूपनमिति वमनं च वस्तिकर्म विरेचनम् ।
अञ्जनं दन्तवनं(काष्ठं) च गात्राभ्यङ्गाविभूषणे ॥ ९ ॥

'धूवणित्ति०'—धूपनमित्यात्मवस्त्रादेः, अनागतव्याधिनिवृत्तये, धूम्रपानमित्यन्ये व्याचक्षते, वमनं—मदनफलादिना, वस्तिकर्म—पुटकेनाधिष्ठाने स्नेहदानम्, विरेचनं दन्त्यादिना, तथाञ्जनं रसाञ्जनादिना, दन्तकाष्ठं च प्रतीतम्, तथा गात्राभ्यङ्गस्तैलादिना, विभूषणं गात्राणामेवेति ॥ ९ ॥ क्रियासूत्रमाह——

सव्वमेअमणाइण्णं निग्गंथाण महेसिणं ।
संजमंमि अ जुत्ताणं लहुभूअविहारिणं ॥ १० ॥
छा० सर्वमेतदनाचीर्णं निर्ग्रन्थानां महर्षीणाम् ।
संयमे च युक्तानां लघुभूतविहारिणाम् ॥ १० ॥

'सव्वमेअं०'—सर्वमेतदौद्देशिकादि यदनन्तरमुक्तम् तदनाचरितम्, केषाम्? इत्याह—निर्ग्रन्थानां महर्षीणां साधूनामित्यर्थः, त एव विशेष्यन्ते—संयमे 'च' शब्दात्तपसि युक्तानां लघुभूतविहारिणां—लघुभूतो वायुः,

ततश्च वायुभूतोऽप्रतिबद्धतया विहारो येषां ते लघुभूतविहारिणः[1], तेषां, किमित्यनाचरितम् ॥ १० ॥ यतस्त एवम्भूता भवन्ति, इत्यत आह—

पंचासवपरिण्णाया तिगुत्ता छसु संजया ।
पंचनिग्गहणा धीरा निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥ ११ ॥

छा० पञ्चास्रवपरिज्ञातास्त्रिगुप्ताः षट्सु संयताः ।
पञ्चनिग्रहणा धीरा निर्ग्रन्था ऋजुदर्शिनः ॥ ११ ॥

'पंचासव०'—पञ्चास्रवा—हिंसादयः, परिज्ञाता द्विविधया परिज्ञया ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यान—परिज्ञया च परिसमन्ताद् ज्ञाता यैस्ते पञ्चास्रवपरिज्ञाताः [आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वात् न क्तस्य पूर्वनिपातः, प्रादिसमासो युक्त एव]परिज्ञातपञ्चास्रवा इति वा, यत एव च एवम्भूता अत एव त्रिगुप्तिभिः—मनोवाक्कायगुप्तिभिः (गुप्ताः), षट्सुंयताः, 'पंचनिग्गहणा' इति पञ्चानां निग्रहणाः पञ्चानिग्रहणाः पञ्चानामिन्द्रियाणाम्, धीरा—बुद्धिमन्तः स्थिरा वा, निर्ग्रन्थाः—साधवः, ऋजुदर्शिन इति ऋजुर्मोक्षं प्रति ऋजुत्वात्संयमः, तं पश्यन्ति उपादेयतया इति ऋजुदर्शिनः संयमप्रतिबद्धा इति ॥ ११ ॥

आयावयंति गिम्हेसु हेमंतेसु अवाउडा ।
वासासु पडिसंलीणा संजया सुसमाहिआ ॥ १२ ॥

१ लघुभूतविहारा इति भाव्यं, तथापि प्राच्यत्वान्मूलं न परिवर्तितम् ।

छा० आतापयन्ति ग्रीष्मेषु हेमन्तेष्वप्रावृताः ।
वर्षासु प्रतिसंलीनाः संयताः सुसमाहिताः ॥ १२ ॥

'आयावयंति०'—आतापयन्त्यूर्ध्वस्थानादिना उष्णकाले, तथा हेमन्तेषु अप्रावृताः प्रावरणरहितास्तिष्ठन्ति, वर्षासु प्रतिसंलीना इति एकाश्रयस्था भवन्ति, संयताः सुसमाहिता ज्ञानादिषु यत्नपराः [ग्रीष्मादिषु बहुवचनं प्रातिवर्षकरणज्ञापनार्थम्] ॥ १२ ॥

परीसहरिऊदंता धुअमोहा जिइंदिआ ।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो ॥ १३ ॥

छा० परीषहरिपुदान्ता धुतमोहा जितेन्द्रियाः ।
सर्वदुःखप्रहाणार्थं प्रक्राम्यन्ति महर्षयः ॥ १३ ॥

'परीसह०'—मार्गाऽच्यवनेन निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः क्षुत्पिपासादयस्त एव रिपवस्तत्तुल्यधर्मत्वात्, परीषहरिपवस्ते दान्ता—उपशमं नीता यैस्ते परीषहरिपुदान्ताः, [समासः पूर्ववत्] तथा धुतमोहाः क्षिप्तमोहा इत्यर्थः, मोहोऽज्ञानम्, तथा जितेन्द्रियाः शब्दादिषु द्वेषरहिताः, त एवम्भूताः सर्वदुःखप्रक्षयार्थं शारीरमानसाऽशेषदुःखप्रक्षयार्थं प्रक्रामन्ति—प्रवर्तन्ते महर्षयः-साधवः ॥ १३ ॥

दुक्कराइं करित्ताणं दुस्सहाइं सहि(हे)त्तु य।
के इत्थ देवलोएसु केइ सिज्झंति नीरया॥ १४॥

छा० दुष्कराणि कृत्वा दुःसहानि सहित्वा च।
केचनात्र देवलोकेषु केचन सिध्यन्ति नीरजस्काः॥ १४॥

'दुक्कराइं०'—एवं दुष्कराणि कृत्वा औद्देशिकत्यागादीनि, तथा दुस्सहानि सहित्वाऽऽतापनादीनि, केचन तत्र देवलोकेषु सौधर्मादिषु गच्छन्तीति वाक्यशेषः, तथा केचन सिध्यन्ति तेनैव भवेन सिद्धिं प्राप्नुवन्ति [वर्तमाननिर्देशः सूत्रस्य त्रिकालविषयत्वज्ञापनार्थः] नीरजस्का अष्टविधकर्मविप्रमुक्ता नत्वेकेन्द्रिया इव कर्मयुक्ता एवेति ॥ १४ ॥

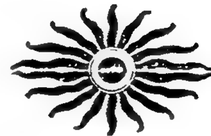
खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता ताइणो परिनिव्वुडा॥ १५॥ त्ति बेमि।

छा० क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि संयमेन तपसा च।
सिद्धिमार्गमनुप्राप्ताः, त्रायिणः परिनिर्वृताः॥ १५॥ इति ब्रवीमि।

'खवित्ता०'–ते देवलोकाच्च्युताः क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि सावशेषाणि, केनेत्याह–संयमेन उक्तलक्षणेन तपसा च एवं प्रवाहेण सिद्धिमार्गं सम्यग्दर्शनादिलक्षणमनुप्राप्ताः सन्तस्त्रातार आत्मादीनां परिनिर्वान्ति सर्वथा सिद्धिं प्राप्नुवन्ति ॥ १५ ॥ इति क्षुल्लिकाचारकथाध्ययनाऽवचूरिः ।

॥ खुड्डिआयारज्झयणं तईअं ॥

॥ क्षुल्लिकाचाराध्ययनं तृतीयम् ॥



॥ चतुर्थाध्ययनम् ॥



क्षुल्लिकाचारकथायामाचारे धृतिः कार्या इत्युक्तम्, सचाऽऽचारः प्रायः षड्जीवनिकायगोचर इत्येतदुच्यते, उक्तञ्च—

" छसु जीवनिकायेसु, जे बुहे संजए सया ।
से चेव होइ विण्णेए, परमत्थेण संजए " ॥ १ ॥ इति ।

" जीवाऽजीवाहिगमो१, चरित्तधम्मो२ तहेव जयणा य३ ।
उवएसो४ धम्मफलं५, छज्जीवणिआइ अहिगारा " ॥ २ ॥

जीवाऽजीवाऽभिगमः १, प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपः २, पृथिव्यादिष्वारम्भ–परिहार–यत्नः ३, उपदेशः ४, अनुत्तरज्ञानादि ५ । " पूर्वोक्ताधिकारसम्पन्नस्य षड्जीवनिकाध्ययनस्येदमादिसूत्रम् "—

सुअं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं । इह खलु छज्जीवणिआ नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइआ सुअक्खाया सुपण्णत्ता । सेअं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ती । कयरा खलु सा छज्जीवणिआ नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइआ सुअक्खाया सुपण्णत्ता सेअं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ती ? इमा खलु सा छज्जीवणिआ नामज्झयणं

समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइआ सुअक्खाया सुपण्णत्ता सेअं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपण्णत्ती । तंजहा—पुढवीकाइआ १, आउकाइआ २, तेउकाइआ ३, वाउकाइआ ४, वणस्सइ-काइआ ५, तसकाइआ ६ ।

छा० श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह खलु षड्जीवनिका नामाध्ययनं (एषा षड्जीवनिका) श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता । श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः । कतरा खलु सा षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ? इमा खलु सा षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयो मेऽध्येतु-मध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः । तद्यथा—पृथ्वीकायिकाः, अप्कायिकाः, तेजस्कायिकाः, वायुकायिकाः, वनस्पति-कायिकाः, त्रसकायिकाः ।

'सुअं मे०'—श्रूयते तदिति श्रुतम्, प्रतिविशिष्टाऽर्थप्रतिपादनफलं वाग्योगमात्रं भगवता निसृष्टमात्मीय-श्रवणकोटरप्रविष्टम्, क्षायोपशमिकभावपरिणामाऽऽविर्भावकारणं श्रुतमित्युच्यते, 'मया' इत्यात्मपरामर्शः, आयुरस्याऽ-स्तीत्यायुष्मान्, तस्याऽऽमन्त्रणं हे आयुष्मन् ! कः कमेवमाह—सुधर्मा जम्बूस्वामिनमिति, 'तेनेति भुवनभर्तुः परा-मर्शः, भगः समग्रैश्वर्यादिलक्षणः, सोऽस्याऽस्तीति भगवान्, तेन भगवता श्रीवर्धमानस्वामिनेत्यर्थः, एवमिति प्रकार-वचनः शब्दः, आख्यातमिति केवलज्ञानेनोपलभ्याऽऽवेदितम्, किम् ? अत आह—' इह खलु षड्जीवनिका नामाऽ-

ध्ययनमस्तीति वाक्यशेषः,' इहेति लोके प्रवचने वा, 'खलु' शब्दादन्यतीर्थकृत्प्रवचनेषु, षड्जीवनिकायिकेति पूर्ववत्, नामेत्यभिधानम्, अध्ययनं श्रुतविशेषः, इह च 'श्रुतं मयेत्यनेनाऽऽत्मपरामर्शेनैकान्तक्षणभङ्गाऽपोहमाह', तत्रेत्थम्भूताऽर्थाऽनुपपत्तेरिति, उक्तञ्च—

" एगंतखणिअपक्खे, गहणं चिअ सव्वहा ण अत्थाणं ।
अणुसरणसासणाई, कुओ उ तेलुक्कसिद्धाइं " ॥ १ ॥

तथा—आयुष्मन्निति च प्रधानगुणनिष्पन्नेनाऽऽमन्त्रणवचसा गुणवते शिष्यायाऽऽगमरहस्यं देयं नाऽगुणवते, इत्याह, तदनुकम्पाप्रवृत्तेरिति, उक्तञ्च—

" आमे घडे निहत्तं, जहा जलं तं घडं विणासेइ ।
इअ सिद्धंत-रहस्सं, अप्पाहारं विणासेइ " ॥ १ ॥

आयुश्च प्रधानो गुणः सति तस्मिन्नव्यवच्छित्तिभावात्, तथा तेन भगवतैवमाख्यातमित्यनेन स्वमनीषिकानिरासाच्छास्त्रपारतन्त्र्यप्रदर्शनेन नह्यसर्वज्ञेनाऽनात्मवताऽन्यतस्तथाभूतात् सम्यङ्(ग)निश्चित्य परलोकदेशना कार्या, इत्येतदाह, विपर्ययसम्भवात्, उक्तञ्च—

" किं एत्तो पावयरं, सम्मं अणहिगतधम्मसब्भावो ।
अण्णं कुदेसणाए, कट्ठयरागंमि पाडेति " ॥ १ ॥

अथवाऽन्यथा व्याख्यायते 'सूत्रैकदेशः'–'आउसं तेणं ' ति भगवत एव विशेषणम्, आयुष्मता भगवता चिरजीविनेत्यर्थः, मङ्गलवचनं चैतत्, अथवा जीवता साक्षादेव, अनेन गणधरस्य परम्पराऽऽगमस्य जीवनविमुक्ताऽनादिशुद्धवक्तुश्चाऽपोहमाह, देहाऽऽद्यभावेन तथाविधप्रयत्नाऽभावात्, उक्तञ्च—

" वयणं न कायजोगा,–भावेण य सो अणादिसुद्धस्स ।
गहणंमि अ णो हेऊ, सत्थं अत्तागमो कहणु " ॥ १ ॥

अथवा 'आवसंतेणं' ति गुरु(पाद)मूलमावसता, अनेन च शिष्येण गुरुचरणसेविना सदा भाव्यमित्येतदाह, ज्ञानादिवृद्धिसद्भावात्, उक्तञ्च—

" णाणस्स होइ भागी, थिरतरओ दंसणे चरित्ते अ ।
धण्णा आवकहाए, गुरुकुलवासं ण मुंचंति " ॥ १ ॥

अथवा 'आमुसंतेणं' ति आमृशता भगवत्पादारविन्दयुगलमुत्तमाङ्गेन, अनेन च विनयप्रतिपत्तेर्गरीयस्त्वमाह, विनयस्य मोक्षमूलत्वात्, उक्तञ्च—

" मूलं संसारस्स उ, होंति कसाया अणंतपत्तस्स ।
विणओ ठाणपउत्तो, दुक्खविमोक्खस्स मोक्खस्स " ॥ १ ॥

इह खलु षड्जीवनिकायिका नामाऽध्ययनमस्तीत्युक्तम्, सा च तेन भगवता श्रमणेन महावीरेण, कषाय-शत्रुजयान्महावीरः, उक्तञ्च—

" विदारयति यत्कर्म, तपसा च विराजते ।
तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः " ॥ १ ॥

महांश्चासौ वीरश्चेति महावीरः, तेन महावीरेण, 'कासवेणं' ति काश्यपगोत्रेण प्रवेदिता, नाऽन्यतः कुतश्चिदाकर्ण्य ज्ञाता किन्तर्हि ? स्वयमेव केवलाऽऽलोकेन प्रकर्षेण वेदिता प्रवेदिता विज्ञाता इत्यर्थः, तथा स्वाख्यातेति सदेवमनुष्याऽसुरायां पर्षदि सुष्ठु आख्याता, तथा सुप्रज्ञप्तेति सुष्ठु प्रज्ञप्ता तथैव सुष्ठु सूक्ष्मं परिहाराऽऽसेवनेन प्रकर्षेण सम्यगासेवितेत्यर्थः, [अनेकार्थत्वाद्धातूनां ज्ञपिरासेवनार्थः] तां चैवम्भूतां षड्जीवनिकायिकां श्रेयो मेऽध्येतुम्, श्रेयः पथ्यं—हितम्, ममेत्यात्मनिर्देशः, छान्दसत्वात् सामान्येन ममेत्यात्मनिर्देश इत्यन्ये । ततश्च श्रेय आत्मनोऽध्येतुं पठितुम्, कुतः ? इत्याह—'अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः' [निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनम्—इति वचनात्-हेतौ प्रथमा] अध्ययनत्वात्—अध्यात्माऽऽनयनात्—चेतसो विशुद्ध्यापादनादित्यर्थः । एतदेव कुतः ? इत्याह—धर्मप्रज्ञप्तेः, प्रज्ञपनं—प्रज्ञप्तिः, धर्मस्य प्रज्ञप्तिर्धर्मप्रज्ञप्तिः, ततो धर्मप्रज्ञप्तेः कारणात्, चेतसो विशुद्ध्यापादनाच्च श्रेय आत्मनोऽध्येतुमिति । अन्येतु व्याचक्षते—'अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिरिति, पूर्वोपन्यस्ताऽध्ययनस्यैवोपादेयतयाऽनुवादमात्रमेतदिति' ।

शिष्यः पृच्छति—'कतरा खल्वित्यादि' सूत्रमुक्तार्थमेव, अनेनैतद्दर्शयति—'विहायाऽभिमानं संविग्नेन शिष्येण सर्वकार्येष्वेव गुरुः प्रष्टव्य इति,' आचार्य आह—'इमा खलु'—इत्यादि सूत्रमुक्तार्थमेव, अनेनाऽप्येतद्दर्शयति—'गुणवते शिष्याय गुरुणाऽप्युपदेशो दातव्य एवेति,' 'तं जहा—पुढवीकाइआ' इत्यादि, अत्र 'तद्यथे'त्युदाहरणोपन्यासार्थः, पृथ्वी—काठिन्यादिलक्षणा, सैव कायः शरीरं येषां ते पृथ्वीकायाः, एत एव पृथ्वीकायिकाः, [स्वार्थिकष्ठक्] एवं सर्वत्र ज्ञेयम् । आपो—द्रवाः प्रतीता एव । तेज—उष्णलक्षणम् । वायुश्चलनधर्मा । वनस्पतिर्लतादिरूपः । त्रसनशीलास्त्रसाः । इह च सर्वभूताऽऽधारत्वात्पृथिव्याः प्रथमं पृथ्वीकायिकानामभिधानम्, तदनन्तरं तत्प्रतिष्ठितत्वादप्कायिकानाम्, तदनन्तरं तत्प्रतिपक्षत्वात्तेजस्कायिकानाम्, तदनन्तरं तेजस उपष्टम्भकत्वाद्वायुकायिकानाम्, तदनन्तरं वायोः शाखाप्रचलनादिगम्यत्वाद्वनस्पतिकायिकानाम्, तदनन्तरं वनस्पतेस्त्रसोपग्राहकत्वात् त्रसकायिकानामिति । विप्रतिपत्तिनिरासाऽर्थं पुनराह—

पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अण्णत्थ सत्थपरिणएणं । आऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अण्णत्थ सत्थपरिणएणं । तेउ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अण्णत्थ सत्थपरिणएणं । वाऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अण्णत्थ सत्थपरिणएणं । वणस्सई चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अण्णत्थ सत्थपरिणएणं, तंजहा—अग्गबीआ, मूलबीआ, पोरबीआ, खंधबीआ, बीअरुहा, सम्मुच्छिमा, तणलया, वणस्सइकाइआ सबीआ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अण्णत्थ सत्थपरिणएणं ।

छा० पृथ्वी चित्तवत्याख्याता अनेकजीवा पृथक्सत्त्वा, अन्यत्र शस्त्रपरिणतायाः। आपश्चित्तवत्य आख्याता अनेकजीवाः पृथक्सत्त्वाः, अन्यत्र शस्त्रपरिणताभ्यः । तेजश्चित्तवदाख्यातमनेकजीवं पृथक्सत्त्वम्, अन्यत्र शस्त्रपरिणतात् । वायुश्चित्तवानाख्यातोऽनेकजीवः पृथक्सत्त्वः, अन्यत्र शस्त्रपरिणतात् । वनस्पतिश्चित्तवानाख्यातोऽनेकजीवः पृथक्सत्त्वः, अन्यत्र शस्त्रपरिणतात् । तद् (स) यथा-अग्रबीजाः, मूलबीजाः, पर्वबीजाः, स्कन्धबीजाः, बीजरुहाः, संमूर्च्छिमाः, तृणलताः, वनस्पतिकायिकाः सबीजाश्चित्तवन्त आख्याता अनेकजीवाः पृथक्सत्त्वाः, अन्यत्र शस्त्रपरिणतेभ्यः ।

'पुढवी चित्तमंतमक्खाया०'—पृथ्वी चित्तवती—सचैतन्या—सजीवेत्यर्थः, पाठान्तरं वा—'पुढवी चित्तमत्तमक्खाया०'—अत्र 'मात्र' शब्दः स्तोकवाची, यथा सर्षपस्य त्रिभागमात्रं वटस्य बीजं रसातले न्यस्तं भवति महत्तर(तरु)हेतुः, तद्वत् पात्रेऽल्पमपि दानमिति । ततश्च चित्तमात्रा स्तोकाचित्ता इत्यर्थः, तथा च प्रबलमोहोदयात्सर्वजघन्यं चैतन्यमेकेन्द्रियाणाम्, तदभ्यधिकं द्वीन्द्रियादीनामित्याख्यातं सर्वज्ञेन, इयञ्च अनेके जीवा यस्यां साऽनेकजीवा, न पुनरेकजीवा, यथा वैदिकानां 'पृथ्वी देवता' इत्येवमादि वचनप्रामाण्यादिति । अनेकजीवाऽपि कैश्चिदेकभूताऽऽत्माऽपेक्षयेष्यत एव, यथाऽऽहुरेके—

"एक एव हि भूताऽऽत्मा, भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत्" ॥ १ ॥

अत आह–पृथक्सत्त्वा(नि) आत्मानो यस्यां सा पृथक्-सत्त्वा, अङ्गुलासंख्येयभागमात्रावगाहनया पारमार्थिक्याऽनेकजीवसमाश्रिता-इति भावः । आह–'यद्येवं जीवपिण्डरूपा पृथ्वी ततस्तस्यामुच्चारादिकरणे नियमतस्तदतिपातादहिंसकत्वाऽनुपपत्तिः, इत्यसम्भवी साधुधर्मः,' इत्यत्राऽऽह–'अन्यत्र शस्त्रपरिणतायाः,' शस्त्रपरिणतां पृथ्वीं विहाय–परित्यज्य अन्या चित्तवत्याख्यातेत्यर्थः, स्वकायशस्त्रं कृष्णादिमृन्नीलादिमृदः शस्त्रम्, एवं गन्धरसस्पर्शभेदेऽपि शस्त्रयोजना कार्या, परकायशस्त्रं पृथ्वी-अप्-तेजः-प्रभृतीनाम्, ते वा पृथिव्याः, उभयशस्त्रम्–यथा कृष्णा मृद् उदकस्य स्पर्शरसगन्धादिभिः पाण्डुरमृदश्च, यदा कृष्णमृदा कलुषितमुदकं भवति, तदाऽसौ कृष्णमृद् उदकस्य पाण्डुमृदश्च शस्त्रं भवति, एष तावदागमः । अनुमानमप्यत्र विद्यते–'साऽऽत्मका विद्रुमलवणोपलादयः पृथ्वीविकाराः समानजातीयाऽङ्कुरोत्पत्त्युपलम्भात्,' देवदत्तमांसाङ्कुरवत् । एवमागमोपपत्तिभ्यां व्यवस्थितं पृथ्वीकायिकानां जीवत्वम्, उक्तञ्च–

"आगमश्चोपपत्तिश्च, सम्पूर्णं दृष्टिलक्षणम् ।
अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपादने" ॥ १ ॥
"आगमो ह्याप्तवचनम्, आप्तं दोषक्षयाद्विदुः ।
वीतरागोऽनृतं वाक्यं, न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात्" ॥ २ ॥

आपश्चित्तवत्य आख्याताः, साऽऽत्मकं जलम्, भूमिखातस्वभावसम्भवात्, दर्दुरवत्, चित्तवत् । साऽऽत्मकोऽग्निः–आहारेण वृद्धिदर्शनाद्बालकवत् । चित्तवान् साऽऽत्मकः पवनः–अपरप्रेरिततिर्यगनियमितदिग्गमनात्, गोवत् ।

सचेतनास्तरवः, सर्वत्वगपहरणे मरणात्, गर्दभवत्। वनस्पतिजीवविशेषप्रतिपादनायाऽऽह—'तंजहा अग्गबीआ', इत्यादि, तद्यथेत्युपन्यासार्थः, अग्रं बीजं येषां तेऽग्रबीजाः—कोरण्टकादयः, मूलं बीजं येषां ते मूलबीजाः—उत्पलकन्दादयः, पर्व बीजं येषां ते पर्वबीजाः—इक्ष्वादयः, स्कन्धो बीजं येषां ते स्कन्धबीजाः—सल्लक्यादयः, बीजाद्रोहन्तीति बीजरुहाः—शाल्यादयः, संमूर्च्छन्तीति संमूर्च्छिमाः—प्रसिद्धबीजाभावेन पृथ्वीवर्षादिसमुद्भवास्तथाविध-तृणादयः, न चैते न सम्भवन्ति, दग्धभूमावपि सम्भवात्, तृणलतादिग्रहणं स्वगताऽनेकभेदसंस्पर्शनार्थम्, वनस्पतिकायिकग्रहणं सूक्ष्मबादराद्यशेषवनस्पतिसंग्रहार्थम्। एतेन पृथिव्यादीनामपि स्वगताः पृथ्वीशर्करादयः, तथाऽवश्याय-मिहिकादयः, तथाऽङ्गारज्वालादयः, तथा झंझामण्डलकाऽऽदयो भेदाः सूचिता इति, सबीजाश्चित्तवन्त आख्याता इति। एतेह्यनन्तरोदिता वनस्पतिविशेषाः सबीजाः स्वस्वनिबन्धनाश्चित्तवन्तः—आत्मवन्त आख्याताः। एते चाऽनेक-जीवा इत्यादि ध्रुवगण्डिका पूर्ववत्। इदानीन्त्रसाऽधिकारे—एतदाह—

से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा। तंजहा—अंडया, पोअया, जराउआ, रसया, संसेइमा, संमुच्छिमा, उब्भिआ, उववाइआ, जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं, पडिक्कंतं, संकुचितं, पसारिअं, रुअं, भंतं, तसिअं, पलाइअं, आगइगइविण्णाया जे अ कीडपयंगा जा य कुंथुपिवी(पी)-लिआ, सव्वे बेइंदिआ, सव्वे तेइंदिआ, सव्वे चउरिंदिआ, सव्वे पंचिंदिआ, सव्वे तिरिक्खजोणिआ, सव्वे नेरइआ, सव्वे मणुआ, सव्वे देवा, सव्वे पाणा परमाहम्मिआ। एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाउत्ति पवुच्चइ।

छा० अथ ये पुनरिमेऽनेके बहवस्त्रसाः प्राणाः, ते यथा-अण्डजाः, पोतजाः, जरायुजाः, रसजाः, सस्वेदिमाः, संमूर्च्छिमाः, उद्भिज्जाः, औपपातिकाः, येषां केषाञ्चित्प्राणिनामभिक्रान्तं, प्रतिक्रान्तं, सङ्कुचितं, प्रसारितं, रुतं, भ्रान्त, त्रसितं, पलायितम्, आगतिगती विज्ञातारः, ये च कीटपतङ्गाः, याश्च कुन्थुपिपीलिकाः, सर्वे द्वीन्द्रियाः, सर्वे त्रीन्द्रियाः, सर्वे चतुरिन्द्रियाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियाः, सर्वे तिर्यग्योनयः, सर्वे नैरयिकाः, सर्वे मनुजाः, सर्वे देवाः, सर्वे प्राणिनः परमधर्माणः । एष खलु षष्ठो जीवनिकायस्त्रसकाय इति प्रोच्यते ।

'से जे पुण इमे०'–'से' शब्दोऽथशब्दार्थः, अथ ये पुनरमी बालादीनामपि प्रसिद्धा अनेके द्वीन्द्रियादिभेदेन बहव एकस्यां जातौ त्रसाः प्राणिनः– 'त्रस्यन्तीति त्रसाः' प्राणा उच्छ्वासादय एषां विद्यन्त इति प्राणिनः, तद्यथा– 'अंडजा' इत्यादि, एष खलु षष्ठो जीवनिकायस्त्रसकायः प्रोच्यत इति योगः, तत्र अण्डाज्जाता अण्डजाः–पक्षिगृहकोकिलादयः, पोतादिव जायन्ते पोतजाः, ते च हस्तिवल्गुलीचर्मजलौकाप्रभृतयः, जरायुवेष्टिता जायन्ते जरायुजाः–गोमहिष्यजावृकमनुष्यादयः, रसाज्जाता रसजाः–आरनालदधितेमनादिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा भवन्ति, संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजाः–मत्कुणयूकादयः, संमूर्च्छनाज्जाताः संमूर्च्छनजाः–शलभ-पिपीलिका-मक्षिका-शालूकादयः, उद्भेदजाः–पतङ्ग-खञ्जरीट-पारिप्लवादयः, उपपातजाः–देवा नारकाश्च, एतेषामेव लक्षणमाह–'येषां केषाञ्चित् सामान्येनैव प्राणिनां जीवानामभिक्रान्तं–प्रज्ञापकं

प्रत्यभिमुखं क्रमणमित्यर्थः,' एवं प्रतिक्रमणं—प्रतिक्रान्तं—प्रज्ञापकात् क्रमणमिति भावः, सङ्कुचनं—सङ्कुचितं गात्र-सङ्कोचकरणम्, प्रसारणं—प्रसारितं गात्रविततीकरणम्, रवणं—रुतं शब्दकरणम्, भ्रान्तामितश्चेतश्च गमनम्, त्रसनं—त्रस्तं दुःखोद्वेजनम्, पलायनं—पलायितं कुतश्चिन्नाशनम्, तथा—आगतेः कुतश्चित् क्वचित्, गतेश्च कुतश्चित् क्वचिदेव, " विण्णाया " इति विज्ञातारः । आह—' अभिक्रान्तप्रतिक्रान्ताभ्यां नाऽऽगतिगत्योः क्वचिद्भेदः,' इति किमर्थं भेदेनाऽभिधानम् ? उच्यते—विज्ञानविशेषख्यापनार्थम्, एतदुक्तं भवति—य एव विजानन्ति यथा वयमभिक्रामामः प्रतिक्रामामो वा त एव त्रसाः, ननु वृत्तिं प्रत्यभिक्रमणप्रतिक्रमणवन्तोऽपि वल्ल्यादय इति ? आह—एवमपि द्वीन्द्रिया-दीनामत्रसत्वप्रसङ्गः, अभिक्रमणप्रतिक्रमणभावेऽप्येवं विज्ञानाभावात्, नैतदेवम्, हेतुसंज्ञाया अवगतेः, बुद्धिपूर्वकमिव छायात उष्णम्, उष्णाद्वा छायां प्रति तेषामभिक्रमणादिभावात्, न चैवं वल्ल्यादीनामभिक्रमणादि, ओघसंज्ञायाः प्रवृत्तेरिति । त्रसभेदानाह—' जे अ कीड ' इत्यादि, ये च कीटपतङ्गा इत्यत्र कीटाः कृमयः [एकग्रहणेन तज्जातीयग्रहणमिति], द्वीन्द्रियाः—शङ्खादयोऽपि, पतङ्गाः—शलभाः, अत्राऽपि पूर्ववत्, चतुरिन्द्रिया भ्रमरादयो गृह्यन्ते । तथा याश्च कुन्थुपिपीलिका इत्यनेन त्रीन्द्रियाः सर्व एव गृह्यन्ते, अतएवाह—सर्वे द्वीन्द्रियाः—कृम्यादयः, सर्वे त्रीन्द्रियाः—कुन्थ्वादयः, सर्वे चतुरिन्द्रियाः—पतङ्गादयः । आह—'ये च कीटपतङ्गा इत्यादौ—उद्देशव्यत्ययः किमर्थः ? उच्यते—विचित्रा सूत्रगतिः, अतन्त्रः क्रम इति ज्ञापनार्थम्', सर्वे पञ्चेन्द्रियाः सामान्यतः, विशेषतास्तिर्यग्योनयो—गवादयः, सर्वे नारकाः—रत्नप्रभानारकादिभेदभिन्नाः, सर्वे मनुजाः—कर्मभूमिजादयः, सर्वे देवाः—भवनवास्यादयः । सर्वशब्दश्चाऽत्र अपरिशेषभेदानां त्रसत्वख्यापनार्थः, सर्व एवैते त्रसाः, न त्वेकेन्द्रिया इव त्रसाः स्थावराश्चेति, ' सर्वे

प्राणिनः परमधर्माण इति' सर्वे प्राणिनो द्वीन्द्रियादयः पृथ्व्यादयश्च, परमं—सुखं तद्धर्माणः सुखाभिलाषिण इत्यर्थः ।

एष खल्वनन्तरोदितः कीटादिः षष्ठो जीवनिकायः, पृथिव्यादिपञ्चकाऽपेक्षया षष्ठत्वमस्य, त्रसकाय इति 'प्रोच्यते' प्रकर्षेणोच्यते सर्वैरेव तीर्थङ्करगणधरैरितिप्रयोगार्थः, प्रयोगश्च—विद्यमानकर्तृकमिदं शरीरम् आदिमत् प्रतिनियताऽऽकारत्वात्, घटवत् । आह—इदं त्रसकायनिगमनमनभिधायाऽस्थाने सर्वे प्राणिनः परमधर्माण इत्यनन्तर-सूत्रसम्बान्धि सूत्राऽभिधानं किमर्थम् ? उच्यते-निगमनसूत्रव्यवधानवत्, अर्थान्तरेण व्यवधानख्यापनार्थम्, तथाहि—त्रसकायनिगमनसूत्राऽवसानो जीवाऽभिगमः, अत्राऽन्तरे—अजीवाभिगमाधिकारः, तदर्थमभिधाय चारित्रधर्मो वक्तव्यः, तथा च वृद्धव्याख्या—"ऐसो[1]० तस० पवुच्चइ० एस जीवाभिगमो भणितो, इआणीं अजीवाभिगमो भण्णति, अजीवा दुविहा, तंजहा—पोग्गला य, णो पोग्गला य, पोग्गला छव्विहा, तंजहा—सुहुमसुहुमा १, सुहुमा २, सुहुमबायरा ३, बायरसुहुमा ४, बायरा ५, बायरबायरा ६ । सुहुमसुहुमा परमाणुपोग्गला १, सुहुमा दुपएसिआओ आढत्तो जाव सुहुमपरिणओ अणंतपदेसिओ खंधो २, सुहुमबायरा गंधपोग्गला ३, बायरसुहुमा वाउक्कायसरीरा ४, बायरा आउ-क्कायसरीरा उस्सादीणं ५, बायरबायरा तेउवणप्फदिपुढवीतससरीराणि ६ । अहवा चउव्विहा पोग्गला, तंजहा—खंधा १, खंधदेसा २, खंधपदेसा ३, परमाणुपोग्गला ४, एस पोग्गलत्थिकाओ गहणलक्खणो । णो पोग्गलत्थिकाओ तिविहो, तंजहा—धम्मत्थिकाओ १, अधम्मत्थिकाओ २, आगासत्थिकाओ ३, तत्थ धम्मत्थिकाओ गतिलक्खणो,

---

१ 'एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाउत्ति पवुच्चइ' इति पूर्णः पाठः ।

अधम्मत्थिकाओ ठितिलक्खणो, आगासत्थिकाओ अवगाहलक्खणो " उक्तोऽजीवाभिगमः । अथ चारित्रधर्मः, तत्रोक्तसम्बन्धमेवेदं सूत्रम्—

इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभिज्जा नेवण्णेहिं दंडं समारंभाविज्जा दंडं समारंभंते वि अण्णे न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ।

छा० इत्येतेषां षण्णां जीवनिकायानां नैव स्वयं दण्डं समारभेत, नैवान्यैर्दण्डं समारम्भयेत, दण्डं समारभमाणानप्यन्यान्न समनुजानीयात् । यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन (उक्तस्वरूपेण दण्डं) न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि ।

'इच्चेसिं०'— एतेषां षण्णां जीवनिकायानां नैव स्वयं दण्डं समारभेत, इति योगः । 'सर्वे प्राणिनः परमधर्माणः' इत्यनेन हेतुना एतेषां षण्णां जीवनिकायानामिति [सुपां सुपो भवन्तीति सप्तम्यर्थे षष्ठी] एतेषु षट्सु जीवनिकायेषु नैव स्वयं दण्डं संघट्टनपरितापनादिलक्षणं समारभेत—प्रवर्तयेत्, नैवाऽन्यैः प्रेष्यादिभिः समारम्भयेत कारयेदित्यर्थः, 'अण्णे न समणुजाणिज्जात्ति' पाठः शुद्धः, दण्डं समारभमाणा-

नप्यन्यान् प्राणिनो न समनुजानीयात्—नानुमोदयेदिति विधायकं भगवद्वचनम्। यतश्चैवमतो 'यावज्जीवमित्यादि यावद् व्युत्सृजामि' इत्येवमिदं सम्यक् प्रतिपद्येत, इत्यैदम्पर्यं, पदार्थस्तु—'जीवनं जीवो यावज्जीवाद् यावज्जीवम्'—आप्राणोपरमादित्यर्थः। किमित्याह—'त्रिविधं त्रिविधेनेति' तिस्रो (विधाः) विधानानि कृतादिरूपा अस्येति त्रिविधो दण्ड इति गम्यते, तं त्रिविधेन करणेन, एतदेवोपन्यस्यति—'मनसा, वाचा, कायेन' अस्य च करणस्य कर्म उक्तलक्षणो दण्डः, तं वस्तुतो निराकार्यतया सूत्रेणैवोपन्यस्यन्नाह—'न करोमि स्वयं, न कारयाम्यन्यैः, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामीति', तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि, इति। तस्येत्यधिकृतो दण्डः सम्बध्यते, [सम्बन्धलक्षणा—अवयवलक्षणा षष्ठी] योऽसौ त्रिकालविषयो दण्डस्तस्य सम्बन्धिनमतीतमवयवं प्रतिक्रामामि, न वर्तमानमनागतं वा, अतीतस्यैव प्रतिक्रमणात्, प्रत्युत्पन्नस्य संवरणात्, अनागतस्य प्रत्याख्यानात्, इति। भदन्त! इति गुरोरामन्त्रणम्, एतच्च गुरुसाक्षिक्येव व्रत-प्रतिपत्तिः साध्वीति ज्ञापनार्थम्, प्रतिक्रामामीति भूतदण्डान्निवर्तेऽहमित्युक्तं स्यात्, तस्माच्च निवृत्तिर्यत्तदनुमतेर्विरमणमिति। तथा निन्दामि गर्हामि(गर्हे)—इत्यत्रात्मसाक्षिकी निन्दा, परसाक्षिकी गर्हा—जुगुप्सोच्यते, आत्मानमतीतदण्डकारिणम्—अश्लाघ्यं व्युत्सृजामि—'वि' शब्द उच्छब्दो भृशार्थः, सृजामीति त्यजामि, ततश्च भृशं त्यजामि व्युत्सृजामीति। आह—यद्येवमतीतदण्डप्रतिक्रमणमात्रमस्य ऐदम्पर्यम्, न प्रत्युत्पन्नसंवरणम्, अनागतप्रत्याख्यानञ्चेति, नैतदेवम्, करोमीत्यादिना तदुभयसिद्धेरिति।

अयञ्चाऽऽत्मप्रतिपत्त्यर्हो दण्डनिक्षेपः सामान्यविशेषरूप इतिं, सामान्येनोक्तलक्षण एव, स एव विशेषतः पञ्चमहाव्रतरूपतयाऽङ्गीकर्तव्य इति महाव्रतान्याह—

पढमे भंते! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं। सव्वं भंते! पाणाइवायं पच्चक्खामि से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा, नेव सयं पाणे अइवाइज्जा नेवण्णेहिं पाणे अइवायाविज्जा पाणे अइवायंते वि अण्णे न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि। पढमे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं ॥ १ ॥

छा० प्रथमे भदन्त! महाव्रते प्राणातिपाताद्विरमणम्। सर्वं भदन्त! प्राणातिपातं प्रत्याख्यामि, अथ सूक्ष्मं वा बादरं वा त्रसं वा स्थावरं वा, नैव स्वयं प्राणानतिपातयेत्, नैवान्यैः प्राणानतिपातयेत्, प्राणानतिपातयतोऽप्यन्यान्न समनुजानीयात्। (उक्तस्वरूपं) यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि। प्रथमे भदन्त! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि, सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरमणम् ॥ १ ॥

१ यहांपर वृत्तिकारने 'तिङां तिङो भवन्तीति न्यायात्' इस तरह समाधान करके 'वर्तमान'में 'विधि' का प्रयोग माना है, मैंनेभी छायामें और अनुवादमें मूलग्राही अनुसरण किया है।

'पढमे भंते०'—इत्याह, 'प्रथमे भदन्त! महाव्रते प्राणातिपाताद्विरमणमिति' प्राणा इन्द्रियादयः, तेषा मतिपातः, तस्माद्विरमणं निवर्तनं भगवतोक्तमिति शेषः, यतश्चैवमतः सर्वं भदन्त! प्राणातिपातं प्रत्याख्यामि, 'प्रति' शब्दः प्रतिषेधे, आङ् आभिमुख्ये, ख्या प्रकथने, प्रतीपमभिमुखं ख्यापनं प्राणातिपातस्य करोमि, प्रत्याख्यामि इति, अथवा प्रत्याचक्षे—संवृताऽऽत्मा, साम्प्रतमनागतप्रतिषेधस्याऽऽदरेणाऽभिधानं करोमीत्यर्थः। 'से' शब्दो मागधदेशी प्रसिद्धोऽथशब्दार्थः, स चोपन्यासे, सूक्ष्मोऽल्पः परिगृह्यते, न तु सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्मः, तस्य कायेन व्यापादनाऽसम्भवात्, तदेतद्विशेषतोऽभिधित्सुराह—"बादरोऽपि स्थूरः, बादर इति स्थूरो गृह्यते, न तु बादरनामकर्मोदयाद्बादरः, अपि शब्दाद् यथा सूक्ष्मोऽल्पस्तथा बादरः स्थूर इति", सचैकैको द्विधा—त्रसः स्थावरश्च, सूक्ष्मत्रसः कुन्थ्वादिः, स्थावरो वनस्पत्यादिः, बादरत्रसो गवादिः, स्थावरः पृथिव्यादिः, एतान् 'नेव सयं पाणे अइवाएज्जात्ति' [प्राकृतशैल्या छान्दसत्वात् तिङां तिङो भवन्तीति न्यायात्] नैव स्वयं प्राणिनोऽतिपातयामि, नैवाऽन्यैः प्राणिनोऽतिपातयामि, प्राणिनोऽतिपातयतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि, यावज्जीवमित्यादि पूर्ववत्। व्रतप्रतिपत्तिं निगमयन्नाह—'प्रथमे भदन्त! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि', उपसामीप्येन तत्परिणामाऽऽपत्त्या स्थितः, इत आरभ्य मम सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरमणमिति। भदन्त! इत्यनेन च आदिमध्यावसानेषु गुरुमनापृच्छ्य न किञ्चित्कर्तव्यम्, कृतञ्च तस्मै निवेदनीयम्, एवन्तदाराधितं भवति ॥ १ ॥

अहावरे दुच्चे भंते! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं। सव्वं भंते! मुसावायं पच्चक्खामि, से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा, नेव सयं मुसं वइज्जा नेवण्णेहिं मुसं वायाविज्जा मुसं वयंते वि

अण्णे न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि। दुच्चे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं ॥ २ ॥

छा० अथापरस्मिन्द्वितीये भदन्त! महाव्रते मृषावादाद्विरमणम्। सर्वं भदन्त! मृषावादं प्रत्याख्यामि, अथ क्रोधाद्वा लोभाद्वा भयाद्वा हासाद्वा, नैव स्वयं मृषां वदेत्, नैवाऽन्यैर्मृषां वादयेत्, मृषां वदतोऽप्यन्यान्न समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि। द्वितीये भदन्त! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि, सर्वस्मान्मृषावादाद्विरमणम् ॥ २ ॥

'से कोहा वा०'—क्रोधाद्वा लोभाद्वा इत्यनेन आद्यन्तग्रहणान्मानमायापरिग्रहः, भयाद्वा हास्याद्वा इत्यनेन तु प्रेमद्वेषकलहाऽभ्याख्यानादिपरिग्रहः, नैव स्वयं मृषां वदामि, नैवाऽन्यैर्मृषां वादयामि, मृषां वदतोऽप्यन्यान्न समनुजानामीति ॥ २ ॥

अहावरे तच्चे भंते! महव्वए अदिण्णादाणाओ वेरमणं। सव्वं भंते! अदिण्णादाणं पच्चक्खामि, से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं अदिण्णं गिण्हिज्जा नेवण्णेहिं अदिण्णं गिण्हाविज्जा अदिण्णं गिण्हंते वि अण्णे न समणुजाणिज्जा,

जावज्जीवाए तिविहं तिविहेंणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि। तच्चे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं ॥ ३ ॥

छा० अथापरस्मिन्तृतीये भदन्त! महाव्रतेऽदत्तादानाद्विरमणम्। सर्वं भदन्त! अदत्तादानं प्रत्याख्यामि, अथ ग्रामे वा नगरे वाऽरण्ये वाऽल्पं वा बहु वाऽणु वा स्थूलं वा चित्तवद्वाऽचित्तवद्वा, नैव स्वयमदत्तं गृह्णीयात्, नैवाऽन्यैरदत्तं ग्राहयेत्, अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान्न समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि। तृतीये भदन्त! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि, सर्वस्माददत्तादानाद्विरमणम् ॥ ३ ॥

'से गामे वा०'—ग्रामे वा, नगरे वा, अरण्ये वा, इत्यनेन क्षेत्रपरिग्रहः, तत्र ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामः, नाऽस्मिन् करो विद्यते इति नकरम्, अरण्यं काननादि, तथाऽल्पं वा, बहु वा, अणु वा, स्थूलं वा, चित्तवद्वा, अचित्तवद्वा, इत्यनेन द्रव्यपरिग्रहः, तत्राऽल्पं मूल्यत एरण्डकादि, बहु वज्रादि, अणु प्रमाणतो वज्रादि, स्थूलमेरण्डकाष्ठादि, एतच्च चित्तवद्वा अचित्तवद्वेति चेतनाऽचेतनमित्यर्थः। 'णेव सयं अदिण्णं गिण्हिज्जात्ति'—नैव स्वयमदत्तं गृह्णामि, नैवाऽन्यैरदत्तं ग्राहयामि, अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि, इत्येतद् यावज्जीवमित्यादि ॥ ३ ॥

अहावरे चउत्थे भंते ! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं । सव्वं भंते ! मेहुणं पच्चक्खामि, से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणिअं वा, नेव सयं मेहुणं सेविज्जा, नेवण्णेहिं मेहुणं सेवाविज्जा, मेहुणं सेवंते वि अण्णे न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि । चउत्थे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ॥ ४ ॥

छा०अथापरस्मिंश्चतुर्थे ! भदन्त महाव्रते मैथुनाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! मैथुनं प्रत्याख्यामि, अथ दिव्यं वा मानुष्यं वा तैर्यग्योनं वा, नैव स्वयं मैथुनं सेवेत, नैवान्यैर्मैथुनं सेवयेत, मैथुनं सेवमानानप्यन्यान्न समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि । चतुर्थे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि, सर्वस्मान्मैथुनाद्विरमणम् ॥ ४ ॥

'से दिव्वं०'— दैवं वा मानुषं वा तैर्यग्योनं वा, 'नेव सयं मेहुणं सेविज्जात्ति'— नैव स्वयं मैथुनं सेवे, नैवाऽन्यैर्मैथुनं सेवयामि, मैथुनं सेवमानानप्यन्यान् न समनुजानामीत्येतद् यावज्जीवमित्यादि ॥ ४ ॥

अहावरे पंचमे भंते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं । सव्वं भंते ! परिग्गहं पच्चक्खामि, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हिज्जा, नेव-

णणेहिं परिग्गहं परिगिण्हाविज्जा, परिग्गहं परिगिण्हंते वि अण्णे न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि। पंचमे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ॥ ५ ॥

छा०अथापरस्मिन् पञ्चमे भदन्त! महाव्रते परिग्रहाद्विरमणम्। सर्वं भदन्त! परिग्रहं प्रत्याख्यामि, अथाऽल्पं वा बहुं वाऽणुं वा स्थूलं वा चित्तवन्तं वाऽचित्तवन्तं वा, नैव स्वयं परिग्रहं परिगृह्णीयात्, नैवाऽन्यैः परिग्रहं परिग्राहयेत्, परिग्रहं परिगृह्णतोऽप्यन्यान्न समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि। पञ्चमे भदन्त! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि, सर्वस्मात्परिग्रहाद्विरमणम् ॥ ५ ॥

'से अप्पं वा०'—अल्पं वेत्यादि, व्याख्या पूर्ववज्ज्ञेया, 'नेव सयं परिग्गहं परिगिह्निज्जात्ति'—नैव स्वयं परिग्रहं परिगृह्णामि, नैवाऽन्यैः परिग्रहं परिग्राहयामि, परिग्रहं परिगृह्णतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि, इत्येतद् यावज्जीवमित्यादि ॥ ५ ॥

अहावरे छट्ठे भंते! वए राइभोअणाओ वेरमणं। सव्वं भंते! राइभोअणं पच्चक्खामि, से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा, नेव सयं राइं भुंजिज्जा, नेवण्णेहिं राइं भुंजाविज्जा, राइं

भुंजंते वि अण्णे न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि । छट्ठे भंते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइभोअणाओ वेरमणं ॥ ६ ॥

छा० अथापरस्मिन् षष्ठे भदन्त ! व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामि, अथाशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा, नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जीत, नैवाऽन्यान्रात्रौ भोजयेत्, रात्रौ भुञ्जानानप्यन्यान्न समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि । षष्ठे भदन्त ! व्रते उपस्थितोऽस्मि, सर्वस्माद्रात्रिभोजनाद्विरमणम् ॥ ६ ॥

'से असणं०'—अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा, अश्यत इत्यशनम्—ओदनादि, पीयत इति पानं—मृद्वीकापानादि, खाद्यत इति खाद्यं—खर्जूरादि, स्वाद्यत इति स्वाद्यं—ताम्बूलादि, 'नेव सयं राइं भुंजिज्जा'—नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जे, नैवाऽन्यान् रात्रौ भोजयामि, रात्रौ भुञ्जानानप्यन्यान् न समनुजानामि, इत्येतद् यावज्जीवमित्यादि पूर्ववत्, सर्वत्र ज्ञेयम् ॥ ६ ॥ समस्तव्रताऽभ्युपगमख्यापनायाऽऽह—

इच्चेआइं पंचमहव्वयाइं राइभोअणवेरमणछट्ठाइं अत्तहिअट्ठाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि ।

छा० इत्येतानि पञ्च महाव्रतानि रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि-आत्महितार्थायोपसम्पद्य विहरामि ।

'इच्चेआइं०'—इत्येतानि पञ्चमहाव्रतानि रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि, किमित्याह—आत्महिताय—आत्महितो मोक्षः, तदर्थम्, अनेन अन्याऽर्थं तत्त्वतो व्रताऽभावमाह, तदभिलाषाऽनुमत्या हिंसादावनुमत्यादिभावात्, उपसम्पद्य—सामीप्येनाऽङ्गीकृत्य व्रतानि विहरामि—सुसाधुविहारेण, तदभावेऽङ्गीकृतानामपि व्रतानामभावात् । उक्तश्चारित्रधर्मः, साम्प्रतं यतनाया अवसरः, तथा चाऽऽह—

से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा, संजय—विरय—पडिहय—पच्चक्खाय—पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से पुढवीं वा, भित्तिं वा, सिलं वा, लेलुं वा, ससरक्खं वा कायं, ससरक्खं वा वत्थं, हत्थेण वा, पाएण वा, कट्ठेण वा, कलिंचेण वा, अंगुलिआए वा, सिलागाए वा, सिलागहत्थेण वा, न आलिहिज्जा, न विलिहिज्जा, न घट्टिज्जा, न भिंदिज्जा, अण्णं न आलिहाविज्जा, न विलिहाविज्जा, न घट्टाविज्जा, न भिंदाविज्जा, अण्णं आलिहंतं वा विलिहंतं वा घट्टंतं वा भिंदंतं वा न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ १ ॥

छा० स भिक्षुर्वा, भिक्षुकी वा, संयत—विरत—प्रतिहत—प्रत्याख्यात—पापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एकको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा, स पृथ्वीं वा, भित्तिं वा, शिलां वा, लेष्टुं

वा, सरजस्कं वा कायं, सरजस्कं वा वस्त्रं, हस्तेन वा, पादेन वा, काष्ठेन वा, कलिञ्जेन (कलिञ्चेन) वा, अङ्गुल्या वा, शलाकया वा, शलाकाहस्तेन वा, नालिखेत्, न विलिखेत्, न घट्टयेत्, न भिन्द्यात्, अन्येन नालेखयेत्, न विलेखयेत्, न घट्टयेत्, न भेदयेत्, अन्यमालिखन्तं वा, विलिखन्तं वा, घट्टयन्तं वा, भिन्दन्तं वा, न समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ १ ॥

'से भिक्खू वा०'—स इति निर्देशे, स योऽसौ महाव्रतयुक्तः, 'भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा'—आरम्भत्यागाद् धर्मकाय—पालनाय भिक्षणशीलो भिक्षुः, एवं भिक्षुक्यपि, पुरुषोत्तमो धर्म इति स विशि(शे)ष्यते, तद्विशेषणानि च भिक्षुक्या अपि द्रष्टव्यानि, इत्याह— 'संयत—विरत—प्रतिहत—प्रत्याख्यात—पापकर्मा,'—तत्र सामस्त्येन यतः संयतः—सप्तदशप्रकारसंयमोपेतः, विविधमनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरतः, प्रतिहत--प्रत्याख्यात--पापकर्मेति—प्रतिहतं स्थिति-ह्रासतो ग्रन्थिभेदेन, प्रत्याख्यातं—हेत्वभावतः पुनर्वृद्ध्यभावेन पापं कर्म—ज्ञानावरणीयादि येन स तथाविधः, 'दिवा वा रात्रौ वा एको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा,' रात्रौ सुप्तो दिवा जाग्रत्, कारणिक एकः शेषकालं परिषद्गतः, इदं वक्ष्यमाणं न कुर्यात्, 'से पुढ०'—तदर्थः 'से' शब्दः, 'पृथ्वीं वा, भित्तिं वा, शिलां वा, लोष्टं वा'—तत्र पृथ्वी—लोष्टादिरहिता, भित्तिर्नदीतटी, शिला—विशालः पाषाणः, लोष्टः प्रसिद्धः, तथा सहरजसा—अरण्यपांशुलक्षणेन वर्तत इति सरजस्कः, तं सरजस्कं वा कायं, तथा सरजस्कं वा वस्त्रं—चोलपट्टकादि,

एतत्किमित्याह—हस्तेन वा, पादेन वा, काष्ठेन वा, कलिञ्चेन वा—क्षुद्रकाष्ठरूपेण, अङ्गुल्या वा, शलाकया वा—अयः—शलाकादिरूपया, शलाकाहस्तेन वा शलाकासङ्घातरूपेण । ' नालिहिज्जात्ति '—' नाऽऽलिखेत्, न विलिखेत्, न घट्टयेत्, न भिन्द्यात् '—तत्रेषत्सकृद्वाऽऽलेखनम्, नितरामनेकशो वा विलेखनम्, घट्टनं—चालनम्, भेदो विदारणम्, एतत्स्वयं न कुर्यात् (अन्यमन्येन वा नालेखयेत्), न विलेखयेत्, न घट्टयेत्, न भेदयेत्, तथाऽन्यं स्वत एवाऽऽ—लिखन्तं वा विलिखन्तं वा घट्टयन्तं वा भिन्दन्तं वा न समनुजानीयात्, इत्यादि पूर्ववत् ॥ १ ॥

से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा, संजय—विरय—पडिहय—पच्चक्खाय—पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से उदगं वा, ओसं वा, हिमं वा, महिअं वा, करगं वा, हरतणुगं वा, सुद्धोदगं वा, उदउल्लं वा कायं, उदउल्लं वा वत्थं, ससिणिद्धं वा कायं, ससिणिद्धं वा वत्थं, न आमुसिज्जा, न संफुसिज्जा, न आवीलिज्जा, न पवीलिज्जा, न अक्खोडिज्जा, न पक्खोडिज्जा, न आयाविज्जा, न पयाविज्जा, अण्णं न आमुसाविज्जा, न संफुसाविज्जा, न आवीलाविज्जा, न पवीलाविज्जा, न अक्खोडाविज्जा, न पक्खोडाविज्जा, न आयाविज्जा, न पयाविज्जा, अण्णं आमुसंतं वा संफुसंतं वा आवीलंतं वा पवीलंतं वा अक्खोडंतं वा पक्खोडंतं वा आयावंतं वा पयावंतं वा न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ २ ॥

छा० स भिक्षुर्वा, भिक्षुकी वा, संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एकको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा, स उदकं वा, अवश्यायं वा, हिमं वा, मिहिकां वा, करकं वा, हरतनुकं वा, शुद्धोदकं वा, उदकार्द्रं वा कायं, उदकार्द्रं वा वस्त्रं, सस्निग्धं वा कायं, सस्निग्धं वा वस्त्रं, नामृषेत्, न संस्पृशेत्, नाऽऽपीडयेत्, न प्रपीडयेत्, नाऽऽस्फोटयेत्, न प्रस्फोटयेत्, नाऽऽतापयेत्, न प्रतापयेत्, अन्येन नाऽऽमर्षयेत्, न संस्पर्शयेत्, नाऽऽपीडयेत्, न प्रपीडयेत्, नाऽऽस्फोटयेत्, न प्रस्फोटयेत्, नाऽऽतापयेत्, न प्रतापयेत्, अन्यमामृषन्तं वा, संस्पृशन्तं वा, आपीडयन्तं वा, प्रपीडयन्तं वा, आस्फोटयन्तं वा, प्रस्फोटयन्तं वा, आतापयन्तं वा, प्रतापयन्तं वा, न समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ २ ॥

'से भिक्खू वा०'—इत्यादि यावत् 'जागरमाणे वात्ति' पूर्ववदेव। 'से उदगं वा०'—तद्यथा—'उदकं वा, अवश्यायं वा, हिमं वा, मिहिकां वा, करकं वा, हरतनुं वा, शुद्धोदकं वा,' तत्रोदकं—सिरापानीयम्, अवश्यायः—स्नेहः, हिमं-स्त्यानोदकम्, मिहिका—धूमिका, करकः—कठिनोदकरूपः, हरतनुर्भुवमुद्भिद्य तृणाग्रादिषु भवति, शुद्धोदकम्—अन्तरिक्षोदकम्, तथा 'उदकार्द्रं वा कायम्, उदकार्द्रं वा वस्त्रम्,' उदकार्द्रता चेह गलद्बिन्दुतुषाराद्यनन्तरोदितोदकभेदसंमिश्रता। तथा 'सस्निग्धं वा कायं, सास्निग्धं वा वस्त्रम्' [अत्र स्नेहनं स्निग्धमिति भावे क्त—प्रत्ययः] सह स्निग्धेन वर्तत इति सास्निग्धः सास्निग्धं वा, सास्निग्धता चेह बिंदुरहिताऽनन्तरोदितोदकभेदसंमिश्रता।

एतत्किमित्याह—'नामुसिज्जात्ति'--'नामृषेत्, न संस्पृशेत्, नाऽऽपीडयेत्, न प्रपीडयेत्, नाऽऽस्फोटयेत्, न प्रस्फोटयेत्, नाऽऽतापयेत, न प्रतापयेत्,' तत्रेषत्सकृद्वा स्पर्शनमामर्षणम्, अतोऽन्यत्संस्पर्शनम्, एवमीषत्सकृद्वा (पीडनमा)ऽऽपीडनम्, विपरीतं प्रपीडनम्, एवमीषत्सकृद्वा (स्फोटनमा)ऽऽस्फोटनम्, अतोऽन्यत्प्रस्फोटनम्, एवमीषत्सकृद्वा (तापनमा)ऽऽतापनम्, विपरीतं प्रतापनम्, एतत्स्वयं न कुर्यात्, तथाऽन्यमन्येन वा नाऽऽमर्षयेत्, न संस्पर्शयेत्, नाऽऽपीडेयत्, न प्रपीडयेत्, नाऽऽस्फोटयेत्, न प्रस्फोटयेत्, नाऽऽतापयेत्, न प्रतापयेत्, तथाऽऽन्यं स्वत एवाऽऽमृषन्तं वा, संस्पृशन्तं वा, आपीडयन्तं वा, प्रपीडयन्तं वा, आस्फोटयन्तं वा, प्रस्फोटयन्तं वा, आतापयन्तं वा, प्रतापयन्तं वा, न समनुजानीयात्, इत्यादि पूर्ववत् ॥ २ ॥

से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा, संजय–विरय–पडिहय–पच्चक्खाय–पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से अगणिं वा, इंगालं वा, मुम्मुरं वा, अच्चिं वा, जालं वा, अलायं वा, सुद्धागणिं वा, उक्कं वा, न उंजिज्जा, न घट्टिज्जा, न उज्जालिज्जा, न निव्वाविज्जा, अण्णं न उंजाविज्जा, न घट्टाविज्जा, न उज्जालाविज्जा, न निव्वाविज्जा, अण्णं उंजंतं वा घट्टंतं वा उज्जालंतं वा निव्वावंतं वा न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ ३ ॥

१ 'न उंजिज्जा, न घट्टिज्जा, न भिंदिज्जा, न उज्जालिज्जा, न पज्जालिज्जा, न निव्वाविज्जा' इति पाठान्तरम्।

छा० स भिक्षुर्वा, भिक्षुकी वा, संयत–विरत–प्रतिहत–प्रत्याख्यात–पापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एकको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा, सोऽग्निं वा, अङ्गारं वा, मुर्मुरं वा, अर्चिर्वा, ज्वालां वा, अलातं वा, शुद्धाग्निं वा, उल्कां वा, नोत्सिञ्चेत्, न घट्टयेत्, नोज्ज्वालयेत्, न निर्वापयेत्, अन्येन नोत्सेचयेत्, न घट्टयेत्, नोज्ज्वालयेत्, न निर्वापयेत्, अन्यमुत्सिञ्चन्तं वा, घट्टयन्तं वा, उज्ज्वालयन्तं वा, निर्वापयन्तं वा, न समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ ३ ॥

'से भिक्खू०'–इत्यादि यावत् 'जागरमाणे वत्ति' पूर्ववदेव। 'से अगणिं वा०'– तद्यथा–'अग्निं वा, अङ्गारं वा, मुर्मुरं वा, अर्चिर्वा, ज्वालां वा, अलातं वा, शुद्धाग्निं वा, उल्कां वा', इहायःपिण्डानुगतोऽग्निः, ज्वाला-रहितोऽङ्गारः, विरलाग्निकणं भस्म–मुर्मुरः, मूलाग्निविच्छिन्ना ज्वाला–अर्चिः, प्रतिबद्धा–ज्वाला, अलातम्–उल्मुकम्, निरिन्धनः–शुद्धोऽग्निः, उल्का–गगनाऽग्निः, एतत्किमित्याह–'न उंजेज्जा०'–'नोत्सिञ्चेत्, न घट्टयेत्, नोज्ज्वालयेत् न निर्वापयेत्' तत्रोञ्जनमुत्सेचनम्, घट्टनं–सजातीयादिना चालनम्, उज्ज्वालनं–व्यञ्जनादिभिर्वृद्ध्यापादनम्, निर्वापणं–विध्यापनम्, एतत्स्वयं न कुर्यात्, तथाऽन्यमन्येन वा नोत्सेचयेत्, न घट्टयेत्, नोज्ज्वालयेत्, न निर्वापयेत्, तथाऽन्यं स्वत एवोत्सेचयन्तं वा, घट्टयन्तं वा, उज्ज्वालयन्तं वा, निर्वापयन्तं वा, न समनुजानीयात्, इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३ ॥

से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा, संजय–विरय–पडिहय–पच्चक्खाय–पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से सिएण वा, विहुअणेण वा, तालिअंटेण वा, पत्तेण वा, पत्तभंगेण वा, साहाए वा, साहाभंगेण वा, पिहुणेण वा, पिहुणहत्थेण वा, चेलेण वा, चेलकण्णेण वा, हत्थेण वा, मुहेण वा, अप्पणो वा कायं, बाहिरं वा वि पुग्गलं, न फुमिज्जा, न वीइज्जा, अण्णं न फुमाविज्जा, न वीआविज्जा, अण्णं फुमंतं वा वीअंतं वा न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ ४ ॥

छा० स भिक्षुर्वा, भिक्षुकी वा, संयत–विरत–प्रतिहत–प्रत्याख्यात–पापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एकको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा, स सितेन (सितेन) वा, विधवनेन वा, तालवृन्तेन वा, पत्रेण वा, पत्रभङ्गेन वा, शाखया वा, शाखाभङ्गेन वा, पेहुणेन वा, पेहुणहस्तेन वा, चेलेन वा, चेलकर्णेन वा, हस्तेन वा, मुखेन वा, आत्मनो वा कायं, बाह्यं वाऽपि पुद्गलं न फूत्कुर्यात्, न व्यजेत, अन्येन न फूत्कारयेत्, न वीजयेत् (व्याजयेत्), अन्यं फूत्कुर्वन्तं वा, व्यजन्तं वा, न समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ ४ ॥

'से भिक्खू०'—इत्यादि यावत् 'जागरमाणे वत्ति' पूर्ववदेव । 'से सिएण वा०'—तद्यथा—'सितेन वा, विधवनेन वा, तालवृन्तेन वा, पत्रेण वा, पत्रभङ्गेन वा, शाखया वा, शाखाभङ्गेन वा, पेहुणेन वा, पेहुणहस्तेन वा, चेलेन वा, चेलकर्णेन वा, हस्तेन वा, मुखेन वा,' इह सितं—चामरम्, विधवनं—व्यञ्जनं, तालवृन्तं तदेव, मध्यग्रहणाच्छिद्रं द्विपुटम्, पत्रं—पद्मिनीपत्रादि, शाखा—वृक्षडालम्, शाखाभङ्गस्तदेकदेशः, पेहुणं—मयूरपिच्छादि, पेहुणहस्तकस्तत्समूहः, चेलं—वस्त्रम्, चेलकर्णस्तदेकदेशः, हस्तमुखे प्रतीते (हस्तमुखं प्रतीतम्), एभिः किमित्याह—'आत्मनो वा कायं' स्व—देहमित्यर्थः, 'बाह्यं वा पुद्गलम्' उष्णोदनादि, एतत्किमित्याह—'न फुमेज्जा०'—'न फूत्कुर्यात्, न व्यञ्जयेत् (व्यजेत्)' तत्र फूत्करणं—मुखेन धमनम्, व्यञ्जनं (वीजनं)—चामरादिना वायुकरणम्, एतत्स्वयं न कुर्यात्, तथाऽन्यमन्येन वा न फूत्कारयेत्, न वीजयेत्, अन्यं स्वत एव फूत्कुर्वन्तं वा, वीजयन्तं वा, न समनुजानीयात्, इत्यादि पूर्ववदेव ॥४॥

से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा, संजय—विरय--पडिहय--पच्चक्खाय--पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से बीएसु वा, बीअपइट्ठेसु वा, रूढेसु वा, रूढपइट्ठेसु वा, जाएसु वा, जायपइट्ठेसु वा, हरिएसु वा, हरिअपइट्ठेसु वा, छिण्णेसु वा, छिण्णपइट्ठेसु वा, सचित्तेसु वा, सचित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा, न गच्छिज्जा, न चिट्ठिज्जा, न निसीइज्जा, न तुअट्टिज्जा, अण्णं न गच्छाविज्जा, न चिट्ठाविज्जा, न निसीआविज्जा, न तुअट्टाविज्जा, अण्णं गच्छंतं वा चिट्ठंतं वा निसीअंतं वा तुअट्टंतं वा न समणुजाणिज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए

काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अण्णं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ ५ ॥

छा० स भिक्षुर्वा, भिक्षुकी वा, संयत--विरत--प्रतिहत--प्रत्याख्यात--पापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एकको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा, स बीजेषु वा, बीजप्रतिष्ठेषु वा, रूढेषु वा, रूढप्रतिष्ठेषु वा, जातेषु वा, जातप्रतिष्ठेषु वा, हरितेषु वा, हरितप्रतिष्ठेषु वा, छिन्नेषु वा, छिन्नप्रतिष्ठेषु वा, सचित्तेषु वा, सचित्तकोलप्रतिनिश्रितेषु वा, न गच्छेत्, न तिष्ठेत्, न निषीदेत्, न त्वग्वर्तेत (स्वप्यात्), अन्यं न गमयेत्, न स्थापयेत्, न निषादयेत्, न त्वग्वर्तयेत् (स्वापयेत्), अन्यं गच्छन्तं वा, तिष्ठन्तं वा, निषीदन्तं वा, त्वग्वर्तमानं (स्वपन्तं) वा, न समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ ५ ॥

'से भिक्खू वा०'—इत्यादि यावत् 'जागरमाणे वत्ति' पूर्ववदेव। 'से बीएसु वा०'—तद्यथा-'बीजेषु वा, बीजप्रतिष्ठितेषु वा, रूढेषु वा, रूढप्रतिष्ठितेषु वा, जातेषु वा, जातप्रातिष्ठितेषु वा, हरितेषु वा, हरितप्रतिष्ठितेषु वा, छिन्नेषु वा, छिन्नप्रतिष्ठितेषु वा; सचित्तेषु वा, सचित्तकोलप्रतिष्ठितेषु[1] वा', इह बीजं--शाल्यादि, तत्प्रातिष्ठितम्—आसनशयनादि गृह्यते, एवं सर्वत्र वेदितव्यम्, रूढानि--स्फुटितबीजानि, जातानि—स्तम्बीभूतानि, हरितानि—

१ 'सचित्तकोलप्रतिनिःश्रितेषु वा'—इति च पाठः।

दूर्वावीनि, छिन्नानि—परश्वादिभिर्वृक्षात्पृथक्स्थापितानि, आर्द्राणि--अपरिणतानि तदङ्गानि गृह्यन्ते । सचित्तान्यण्डकादीनि, कोलो--घुणः, तत्प्रतिनिश्रितानि--तदुपरिवर्तीनि दार्वादीनि गृह्यन्ते, एतेषु किमित्याह--'न गच्छिज्जात्ति—' 'न गच्छेत्, न तिष्ठेत्, न निषीदेत्, न त्वग्वर्तेत'—तत्र गमनमन्यतोऽऽन्यत्र स्थानमेकत्रैव, निषी(ष)दनमुपवेशनम्, त्वग्वर्तनं--स्वपनम्, एतत्स्वयं न कुर्यात्, तथाऽन्यमेतेषु न गमयेत्, न स्थापयेत्, न निषादयेत्, न स्वापयेत्, तथाऽन्यं स्वत एव गच्छन्तं वा, तिष्ठन्तं वा, निषीदन्तं वा, स्वपन्तं वा, न समनुजानीयात्, यावज्जीवमित्यादि पूर्ववदेव ॥ ५ ॥

से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा, संजय--विरय—पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से कीडं वा, पयंगं वा, कुंथुं वा, पिवी(पी)लिअं वा, हत्थंसि वा, पायंसि वा, बाहुंसि वा, उरुंसि वा, उदरंसि वा, सीसंसि वा, वत्थंसि वा, पडिग्गहंसि वा, कंबलंसि वा, पायपुंछणंसि वा, रयहरणंसि वा, गुच्छगंसि वा, उंडगंसि वा, दंडगंसि वा, पीढगंसि वा, फलगंसि वा, सिज्जंसि वा, संथारगंसि वा, अण्णयरंसि वा तहप्पगारे (रंसि) उवगरणजाए (यंसि), तओ संजयामेव पडिलेहिअ पडिलेहिअ पमज्जिअ पमज्जिअ एगंतमवणिज्जा, नो णं संघायमावज्जिज्जा ॥ ६ ॥

छा० स भिक्षुर्वा, भिक्षुकी वा, संयत—विरत—प्रतिहत—प्रत्याख्यात—पापकर्मा, दिवा वा, रात्रौ वा, एकको वा, परिषद्गतो वा, सुप्तो वा, जाग्रद्वा, स कीटं वा, पतङ्गं वा, कुन्थुं वा, पिपीलिकां वा;

हस्ते वा, पादे वा, बाहौ वा, ऊरौ वा, उदरे वा, शीर्षे वा, वस्त्रे वा, पतद्ग्रहे वा, कम्बले वा, पादप्रोञ्छने वा, रजोहरणे वा, गुच्छके वा, उन्दुके वा, दण्डके वा, पीठके वा, फलके वा, शय्यायां वा, संस्तारके वा, अन्यतरस्मिन्वा तथाप्रकारे उपकरणजाते, ततः संयतमेव प्रतिलिख्य प्रतिलिख्य प्रमृज्य प्रमृज्य एकान्तमपनयेत्, नैनं सङ्घातमापादयेत् ॥ ६ ॥

'से भिक्खू वा०'–इत्यादि यावत् 'जागरमाणे वत्ति' पूर्ववदेव । 'से कीडं वा०'–'स कीटं वा, पतङ्गं वा, कुन्थुं वा, पिपीलिकां वा,' किमित्याह–'हस्ते वा, पादे वा, बाहौ वा, ऊरुणि (ऊरौ) वा, उदरे वा, वस्त्रे वा, रजोहरणे वा, गुच्छे वा, उन्दुके वा, दण्डके वा, पीठे वा, फलके वा, शय्यायां वा, संस्तारके वा, अन्यतरस्मिन्वा तथाप्रकारे साधुक्रियोपयोगिनि उपकरणजाते' कीटादिरूपं त्रसं कथञ्चिदापतितं सन्तं संयत एव सत्प्रयत्नेन प्रत्युपेक्ष्य प्रत्युपेक्ष्य पौनःपुन्येन, सम्यक्, प्रमृज्य प्रमृज्य पौनःपुन्येनैव, सम्यक्, किमित्याह–एकान्ते तस्याऽनुपघातके स्थाने, अपनयेत्--परित्यजेत्, नैनं सङ्घातमापादयेत्, नैनं त्रसं सङ्घातं--परस्परगात्रसंस्पर्शपीडारूपम्, आपादयेत्--प्रापयेत् । अनेन परितापनादिप्रतिषेध उक्तो वेदितव्यः [एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात्], अन्याऽनुकारणाऽनुमतिप्रतिषेधश्च, शेषमत्र प्रकटार्थमेव, नवरम्–'उंडुकं'--स्थण्डिलम्, शय्या–संस्तारकी वसतिर्वा ॥ ६ ॥

इत्युक्ता यतना, गतश्चतुर्थोऽधिकारः । साम्प्रतमुपदेशाख्यः पञ्चम उच्यते—

अजयं चरमाणो उ पाणिभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं तं से होइ कडुअं फलं ॥ १ ॥

छा० अयतं चरंस्तु, प्राणिभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुक–फलम् ॥ १ ॥

'अयतं चरन्० '– अयतमनुपदेशेन–असूत्राऽऽज्ञयेति 'क्रियाविशेषणमेतत्,' चरन्–गच्छन्, तुरेवकाराऽर्थः, अयतमेव चरन्–गच्छन्–ईर्यासमितिमुल्लङ्घ्य, न त्वन्यथा, किमित्याह–'प्राणिभूतानि हिनस्ति' प्राणिनो–द्वीन्द्रियादयः, भूतानि-एकेन्द्रियाः, तानि हिनस्ति प्रमादाऽनाभोगाभ्यां व्यापादयतीति भावः, तानिं च हिंसन् बध्नाति पापं कर्म-अकुशलपरिणामादादत्ते क्लिष्टं ज्ञानाऽऽवरणीयादि, 'तत् से भवति कटुकं फलम्'–तत् पापं कर्म से–तस्य अयतचारिणो भवति कटुकफलम् [इत्यनुस्वारोऽलाक्षणिकः]–अशुभफलं भवति मोहादिहेतुतया विपाकदारुणमित्यर्थः ॥ १ ॥

अजयं चिट्ठमाणो उ पाणिभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं तं से होइ कडुअं फलं ॥ २ ॥
छा० अयतं तिष्ठंस्तु, प्राणिभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुक–फलम् ॥ २ ॥

'अजयं चिट्ठमाणो० '–एवमयतं तिष्ठन्–ऊर्द्ध्वस्थानेन असमाहितो हस्तपादादि विक्षिपन्, शेषं सर्वत्र पूर्ववत् ॥ २ ॥

अजयं आसमाणो उ पाणिभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं तं से होइ कडुअं फलं ॥ ३ ॥

छा० अयतमासीनस्तु, प्राणिभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ३ ॥

'अजयं आसमाणो०'—एवमयतमासीनो निषण्णतया अनुपयुक्त आकुञ्चनादिभावेन ॥ ३ ॥

अजयं सयमाणो उ पाणिभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं तं से होइ कडुअं फलं ॥ ४ ॥

छा० अयतं शयानस्तु, प्राणिभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ४ ॥

'अजयं सयमाणो०'—एवमयतं स्वपन्—असमाहितो, दिवा प्रकामशय्यादिना वा ॥ ४ ॥

अजयं भुंजमाणो उ पाणिभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं तं से होइ कडुअं फलं ॥ ५ ॥

छा० अयतं भुञ्जानस्तु, प्राणिभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ५ ॥

'अजयं भुंजमाणो०'—अयतं भुञ्जानो निष्प्रयोजनं प्रणीतं काकशृगालभक्षितादिना वा ॥ ५ ॥

अजयं भासमाणो उ पाणिभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं तं से होइ कडुअं फलं ॥ ६ ॥
छा० अयतं भाषमाणस्तु, प्राणिभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म, तत्तस्य भवति कटुक–फलम् ॥ ६ ॥

'अजयं भासमाणो०'—अयतं भाषमाणो गृहस्थभाषया निष्ठुरमन्तरभाषादिना वा ॥ ६ ॥

कहं चरे कहं चिट्ठे कहमासे कहं सए ।
कहं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ ? ॥ ७ ॥
छा० कथं चरेत्कथं तिष्ठेत्, कथमासीत कथं स्वपेत् ।
कथं भुञ्जानो भाषमाणः, पापं कर्म न बध्नाति ? ॥ ७ ॥
जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ ॥ ८ ॥
छा० यतं चरेद्यतं तिष्ठेत्, यतमासीत यतं स्वपेत् ।
यतं भुञ्जानो भाषमाणः, पापं कर्म न बध्नाति ॥ ८ ॥

'कहं चरे०'—अत्राह—यद्येवं पापकर्मबन्धः, ततः कथं चरेत्? ॥ ७ ॥ आचार्य आह—'जयं चरे०'—सुगमा ॥ ८ ॥

सव्वभूअप्पभूअस्स, संमं भूआइं पासओ।
पिहिआसवस्स दंतस्स पावं कम्मं न बंधइ ॥ ९ ॥

छा० सर्वभूतात्मभूतस्य, सम्यग्भूतानि पश्यतः।
पिहितास्रवस्य दान्तस्य, पापं कर्म न बध्नाति ॥ ९ ॥

'सव्वभूअ०'—अस्या व्याख्या आदर्शे पुस्तके नास्ति, परत्र लेशतो गाथान्तरे वर्तते, सेत्थम्—'सर्वाणि भूतानि—आत्मभूतानि—आत्मप्रायाणि यस्य स तथा तस्य [द्वितीयाऽर्थे षष्ठी], सम्यग्भूतानि—पृथिव्यादीनि पश्यतः, पिहिताऽऽस्रवं—स्थगितप्राणातिपातादिकं(कस्य), दान्तस्य—इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन कर्मताऽऽपन्नं(त्रस्य) पापं कर्म न बध्नाति ॥ ९ ॥ प्रत्यन्तरात्। एवं सति सर्वभूतदयावतः पापकर्मबन्धो न भवति, इति, ततश्च सर्वाऽऽत्मना दयायामेव यतितव्यम्, अलं ज्ञानाऽभ्यासेनाऽपि? (नेति), मा भूद्व्युत्पन्न—विनेय—मति—विभ्रम इति तदपोहाय आह—

पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही किं वा नाहिइ छेअ पावगं? ॥ १० ॥

छा० प्रथमं ज्ञानं ततो दया, एवं तिष्ठति सर्वसंयतः।
अज्ञानी किं करिष्यति, किं वा ज्ञास्यति छेकपापकम्? ॥ १० ॥

'पढमं नाणं०'—प्रथममादौ ज्ञानं ततो दया, 'सूत्रोपदेशेन ईर्यासमितः, समाहितो हस्तपादाद्यविक्षेपेण, उपयुक्त आकुञ्चनाद्यकरणेन, रात्रौ प्रकामशय्यापरिहारेण, सप्रयोजनमप्रणीतं प्रतरसिंहभक्षितादिना, साधुभाषया मृदु-कालप्राप्तं, निरास्रवत्वात्—विहितानुष्ठानपरत्वात्, य आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यतीति भावः'।

'वीतरागोक्तेन विधिना पृथिव्यादीनि पश्यतः, स्थगितपञ्चास्रवस्य इन्द्रियनोइन्द्रियदमनेन न बध्यते', एवमनेन प्रकारेण ज्ञानपूर्वकक्रियाप्रतिपत्तिरूपेण तिष्ठति सर्वसंयतः। यः पुनरज्ञानी—साध्योपाय-फल-परिज्ञान-विकलः, स किं करिष्यति ? सर्वत्राऽन्धतुल्यत्वात्, प्रवृत्ति—निवृत्ति—निमित्ताऽभावात्, किं वा कुर्वन् ज्ञास्यति छेकं निपुणं हितं कालोचितं, 'पापकं वा' अतो विपरीतम्, ततश्च तत्करणं भावतोऽकरणमेव, समग्रनिमित्ताभावात्, अन्ध—प्रदीप्त—पलायन—घुणाऽक्षर—करणवत्, अत एव—अन्यत्राऽप्युक्तम्——

"गीअत्थो अविहारो, बीओ गीअत्थमीसिओ भणिओ"।

इत्यादि। अतो ज्ञानाऽभ्यासः कार्यः ॥ १० ॥ तथा चाह——

सुच्चा जाणइ कल्लाणं सुच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सुच्चा जं छेअं तं समायरे॥ ११ ॥

छा० श्रुत्वा जानाति कल्याणं, श्रुत्वा जानाति पापकम्।
उभयमपि जानाति श्रुत्वा, यच्छेकं तत्समाचरेत्॥ ११ ॥

'सुच्चा जाणइ०'—श्रुत्वा ससाधनस्वरूपविपाकं जानाति—'कल्याणं—कल्यो मोक्षः, तमणति—नयति इति कल्याणं दयाऽऽख्यं संयमस्वरूपम्,' तथा श्रुत्वा जानाति पापकम्—असंयमस्वरूपम्, उभयमपि संयमाऽसंयमस्वरूपम्—श्रावकोपयोगि जानाति श्रुत्वा, यतश्चैवमत इत्थं विज्ञाय यच्छेकं—निपुणम्, हितं—कालोचितं, तत्समाचरेत् ॥ ११ ॥

उक्तमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—

जो जीवे वि न याणाइ अजीवे वि न याणइ ।
जीवाजीवे अयाणंतो कह सो नाहीइ संजमं ? ॥ १२ ॥

छा० यो जीवानपि न जानाति, अजीवानपि न जानाति ।
जीवानजीवानजानन्, कथं स ज्ञास्यति संयमम् ? ॥ १२ ॥

'जो जीवे०'—यो जीवानपि पृथ्वीकायिकादिभेदभिन्नान् न जानाति, अजीवानपि—संयमोपघातिनो मद्यहिरण्यादीन् न जानाति। एवं जीवाऽजीवानजानन् कथमसौ ज्ञास्यति संयमम्? तद्विषयाऽज्ञानादिति भावः ॥ १२ ॥

जो जीवे वि विआणाइ अजीवे वि विआणइ ।
जीवाजीवे विआणंतो सो उ (हु) नाहीइ संजमं ॥ १३ ॥

छा० यो जीवानपि विजानाति, अजीवानपि विजानाति ।
जीवानजीवान्विजानन्, स तु (हि) ज्ञास्यति संयमम् ॥ १३ ॥

'जो जीवे०'—यो जीवानभिजानाति, अजीवानपि जानाति, जीवाऽजीवान् विजानन् स एव ज्ञास्यति संयमम् ॥ १३ ॥

प्रतिपादितः पञ्चम उपदेशाऽर्थोऽधिकारः। साम्प्रतं षष्ठेऽधिकारे धर्मफलमाह—

जया जीवमजीवे य दोवि एए विआणइ।
तया गइं बहुविहं सव्वजीवाण जाणइ ॥ १४

छा० यदा जीवमजीवञ्च, द्वावप्येतौ विजानाति।
तदा गतिं बहुविधां, सर्वजीवानां जानाति ॥ १४ ॥

'जया जीव०'—यदा जीवानजीवांश्च द्वावप्येतौ विजानाति, तदा गतिं—नरकगत्यादिरूपां बहुविधां सर्वजीवानां जानाति, यथाऽवस्थित—जीवाऽजीव—परिज्ञानमन्तरेण गतिपरिज्ञानाऽभावात् ॥ १४ ॥ उत्तरोत्तरां फलवृद्धिमाह—

जया गइं बहुविहं सव्वजीवाण जाणइ।
तया पुण्णं च पावं च बंधं मुक्खं च जाणइ ॥ १५ ॥

छा० यदा गतिं बहुविधां, सर्वजीवानां जानाति।
तदा पुण्यं च पापं च, बन्धं मोक्षं च जानाति ॥ १५ ॥

'जया गई०'–यदा गतिं सर्वजीवानां जानाति तदा पुण्यं च पापं च बहुविधगतिनिबन्धनम्, तथा बन्धं जीवकर्मयोगात्सुखदुःखलक्षणम्, मोक्षं च तद्वियोगसुखलक्षणं जानाति ॥ १५ ॥

जया पुण्णं च पावं च बंधं मुक्खं च जाणइ ।
तया निव्विंदए भोए जे दिव्वे जे अ माणुसे ॥ १६ ॥

छा० यदा पुण्यं च पापं च, बन्धं मोक्षं च जानाति ।
तदा निर्विन्ते भोगान्, यान्दिव्यान्यांश्च मानुषान् ॥ १६ ॥

'जया पुण्णं०'–तदा निर्विन्ते–मोहाऽभावात् सम्यग् विचारयति, असारान् दुःखस्वरूपतया भोगान् शब्दादीन् यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान्, शेषास्तु वस्तुतो भोगा एव न भवन्ति ॥ १६ ॥

जया निव्विंदए भोए जे दिव्वे जे अ माणुसे ।
तया चयइ संजोगं सब्भिंतरबाहिरं ॥ १७ ॥

छा० यदा निर्विन्ते भोगान्, यान्दिव्यान्यांश्च मानुषान् ।
तदा त्यजति संयोगं, साभ्यन्तर–बाह्यम् ॥ १७ ॥

'जया निव्विंदए०'–तदा त्यजति संयोगं साऽभ्यन्तरबाह्यं–क्रोधादिहिरण्यादिसम्बन्धमित्यर्थः ॥ १७ ॥

जया चयइ संजोगं सब्भिंतरबाहिरं ।
तया मुंडे भवित्ताणं पव्वइए अणगारिअं ॥ १८ ॥

छा० यदा त्यजति संयोगं, साभ्यन्तर–बाह्यम् ।
तदा मुण्डो भूत्वा, प्रव्रजत्यनगारताम् ॥ १८ ॥

'जया चयइ०'–तदा मुण्डो भूत्वा द्रव्यतो भावतश्च, प्रव्रजति प्रकर्षेण व्रजति–अपवर्गं प्रति, अनगारं द्रव्यतो भावतश्च; अविद्यमानाऽगारमिति भावः ॥ १८ ॥

जया मुंडे भवित्ताणं पव्वइए अणगारिअं ।
तया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ॥ १९ ॥

छा० यदा मुण्डो भूत्वा, प्रव्रजत्यनगारताम् ।
तदा संवरमुत्कृष्टं, धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ॥ १९ ॥

'जया मुंडे०'–' तया संवरमुक्किट्ठं ति '–[प्राकृतशैल्या] उत्कृष्टं संवरम्, धर्मं–चारित्रधर्ममित्यर्थः, स्पृशत्यनुत्तरं सम्यगासेवत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

जया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं ॥ २० ॥

छा० यदा संवरमुत्कृष्टं, धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ।
तदा धुनोति कर्मरजः, अबोधिकलुषं कृतम् ॥ २० ॥

'जया संवर०'—'तया धुणइत्ति'—तदा धुनाति—अनेकार्थत्वात् पातयति कर्मरजः, किंविशिष्टमित्याह—अबोधिकलुषं कृतम्—अबोधि-कलुषेण मिथ्यादृष्टिनोपात्तमित्यर्थः ॥ २० ॥

जया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं ।
तया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छइ ॥ २१ ॥

छा० यदा धुनोति कर्मरजः, अबोधिकलुषं कृतम् ।
तदा सर्वत्रगं ज्ञानं, दर्शनं चाभिगच्छति ॥ २१ ॥

'जया धुणइ०'—'तया सव्वत्तगं ति'—तदा सर्वत्रगं ज्ञानम्—अशेषज्ञेयविषयम्, दर्शनम्—अनन्ताशेष-दृश्यविषयमधिगच्छति—आवरणाऽभावादाधिक्येन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

जया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छइ ।
तया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली ॥ २२ ॥

छा० यदा सर्वत्रगं ज्ञानं, दर्शनं चाभिगच्छति ।
तदा लोकमलोकं च, जिनो जानाति केवली ॥ २२ ॥

'जया सव्वत्तगं०'—तदा लोकं—चतुर्दशरज्ज्वाऽऽत्मकम्, अलोकं वा अनन्तं, जिनो जानाति केवली, लोकाऽलोकौ च सर्वं नाऽन्यतरमेवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

जया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ ॥ २३

छा० यदा लोकमलोकं च, जिनो जानाति केवली ।
तदा योगान्निरुध्य, शैलेशीं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

'जया लोग०'—'तया जोगेत्ति' तदोचितसमयेन योगान्निरुध्य मनोयोगादीन्, शैलेशीं प्रतिपद्यते—भवोपग्राहिककर्मांऽशक्षयाय ॥ २३ ॥

जया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥ २४ ॥

छा० यदा योगान्निरुध्य शैलेशीं प्रतिपद्यते ।
तदा कर्म क्षपयित्वा सिद्धिं गच्छति नीरजाः ॥ २४ ॥

'जया जोगे०'—'तया कम्मं ति'—तदा कर्म क्षपायित्वा सिद्धिं गच्छति नीरजाः-सकलकर्मरजोविप्रमुक्तः ॥ २४ ॥

जया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ।
तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो हवइ सासओ ॥ २५ ॥

छा० यदा कर्म क्षपयित्वा, सिद्धिं गच्छति नीरजाः।
तदा लोकमस्तकस्थः, सिद्धो भवति शाश्वतः ॥ २५ ॥

'जया कम्मं०'—तदा लोकमस्तकस्थस्त्रैलोक्योपरिवर्ती सिद्धो भवति शाश्वतः, कर्मबीजाऽभावादनुत्पत्तिधर्मेति भावः ॥ २५ ॥

उक्तो धर्मफलाऽऽख्यः षष्ठोऽधिकारः। इदानीमिदं धर्मफलं यस्य दुर्लभं तदा(मा)ह—

सुहसायगस्स समणस्स सायाउलगस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणापहोअस्स दुलहा सुगई तारिसगस्स ॥ २६ ॥

छा० सुखस्वादकस्य श्रमणस्य, साताकुलस्य निकामशायिनः।
उत्सोलनाप्रधाविनो, दुर्लभा सुगतिस्तादृशस्य ॥ २६ ॥

'सुहसायगस्स०'—सुखाऽऽस्वादकस्य—अभिष्वङ्गेण प्राप्तसुखभोक्तुः, श्रमणस्य—द्रव्यप्रव्राजितस्य, साताऽऽकुलस्य—भाविसुखार्थं विक्षिप्तचित्तस्य, निकामशायिनः—सूत्राऽर्थवेलामप्युल्लङ्घ्य शयानस्य, उत्सोलनाप्रधाविनः—उत्सोल-

नया—उदकाऽयतनया प्रकर्षेण धावति—पादादि शुद्धिं करोति यः स तथा, तस्य, किमित्याह—दुर्लभा सुगतिस्तादृशस्य भगवदाज्ञालोपकारिणः ॥ २६ ॥ अथेदं यस्य सुलभं तदा(मा)ह—

तवोगुणप्पहाणस्स उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स ।
परीसहे जिणंतस्स सुलहा सुगई तारिसगस्स ॥ २७ ॥

छा० तपोगुणप्रधानस्य, ऋजुमतेः क्षान्तिसंयमरतस्य ।
परीषहाञ्जयतः, सुलभा सुगतिस्तादृशस्य ॥ २७ ॥

'तवोगुण०'—तपोगुणप्रधानस्य षष्ठाऽष्टमादितपोवतः (तपस्विनः), ऋजुमतेर्मार्गप्रवृत्तबुद्धेः, 'खंतिसंजमरयस्सत्ति—शान्तिप्रधानसंयमसेविनः, परीषहान्—क्षुत्पिपासाऽऽदीन्—जयतः, सुलभा सुगतिः—उक्तलक्षणा तादृशस्य, पूर्ववत् ॥ २७ ॥

पच्छा वि ते पयाया खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं ।
जेसिं पिओ तवो संजमो अ खंती अ बंभचेरं च ॥ २८ ॥

छा० पश्चादपि ते प्रयाताः, क्षिप्रं गच्छन्त्यमरभवनानि ।
येषां प्रियं तपः संयमश्च, क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यं च ॥ २८ ॥

'पच्छा वि०'–पश्चादपि वृद्धाऽवस्थायामपि खण्डितचारित्रा अपि पुनस्तत्सन्धानतो ये सन्मार्गं प्रपन्नाः, ते प्रकर्षेण याताः प्राप्ता[2] अमरभवनानी(नि गच्छन्ती)त्युत्तरेण सम्बन्धः ॥ २८ ॥

इयं महार्थेति विधिनोपसंहरन्नाह–

इच्चेअं छज्जीवणिअं सम्मद्दिट्ठी सया जए ।
दुल्लह लभित्तु सामण्णं कम्मणा (कम्मुणा) न विराहिज्जासि ॥ २९ ॥ त्ति बेमि ।

छा० इत्येतां षड्जीवनिकां, सम्यग्दृष्टिः सदा यतः ।
दुर्लभं लब्ध्वा श्रामण्यं, कर्मणा न विराधयेत् ॥ २९ ॥ इति ब्रवीमि ।

'इच्चेअं०'–इत्येतां षड्जीवनिकायिकां न विराधयेदिति योगः, सम्यग्दृष्टिर्जीवः सदा यतः–सर्वकालं प्रयत्नपरः सन्, दुर्लभं लब्ध्वा श्रामण्यं–श्रमणभावं षड्जीवनिकायसंरक्षणैकरूपं कर्मणा मनोवाक्कायक्रियया प्रमादेन न विराधयेत्, अप्रमत्तस्य तु द्रव्यविराधना कथञ्चिद् भवति, तथाऽप्यसावविराधनैवेत्यर्थः । एतेन–

" जले जीवाः स्थले जीवाः, आकाशे जीवमालिनि ।
जीवमालाऽऽकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः " ॥ १ ॥

१ इयं बृहद्वृत्तौ न व्याख्याता । २ प्राप्ता आर्द्रकुमार–नन्दिषेणादिवत्, इति प्रत्यन्तरे ।

इत्येतत्प्रत्युक्तम् । तथा सूक्ष्माणां विराधनाऽभावाच्च ॥ २९ ॥ ब्रवीमीति पूर्ववत् । इति षड्जीवनिकायिकाऽवचूरिः ।

॥ छज्जीवणिआनामज्झयणं चउत्थं ॥

॥ ति षड्जीवनिका—नामाध्ययनं चतुर्थम् ॥



॥ अथ पञ्चमाध्ययनम् ॥



षड्जीवनिकायिकाऽध्ययनोक्त आचारो—धर्मः काये स्वस्थे सति सम्यक् पाल्यते, सचाऽऽहारेणैव स्वस्थो भवति, स च सावद्येतरभेद इत्यनवद्यो ग्राह्यः, इत्येतदुच्यते, उक्तं च—

" से संजए समक्खाए, निरवज्जाहारि जे विऊ ।
धम्मकायट्ठिए सम्मं, सुहजोगाणं साहए " ॥ १ ॥

इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम्, तच्चेदम्—

संपत्ते भिक्खकालंमि असंभंतो अमुच्छिओ ।
इमेण कमजोगेण भत्तपाणं गवेसए ॥ १ ॥

छा० **सम्प्राप्ते भिक्षाकाले, असम्भ्रान्तोऽमूर्च्छितः ।**
अनेन क्रमयोगेन, भक्तपानं गवेषयेत् ॥ १ ॥

'संपत्ते०'—सम्प्राप्ते शोभनेन प्रकारेण स्वाध्यायकरणादिना प्राप्ते, भिक्षाकाले—भिक्षासमये, अनेन असम्प्राप्ते भक्तपानैषणानिषेधमाह, अलाभाऽऽज्ञाखण्डनाभ्यां दृष्टाऽदृष्टविरोधात्, असम्भ्रान्तोऽनाकुलो यथावदुपयोगादि

कृत्वा, नाऽन्यथेत्यर्थः, अमूर्च्छितः–पिण्डे शब्दादिषु वा, अगृद्धो–विहिताऽनुष्ठानमिति कृत्वा, न तु पिण्डादावेवाऽऽसक्त इति। अनेन क्रमयोगेन–परिपाटीव्यापारेण, भक्तपानम्–ओदनाऽऽरनालादि गवेषयेत् ॥ १ ॥

यत्र यथा गवेषयेत्तदाह—

से गामे वा नगरे वा गोअरग्गगओ मुणी ।
चरे मंदमणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेअसा ॥ २ ॥

छा० स ग्रामे वा नगरे वा, गोचराग्रगतो मुनिः ।
चरेन्मन्दमनुद्विग्नः, अव्याक्षिप्तेन चेतसा ॥ २ ॥

'से गामे०'–स इत्यसम्भ्रान्तोऽमूर्च्छितः। 'ग्रामे वा नगरे वा'–उपलक्षणत्वादस्य कर्बटादौ वा 'गोचराग्रगत' इति गोरिव चरणं–गोचरः–उत्तमाऽधममध्यमकुलेषु अरक्ताऽद्विष्टस्य भिक्षाटनम्, अग्रः प्रधानोऽभ्याहृताऽऽधाकर्मादिपरित्यागेन तद्गतस्तद्वर्ती मुनिः–भावसाधुः, चरेद्–गच्छेत्, शनैः शनैर्न द्रुतमित्यर्थः, अनुद्विग्नः प्रशान्तः परीषहादिभ्योऽबिभ्यत्, अव्याक्षिप्तेन चेतसा–शब्दादिष्वगतेन चेतसा एषणोपयुक्तेन ॥ २ ॥ यथा चरेत्तथैवाह—

पुरओ जुगमायाए पेहमाणो महीं चरे ।
वज्जंतो बीअहरिआइं पाणे अ दगमट्टिअं ॥ ३ ॥

छा० **पुरतो युगमात्रया, प्रेक्षमाणो महीं चरेत् ।**
वर्जयन्बीजहरितानि, प्राणिनश्चोदकमृत्तिकाम् ॥ ३ ॥

'पुरओ०'—पुरतोऽग्रतो युगमात्रया—शरीरप्रमाणया शकटोर्द्धिसंस्थितया दृष्ट्या, इति वाक्यशेषः, प्रेक्षमाणः प्रकर्षेण पश्यन् महीं चरेद्—यायात्, न प्रेक्षमाण एव अपि तु वर्जयन्—परिहरन्, 'बीजहरितानी'त्यनेनाऽनेकविध-वनस्पतेः परिहारमाह, तथा प्राणिनस्तथोदकम्—अप्कायं, मृत्तिकां च पृथिवीकायं, 'च' शब्दात्तेजोवायुपरिग्रहः ॥ ३ ॥

अथाऽऽत्मसंयमविराधनापरिहारमाह—

ओवायं विसमं खाणुं विज्जलं परिवज्जए ।
संकमेण न गच्छिज्जा विज्जमाणे परक्कमे ॥ ४ ॥

छा० **अवपातं विषमं स्थाणुं, विजलं परिवर्जयेत् ।**
संक्रमेण न गच्छेत्, विद्यमाने परक्रमे ॥ ४ ॥

'ओवायं०'—अवपातं—गर्तादिरूपं, विषमं—निम्नोन्नतम्, स्थाणुम्—ऊर्द्ध्वकाष्ठम्, विजलं—विगतजलं कर्दमं परिहरेत्, तथा संक्रमेण—जल-गर्त-परिहाराय पाषाणकाष्ठरचितेन न गच्छेत्, आत्मसंयमविराधनासम्भवात्, 'विद्यमाने परक्रमे'—अन्यमार्गे इत्यर्थः, अपवादमाह—असति तु तस्मिन् प्रयोजनमाश्रित्य यतनया गच्छेत् ॥ ४ ॥
अवपातादौ दोषमाह—

पवडंते व से तत्थ पक्खलंते व संजए ।
हिंसिज्ज पाणभूआइं तसे अदुव थावरे ॥ ५ ॥

छा० प्रपतन्वा स तत्र, प्रस्खलन् वा संयतः ।
हिंस्यात्प्राणिभूतानि, त्रसानथवा स्थावरान् ॥ ५ ॥

'पवडंते०'—प्रपतन् वाऽसौ तत्राऽवपातादौ प्रस्खलन् वा संयतः, हिंस्यात्प्राणिभूतानि, एतदेवाह—'त्रसान् अथवा स्थावरान्', प्रपातेनाऽऽत्मानं चेत्युभयविराधना ॥ ५ ॥

तम्हा तेण न गच्छिज्जा संजए सुसमाहिए ।
सइ अण्णेण मग्गेणं जयमेव परक्कमे ॥ ६ ॥

छा० तस्मात्तेन न गच्छेत्, संयतः सुसमाहितः ।
सत्यन्यस्मिन्मार्गे, यतमेव पराक्रामेत् ॥ ६ ॥

'तम्हा तेण०'—तस्मात्तेनाऽवपातादिमार्गेण न गच्छेत्, संयतः सुसमाहितो भगवदाज्ञावर्तीत्यर्थः, सत्य (ताऽ) न्येन मार्गेण [छान्दसत्वात् सप्तम्यर्थे तृतीया] असति त्वन्यमार्गे तेनैवाऽवपातादिना यतमेव पराक्रामेत्, यतमिति क्रियाविशेषणम्, यतम्—आत्मसंयमविराधनापरिहारेण यायात् ॥ ६ ॥

विशेषतः पृथिवीकाययतनामाह—

इंगालं छारिअं रासिं तुसरासिं च गोमयं ।
ससरक्खेहिं पाएहिं संजओ तं नइक्कमे ॥ ७ ॥
छा० आङ्गारं क्षारराशिं, तुषराशिं च गोमयम् ।
सरजस्काभ्यां पद्भ्यां, संयतस्तं नाऽतिक्रामेत् ॥ ७ ॥

'इंगालं०'—आङ्गारमित्यङ्गाराणामयम्—आङ्गारः, तमाङ्गारराशिम्, एवं क्षारराशिं, तुषराशिं, गोमयं—गोमयराशिं च, 'राशि'—शब्दः प्रत्येकमाभिसम्बध्यते, सरजस्काभ्यां पद्भ्यां, संयतस्तमनन्तरोदितं राशिं नाऽऽक्रामेत् ॥ ७ ॥ अप्कायादियतनामाह—

न चरिज्ज वासे वासंते महिआए व पडंतीए ।
महावाए व वायंते तिरिच्छसंपाइमेसु वा ॥ ८ ॥
छा० न चरेद्वर्षायां वर्षन्त्यां, मिहिकायां वा पतन्त्याम् ।
महावाते वा वाति, तिर्यक्संपाते(तिमे)षु वा ॥ ८ ॥

'न चरिज्ज०'--न चरेद्वर्षे वर्षति भिक्षाऽर्थम्, प्रविष्टो वर्षणे तु प्रच्छन्ने तिष्ठेत्, तथा मिहिकायां पतन्त्यां, सा च प्रायो गर्भमासेषु पतति, महावाते वा वाति सति, तदुत्खातरजोविराधनादोषात्, तिर्यक्सम्पतन्तीति तिर्यक्सम्पाताः—पतङ्गादयः, तेषु वा सत्सु क्वचिदपि—अशनिरूपेण न चरेत् ॥ ८ ॥ उक्ता प्रथमव्रतयतना, अथ चतुर्थव्रतयतनोच्यते—

न चरिज्ज वेससामंते बंभचेरवसाणए ।
बंभयारिस्स दंतस्स हुज्जा तत्थ विसुत्तिआ ॥ ९ ॥
छा० न चरेद्वेश्यासामन्ते, ब्रह्मचर्यवशानये(नयने) ।
ब्रह्मचारिणो दान्तस्य, भवेत्तत्र विस्रोतासिका ॥ ९ ॥

'न चरिज्ज०'—न चरेद्वेश्यासामन्ते—वेश्यागृहसमीपे, ब्रह्मचर्यवशाऽऽनयने—ब्रह्मचर्यम्-आत्मवशमानयति दर्शनाऽऽक्षेपादिनेति ब्रह्मचर्यवशाऽऽनयनम्, तस्मिन्, ब्रह्मचारिणो दान्तस्य इन्द्रियनोइन्द्रियदमाभ्यां भवेत्तत्र वेश्या-सामन्ते विस्रोतसिका—तद्रूपसन्दर्शनस्मरणाऽपध्यान-कचवर-निरोधतो ज्ञानश्रद्धानजलोज्झनेन संयमसस्य-शोषफला चित्तविक्रिया ॥ ९ ॥

अणायणे चरंतस्स संसग्गीइ अभिक्खणं ।
हुज्ज वयाणं पीला सामण्णम्मि अ संसओ ॥ १० ॥
छा० अनायतने चरतः, सांसर्गिक्या(संसर्गेणा)ऽभीक्ष्णम् ।
भवेद्व्रतानां पीडा, श्रामण्ये च संशयः ॥ १० ॥

'अणायणे०'—अनायतने—अस्थाने वेश्यासामन्तादौ चरतः संसर्गेणाऽभीक्ष्णं पुनः पुनर्भवेद्व्रतानां पीडा तदाक्षिप्तचेतसो भावविराधना । श्रामण्ये च द्रव्यतो रजोहरणादिसन्धारणरूपे भूयो भावव्रतप्रधानहेतौ संशयः, कदाचिदुन्निष्क्रामेदेव । तथा च वृद्धव्याख्या-"वेसादिगयभावस्स मेहुणं पीडिज्जइ ४, अणुवओगेणं एसणाकरणे हिंसा १,

पडुप्पायणे अण्णपुच्छणअवलवणा असच्चवयणं २, अणणुण्णाय वेसाइदंसणे अदत्तादाणं ३, ममत्तकरणे परिग्गहो ५, एवं सव्ववयपीडा । दव्वसामण्णे पुण संसओ उण्णिक्खमणेणत्ति ' ॥ १० ॥

तम्हा एअं विआणित्ता दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
वज्जए वेससामंतं मुणी एगंतमस्सिए ॥ ११ ॥

छा० तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्द्धनम् ।
वर्जयेद्वेश्यासामन्तं, मुनिरेकान्तमाश्रितः ॥ ११ ॥

' तम्हा० '—तस्मादेतं विज्ञाय दोषं दुर्गतिवर्द्धनं वर्जयेद्वेश्यासामन्तं मुनिरेकान्तं—मोक्षमार्गमाश्रितः ॥ ११ ॥ आह-प्रथमव्रतविराधनाऽनन्तरं चतुर्थव्रतविराधनोपन्यासः किमर्थः ? उच्यते—प्राधान्यख्यापनार्थः, अन्यव्रतविराधना-हेतुत्वेन प्राधान्यम्, तच्च लेशतो दर्शितमेवेति, अत्रैव विशेषमाह—

साणं सूयं[1] गाविं दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिब्भं कलहं जुद्धं दूरओ परिवज्जए ॥ १२ ॥

छा० श्वानं सूतां गां, दृप्तं गां हयं गजम् ।
संडिम्भं कलहं युद्धं, दूरतः परिवर्जयेत् ॥ १२ ॥

१ ' सूइअं ' इत्यपि पाठो बहुत्र दृश्यते, सच नातीवशुद्धः प्रतिभाति ।

'साणं०'—श्वानं, सूतां गां—नवप्रसूतां, दृप्तं—दर्पिष्ठं गौर्बलीवर्दस्तम्, अश्वं, गजं, 'संडिब्भं'ति बाल-क्रीडास्थानम्, कलहं—वाक्प्रतिबद्धम्, युद्धं—खड्गादिभिः, एतद् दूरतो—दूरेण परिवर्जयेत्, आत्मसंयमविराधनासम्भवात्, श्व—सूतगवी—प्रभृतिभ्य आत्मविराधना, डिम्भस्थाने वन्दनाद्यागमन—पतन—भण्डन—प्रलुठनादिना संयमविराधना। सर्वत्र चाऽऽत्मपात्रभेदादिनोभयविराधनेति ॥ १२ ॥

अणुण्णए नावणए अप्पहिट्ठे अणाउले ।
इंदिआणि जहाभागं दमइत्ता मुणी चरे ॥ १३ ॥

छा० **अनुन्नतो नावनतः, अप्रहृष्टोऽनाकुलः ।**
इन्द्रियाणि यथाभागं, दमयित्वा मुनिश्चरेत् ॥ १३ ॥

'अणुण्णए०'—अनुन्नतो द्रव्यतो नाऽऽकाशदर्शी, भावतो न जात्याद्यभिमानवान्, नाऽवनतः—द्रव्यतो न नीचकायः, भावतोऽलब्ध्यादिनाऽदीनः, अत्राऽप्रहृष्टः—अहसन्, अनाकुलः—क्रोधादिरहितः, इन्द्रियाणि—स्पर्शनादीनि यथाभागं—यथाविषयं दमयित्वा मुनिश्चरेत्, विपर्यये प्रभूतदोषप्रसङ्गात्, तथाहि—द्रव्योन्नतो—लोकहास्यः, भावोन्नतो—नेर्यां रक्षति, द्रव्याऽवनतो बक इति सम्भाव्यते, भावाऽवनतः क्षुद्रसत्त्व इति, प्रहृष्टो—योषिद्दर्शनाद्रक्त इति लक्ष्यते, आकुल एवमेव, अदान्तः प्रव्रज्याऽनर्हः ॥ १३ ॥

दवदवस्स न गच्छिज्जा भासमाणो अ गोअरे ।
हसंतो नाभिगच्छिज्जा कुलं उच्चावयं सया ॥ १४ ॥

छा० द्रुतं द्रुतं न गच्छेत्, भाषमाणश्च गोचरे ।
हसन्नाभिगच्छेत्, कुलमुच्चावचं सदा ॥ १४ ॥

'दवदवस्स०'—द्रुतं द्रुतं त्वरितमित्यर्थः, न गच्छेत्, भाषमाणो वा गोचरे न गच्छेत्, हसन्नाऽभिगच्छेत्, कुलमुच्चावचं सदा, उच्चं—द्रव्यभावभेदाद्द्विधा—द्रव्योच्चं—धवलगृहवासि, भावोच्चं—जात्यादियुक्तम्, एवमवचमपि—द्रव्यतः कुटीरवासि, भावतो जात्यादिहीनमिति । दोषा उभयविराधना-लोकोपघातादयः ॥ १४ ॥

आलोअं थिग्गलं दारं संधिं दगभवणाणि अ ।
चरंतो न विणिज्झाए संकट्ठाणं विवज्जए ॥ १५ ॥

छा० आलोकं चितं(थिग्गलं) द्वारं, सन्धिमुदकभवनानि च ।
चरन्न विनिर्ध्यायेत्, शङ्कास्थानं विवर्जयेत् ॥ १५ ॥

'आलोअं०'—अवलोकं—निर्यूहकादिरूपम्, थिग्गलं—चितं, द्वारादि, सन्धिश्चितं क्षत्रम्, उदकभवनानि—पानीयगृहान्, चरन् भिक्षार्थं न 'विणिज्झाएत्ति'—न पश्येत्, शङ्कास्थानमेतदवलोकादि, अतो विवर्जयेत्, तथा च नष्टादौ तत्र शङ्कोपजायते ॥ १५ ॥

रण्णो गिहवईणं च रहस्सारक्खिआण य ।
संकिलेसकरं ठाणं दूरओ परिवज्जए ॥ १६ ॥

छा० राज्ञो गृहपतीनाञ्च, रहस्यमारक्षकाणाञ्च ।
संक्लेशकरं स्थानं, दूरतः परिवर्जयेत् ॥ १६ ॥

'रण्णो०'—राज्ञश्चक्रवर्त्यादेर्गृहपतीनां—श्रेष्ठिप्रभृतीनां 'रहस्सठाणं' इति योगः, आरक्षकाणाञ्च—दण्डनायकादीनां रहःस्थानं—गुह्यापवरकमन्त्रगृहादि, संक्लेशकरम्—असकृदिच्छा-प्रवृत्त्या मन्त्रभेदे वा कर्षणादिना ॥१६॥

पडिकुट्ठकुलं न पविसे मामगं परिवज्जए ।
अचिअत्तकुलं न पविसे चिअत्तं पविसे कुलं ॥ १७ ॥

छा० प्रतिक्रुष्टकुलं न प्रविशेत्, मामकं परिवर्जयेत् ।
अप्रीतिकुलं[1] न प्रविशेत्, प्रीतं[2] प्रविशेत्कुलम् ॥ १७ ॥

'पडिकुट्ठ०'—प्रतिकुष्टम्—इत्वरयावत्काथिकभेदाद्द्विविधम्, इत्वरं—सूतकयुक्तम्, यावत्काथिकम्—अभोज्यम्, एतन्न प्रविशेत्, शासनलघुत्वप्रसङ्गात् । 'मामकं'—यत्राऽऽह गृहपतिर्मा मे कश्चिद् गृहमागच्छतु, एतद्वर्जयेत्, भण्डनादिप्रसङ्गात् । 'अचियत्तकुलं'—अप्रीतिकुलं यत्र प्रविशद्भिः साधुभिरप्रीतिरुत्पद्यते, न च निवारयन्ति कुतश्चिन्निमित्तान्तरात्, एतदपि न प्रविशेत्, तत्संक्लेशानिमित्तप्रसङ्गात्, 'चियत्तं'—अचियत्तविपरीतम् प्रविशेत्कुलम्, तदनुग्रहप्रसङ्गादिति ॥ १७ ॥

१ अप्रीतिकरं । २ प्रीतिकरं ।

साणीपावारपिहिअं अप्पणा नावपंगुरे ।
कवाडं णो पणुल्लिज्जा उग्गहंसि अजाइआ ॥ १८ ॥

छा० शाणीप्रावारपिहितम्, आत्मना नाऽपवृणुयात् ।
कपाटं न प्रणोदयेत्, अवग्रहमयाचित्वा ॥ १८ ॥

'साणी०'—साणी—सणातसी—वल्कजापटी, प्रावारो जवनिकादिः, कम्बल्याद्युपलक्षणमेतत्, एवमादिभिः पिहितं गृहमिति वाक्यशेषः, आत्मना स्वयं नाऽपवृणुयात्—नोद्घाटयेद् इत्यर्थः, किमविशेषेण ? नेत्याह—'अवग्रहमयाचित्वा'—आगाढप्रयोजने—अननुज्ञाप्याऽवग्रहं, विधिना धर्मलाभमकृत्वेति ॥ १८ ॥

गोअरग्गपविट्ठो उ (अ) वच्चमुत्तं न धारए ।
ओगासं फासुअं नच्चा, अणुण्णविअ वोसिरे ॥ १९ ॥

छा० गोचराग्रप्रविष्टस्तु(श्च), वर्चोमूत्रं न धारयेत् ।
अवकाशं प्रासुकं ज्ञात्वा, अनुज्ञाप्य व्युत्सृजेत् ॥ १९ ॥

'गोअरग्ग०'—गोचराऽग्रप्रविष्टो मुनिर्वर्चोमूत्रं वा न धारयेत्, अवकाशं प्रासुकं ज्ञात्वा, अनुज्ञाप्य व्युत्सृजेदिति । अस्य विषयो वृद्धसम्प्रदायादवसेयः । सचाऽयम्—" पुव्वमेव साहुणा सण्णाकाइओवओगं काऊण गोयरे

१ "धर्मलाभ" इतिपदं नागमोपज्ञम्, अपि तु दुर्भिक्षोपप्लुतानां भिक्षूणामाहाराद्यवश्यलाभाय कल्पितमित्यैतिह्यम्, अन्यथा धर्मलाभाऽऽशया प्रत्ताऽऽहारस्याकल्पनीयत्वात्, कथं तत्पदमभिदधीरन् धीरा मुनयः ?

पविसिअव्वं; कहिंचि ण कओ, कए वा पुणो हुज्जा, ताहे वच्चमुत्तं न धारिअव्वं, जओ मुत्तनिरोहे चक्खुवघाओ भवइ, वच्चनिरोहे अ जीविओवघाओ, असोहणा अ आयविराहणा। जओ भणिअं—" सव्वत्थ संजम " इत्यादि, अतो--' संघाडयस्स भायणाणि समप्पिअ पडिस्सए पाणयं गहाय सण्णाभूमीए विहिणा वोसिरिज्जा,' वित्थरओ जहा ओहणिज्जुत्तिए " त्ति ॥ १९ ॥

नीअदुवारं तमसं कुट्ठगं परिवज्जए।
अचक्खुविसओ जत्थ पाणा दुप्पडिलेहगा ॥ २० ॥

छा० **नीचद्वारं तमस्विनं, कोष्ठकं परिवर्जयेत्।**
अचक्षुर्विषयो यत्र, प्राणा दुष्प्रतिलेख्याः ॥ २० ॥

'नीअदुवारं०'—नीचद्वारं---नीचनिर्गमप्रवेशम्, तमसामिति तमोवन्तं (तमस्विनं) कोष्ठकमपवरकं परिवर्जयेत्, न तत्र भिक्षां गृह्णीयात्। सामान्याऽपेक्षया सर्व एवंविधो भवति, अत आह—' अचक्षुर्विषयो यत्र'—न चक्षुषोर्व्यापारो यत्रेत्यर्थः, अत्र दोषमाह—प्राणिनो दुष्प्रतिप्रेक्षणीया भवन्ति—ईर्याशुद्धिर्न भवतीति ॥ २० ॥

जत्थ पुप्फाइं बीआइं विप्पइण्णाइं कुट्ठए।
अहुणोवलित्तं उल्लं दट्ठूणं परिवज्जए ॥ २१ ॥

छा० **यत्र पुष्पाणि बीजानि, विप्रकीर्णानि कोष्ठके।**
अधुनोपलिप्तमार्द्रं, दृष्ट्वा परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥

'जत्थ०'—यत्र पुष्पाणि बीजानि विप्रकीर्णानि—अनेकधा विक्षिप्तानि—परिहर्तुमशक्यानीत्यर्थः, कोष्ठके तद्द्वारे वा, अधुनोपलिप्तमार्द्रं कोष्ठकमन्यद्वा दृष्ट्वा परिवर्जयेद् दूरत एव। न तु तत्र धर्मलाभं कुर्यात्, संयमाऽऽत्मविराधनोपपत्तेः ॥ २१ ॥

एलगं दारगं साणं वच्छगं वा वि कुट्ठए ।
उल्लंघिआ न पविसे विउहित्ताण व संजए ॥ २२ ॥

छा० एडकं दारकं श्वानं, वत्सकं वाऽपि कोष्ठके ।
उल्लङ्घ्य न प्रविशेत्, व्यूह्य वा संयतः ॥ २२ ॥

'एलगं०'—एडकं—मेषम्, दारकं—बालम्, श्वानं—मण्डलम्, वत्सकं वाऽपि क्षुद्रवृषभलक्षणम्, कोष्ठके उल्लङ्घ्य पद्भ्यां न प्रविशेत्, व्यूह्य वा—प्रेर्य वेत्यर्थः, संयतो न प्रविशेत्, आत्मसंयमविराधनादोषाल्लाघवाच्चेति ॥ २२ ॥

असंसत्तं पलोइज्जा नाइदूरावलोअए ।
उप्फुल्लं न विणिज्झाए निअट्टिज्ज अयंपिरो ॥ २३ ॥

छा० असंसक्तं प्रलोकयेत्, नातिदूरमवलोकयेत् ।
उत्फुल्लं न विनिर्ध्यायेत्, निवर्तेताऽजल्पाकः ॥ २३ ॥

१ आहारलाभं न कुर्यादित्यर्थः। पृष्ठ ९२ देखो—

'असंसत्तं०'—असंसक्तं प्रलोकयेत्-न योषिद्दृष्टेर्दृष्टिं मीलयेदित्यर्थः, रागोत्पत्तिलोकोपघातदोषात्, नातिदूरं प्रलोकयेत्-दायकस्याऽऽगमनमात्रदेशं प्रलोकयेत्, परतश्चौरादिशङ्कादोषः । उत्फुल्लं-विकसिताऽक्षं, 'न विणिज्झाएत्ति'-न निरीक्षेत गृहपरिच्छदमपि, अदृष्टकल्याण इति लाघवोत्पत्तेः । निवर्तेत-अलब्धेऽपि सति, अजल्पन्-दीनवचनमनुच्चारयन् ॥ २३ ॥

अइभूमिं न गच्छिज्जा गोअरग्गगओ मुणी ।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता मिअं भूमिं परक्कमे ॥ २४ ॥
छा० अतिभूमिं न गच्छेत्, गोचराग्रगतो मुनिः ।
कुलस्य भूमिं ज्ञात्वा, मितां भूमिं पराक्रामेत् ॥ २४ ॥

'अइभूमिं०'—अतिभूमिं न गच्छेत्—अननुज्ञातां गृहस्थैर्यत्राऽन्ये भिक्षाचरा नाऽऽयान्तीत्यर्थः । 'गोचराग्रगतो मुनिः'-अनेन अन्यदा तद्गमनाऽसम्भवमाह, किन्तर्हि ? कुलस्य भूमिम्-उत्तमाऽऽदिरूपामवस्थां ज्ञात्वा, मितां भूमिं—तैरनुज्ञातां पराक्रामेत्, यत्रैषामप्रीतिर्न जायते ॥ २४ ॥

तत्थेव पडिलेहिज्जा भूमिभागं विअक्खणो ।
सिणाणस्स य वच्चस्स संलोगं परिवज्जए ॥ २५ ॥
छा० तत्रैव प्रतिलिखेत्, भूमिभागं विचक्षणः ।
स्नानस्य च वर्चसः, संलोकं परिवर्जयेत् ॥ २५ ॥

'तत्थेव०'— तत्रैव तस्यामेव मितायां भूमौ प्रत्युपेक्षेत सूत्रोक्तेन विधिना भूमिभागमुचितं विचक्षणो-विद्वान्, अनेन केवलाऽगीताऽर्थस्य भिक्षाऽटनप्रतिषेधमाह, तत्र च तिष्ठन् स्नानस्य तथा वर्चसः संलोकं परिवर्जयेत्। एतदुक्तं स्यात्— स्नानभूमि-कायिकाऽऽदिभूमिदर्शनं परिहरेत्, प्रवचनलाघवप्रसङ्गात्, अप्रावृतस्त्रीदर्शनाच्च रागादिभावादिति ॥ २५ ॥

दगमट्टिअ आयाणे बीआणि हरिआणि अ।
परिवज्जंतो चिट्ठिज्जा[1] सव्विंदिअसमाहिए ॥ २६ ॥

छा० **उदकमृत्तिकाऽऽदानं, बीजानि हरितानि च।**
परिवर्जयंस्तिष्ठेत्, सर्वेन्द्रियसमाहितः ॥ २६ ॥

'दगमट्टिअ०'—उदकमृत्तिकाऽऽदानम्—आदीयतेऽनेनेत्यादानो-मार्गः, तदाऽऽनयनमार्ग इत्यर्थः, 'बीजानि हरितानि च'-'च' शब्दादन्यानि सचेतनानि परिवर्जयन्, तिष्ठेदनन्तरोदिते देशे, 'सर्वेन्द्रियसमाहितः'—शब्दादि-भिरव्याक्षिप्त इति ॥ २६ ॥

तत्थ से चिट्ठमाणस्स आहरे पाणभोअणं।
अकप्पिअं न गिण्हिज्जा पडिगाहिज्ज कप्पिअं ॥ २७ ॥

छा० **तत्र तस्य तिष्ठतः, आहरेत्पानभोजनम्।**
अकल्पिकं न गृह्णीयात्, प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकम् ॥ २७ ॥

---

[1] 'इच्छिज्जा' इत्यपि पाठः।

'तत्थ०'—तत्र से-तस्य तिष्ठतः साधोः, आहरेत्—आनयेत् पानभोजनं, गृहीति गम्यते। तत्राऽयं विधिः—अकल्पनीयमनेषणीयं न प्रतिगृह्णीयात्, प्रतिगृह्णीयात्कल्पिकमेषणीयम्। एतच्चाऽर्थादापन्नमपि कल्पिकग्रहणं द्रव्यतः शोभनमशोभनमप्येतदविशेषेण ग्राह्यमिति दर्शनार्थं साक्षादुक्तम् ॥ २७ ॥

आहरंती सिआ तत्थ परिसाडिज्ज भोअणं।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ २८ ॥

छा० आहरन्ती स्यात्तत्र, परिशाटयेद्भोजनम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ २८ ॥

'आहरंती०'—आहरन्ती—आनयन्ती भिक्षामगारी(रिणी)ति गम्यते, स्यात् तत्र—कदाचित्तत्रदेशे परिशाटयेत्—इतश्चेतश्च विक्षिपेद् भोजनं पानं वा, ततः किमित्याह—ददतीं प्रत्याचक्षीत—प्रतिषेधयेत् तामगारिणीम्, स्त्र्येव प्रायो भिक्षां ददातीति स्त्रीग्रहणम्, कथं प्रत्याचक्षीत? इत्याह—न मे-मम कल्पते तादृशं परिशाटनवत्, समयोक्तदोषप्रसङ्गात्, दोषांश्च भावं ज्ञात्वा कथयेन्मधुबिन्दूदाहरणादिना ॥ २८ ॥

सम्मद्दमाणी पाणाणि बीआणि हरिआणि अ।
असंजमकरिं नच्चा तारिसिं परिवज्जए ॥ २९ ॥

छा० संमर्दयन्ती प्राणिनः, बीजानि हरितानि च।
असंयमकरीं ज्ञात्वा, तादृशीं परिवर्जयेत् ॥ २९ ॥

'सम्मद्दमाणी०'—संमर्दयन्ती पद्भ्यां, कान्? इत्याह—प्राणिनो बीजानि हरितानि च, असंयमकरीं—साधुनिमित्तमसंयमकरणशीलां ज्ञात्वा तादृशीं परिवर्जयेत्, ददतीं प्रत्याचक्षीत ॥ २९ ॥

साहट्टु निक्खिवित्ताणं सच्चित्तं घट्टिआण अ।
तहेव समणट्ठाए उदगं संपणुल्लिआ ॥ ३० ॥

छा० **संहृत्य निक्षिप्य, सचित्तं घट्टयित्वा च।**
तथैव श्रमणार्थाय, उदकं सम्प्रणुद्य ॥ ३० ॥

'साहट्टु०'—संहृत्याऽन्यस्मिन् भाजने ददाति। "तत्थ फासुए फासुअं साहरइ १, फा० अ० सा० २, अफा० फा० सा० ३, अफा०, अफा०, सा० ४। तत्थ जं फासुए फासुअं तत्थ वि थोवे थोवं सा० १, थोवे बहुअं सा० २, बहुए थोवं सा० ३, बहुए बहुअं सा० ४, एवमादि," यथा पिण्डनिर्युक्तौ तथा ज्ञेयम्। निक्षिप्य भाजनगतमदेयं षट्सु जीवनिकायेषु ददाति, तथा सचित्तमलातपुष्पादि घट्टयित्वा—संचाल्य च ददाति, तथैव श्रमणाऽर्थम्—उदकं सम्प्रणुद्य—भाजनस्थं प्रेर्य ददाति ॥ ३० ॥

ओगाहइत्ता चलइत्ता आहरे पाणभोअणं।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३१ ॥

छा० **अवगाह्य चालयित्वा, आहरेत्पानभोजनम्।**
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ३१ ॥

'ओगाहइत्ता०'—अवगाह्य—उदकमेवाऽऽत्माऽभिमुखमाकृष्य ददाति, तथा चालयित्वा–उदकमेव ददाति, उदके नियमादनन्तवनस्पतिरिति 'सचित्तं घट्टयित्वा' इत्युक्तेऽपि प्राधान्याऽर्थं भेदेनोपादानम्, अस्ति चाऽयं न्यायो यदुत—सामान्यग्रहणेऽपि प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेनोपादानम्। ततश्च—उदकं चालयित्वा, आहरेत्–आनीयात्—दद्यादित्यर्थः, किन्तत्? इत्याह—'पानभोजनं'–ओदनाऽऽरनालादि, तदित्थम्भूतां ददतीं प्रत्याचक्षीत मम न कल्पते तादृशम् ॥ ३१ ॥

पुरेकम्मेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा ।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३२ ॥

छा० पुरःकर्मणा हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ३२ ॥

'पुरेकम्मेण०'—पुरःकर्मणा हस्तेन साध्वर्थं प्राक्कृतजलोज्झनेन, तथा दर्व्या—डोवसदृश्या, भाजनेन वा कांस्यभाजनादिना, (ददतीं प्रत्याचक्षीत) शेषं पूर्ववत् ॥ ३२ ॥

एवं उदउल्ले ससिणिद्धे ससरक्खे मट्टिआ ऊसे ।
हरिआले हिंगुलए मणोसिला अंजणे लोणे ॥ ३३ ॥

१ यथा—'ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायातः' इति ।

छा० एवमुदकार्द्रः सस्निग्धः, सरजस्को मृत्तिका ऊषः ।
हरितालः हिङ्गुलकः, मनःशिलाऽञ्जनं लवणम् ॥ ३३ ॥

'एवं उद०'—एवमुदकाऽऽर्द्रेण हस्तेन—गलदुदकबिन्दुना करेण, एवं सस्निग्धेन हस्तेन—ईषदुदकयुक्तेन, एवं सरजस्केन हस्तेन—भूरजोगुण्ठितेन, एवं मृद्गतेन हस्तेन—कर्दमयुक्तेन, एवमूषादिष्वपि योज्यम्, एतावन्त्येवैतानि सूत्राणि । नवरम्—ऊषः-पांशुक्षारः, हरिताल-हिङ्गुलक-मनःशिलाः—पार्थिवा वर्णकभेदाः, अञ्जनं—रसाञ्जनादि, लवणं—सामुद्रादि ॥ ३३ ॥

गेरुअ-वण्णिअ-सेडिअ-सोरट्ठिअ-पिट्ठ-कुक्कुसकए अ ।
उक्किट्ठमसंसट्ठे संसट्ठे चेव बोधव्वे ॥ ३४ ॥

छा०-गैरिक-वर्णिक-श्वेतिक (सेटिक)-सौराष्ट्रिक-पिष्ट-कुक्कुसकृते(न) च ।
उत्कृष्टमसंसृष्टः, संसृष्टश्चैव बोद्धव्यः ॥ ३४ ॥

'गेरुअ०'—गैरिको धातुः, वर्णिका—पीतमृत्तिका, श्वेतिका—श्वेतमृत्तिका, सौराष्ट्रिका—तुवरिका, पिष्टम्—आमतण्डुलक्षोदः, कुक्कुसाः प्रतीताः, कृतेनेति—एभिः कृतेन हस्तेनेति गम्यते । उत्कृष्टशब्देन कालिङ्गाऽलाबुत्रपुषफलादीनां शस्त्रकृतानि श्लक्ष्णखण्डानि भण्यन्ते, चिञ्चिणिकादि—पत्रसमुदायो वा उदूखलख(क)ण्डितः, असंसृष्टो व्यञ्जनादिनाऽलिप्तः, संसृष्टश्चैव व्यञ्जनालिप्तो बोद्धव्यो हस्त इति, विधिं पुनरत्रोर्द्ध्वं स्वयमेव वक्ष्यति ॥ ३४ ॥

१ अत्र 'एभिः संसृष्टेन हस्तेन' एतदर्थं विभक्तिपरिवर्तनं विधेयम् । छायायां मूलाऽनुरोधाद् यथावस्थमनूदितम् ।

असंसट्ठेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं न इच्छिज्जा पच्छाकम्मं जहिं भवे ॥ ३५ ॥

छा० असंसृष्टेन हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा ।
दीयमानं नेच्छेत्, पश्चात्कर्म यत्र भवेत् ॥ ३५ ॥

'असंसंट्ठेण०'—असंसृष्टेन हस्तेन—अन्नादिभिरलिप्तेन दर्व्या भाजनेन वा दीयमानं नेच्छेत्, पश्चात्कर्म भवति यत्र दर्व्यादौ, शुष्कमण्डकादिवत्, तदन्यद् दोषरहितं गृह्णीयात् ॥ ३५ ॥

संसट्ठेण य हत्थेण दव्वीए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा जं तत्थेसणिअं भवे ॥ ३६ ॥

छा० संसृष्टेन च हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा ।
दीयमानं प्रतीच्छेत्, यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥ ३६ ॥

'संसट्ठेण०'—(संसृष्टादिविशेषणयुतं तु) 'पडिच्छिज्जत्ति'—प्रतीच्छेत्—गृह्णीयात्, किं सामान्येन? इत्याह—यत् तत्रैषणीयं भवति तदन्यदोषरहितमित्यर्थः, इह च वृद्धसम्प्रदायः—"संसट्ठे हत्थे सं० मत्ते सावसेसे

दव्वे १, सं० हत्थे सं० मत्ते निरवसेसे दव्वे २, सं० हत्थे असं० मत्ते सावसेसे दव्वे ३, एवं अट्ठभंगा, इत्थ पढमो सव्वुत्तमो, अण्णेसु वि जत्थ सावसेसं दव्वं तत्थ विप्पइ, ण इअरेसु, पच्छाकम्म दोसओ" त्ति ॥ ३६ ॥

दुण्हं तु भुंजमाणाणं एगो तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं न इच्छिज्जा छंदं से पडिलेहए ॥ ३७ ॥

छा० द्वयोस्तु भुञ्जानयोः, एकस्तत्र निमन्त्रयेत् ।
दीयमानं नेच्छेत्, छन्दं तस्य प्रतिलेखयेत् ॥ ३७ ॥

'दुण्हं०'–'द्वयोर्भुञ्जतोः(भुञ्जानयोः)–एकवस्तुस्वामिनोरित्यर्थः,' एकस्तत्र निमन्त्रयेत्, तद्दीयमानं नेच्छेत्, उत्सर्गतः, अपि तु छन्दमभिप्रायं से–तस्य द्वितीयस्य प्रत्युपेक्षेत, नेत्रवक्त्रविकारैः, किमस्येदमिष्टं दीयमानं न वेति, इष्टं च गृह्णीयात्, न चेन्नैवेति, एवं भुञ्जानयोरभ्यवहारायोद्यतयोरपि योजनीयम्, [यतो भुजिः पालनेऽभ्यवहारे च वर्तते] ॥ ३७ ॥

दुण्हं तु भुंजमाणाणं दोवि तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा जं तत्थेसणिअं भवे ॥ ३८ ॥

छा० द्वयोस्तु भुञ्जानयोः, द्वावपि तत्र निमन्त्रयेताम् ।
दीयमानं प्रतीच्छेत्, यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥ ३८ ॥

'दुण्हं०'—द्वावपि तत्र निमन्त्रयेताम्, दीयमानं प्रतीच्छेत्, यत्तत्रैषणीयं भवेत्, तदन्यद् दोषरहित-मित्यर्थः ॥ ३८ ॥

गुव्विणीए उवण्णत्थं विविहं पाणभोअणं ।
भुंजमाणं विवज्जिज्जा भुत्तसेसं पडिच्छए ॥ ३९ ॥

छा० गुर्विण्या उपन्यस्तं, विविधं पानभोजनम् ।
भुज्यमानं विवर्जयेत्, भुक्तशेषं प्रतीच्छेत् ॥ ३९ ॥

'गुव्विणीए०'—गर्भवत्याः कल्पितमुपन्यस्तं विविधं पानभोजनं—द्राक्षापानखण्डखाद्यादि, तत्र भुज्यमानं तया विवर्ज्यम्, मा भूत्तस्या अल्पेनाऽभिलाषाऽनिवृत्त्या गर्भपातादिदोष इति, भुक्तशेषं—भुक्तोद्वरितं प्रतीच्छेत्, यत्र तस्या निवृत्तोऽभिलाष इति ॥ ३९ ॥

सिआ य समणट्ठाए गुव्विणी कालमासिणी ।
उट्ठिआ वा निसीइज्जा निसण्णा वा पुणुट्ठए ॥ ४० ॥

छा० स्याच्च श्रमणार्थं, गुर्विणी कालमासवती ।
उत्थिता वा निषीदेत्, निषण्णा वा पुनरुत्तिष्ठेत् ॥ ४० ॥

'सिआ०'—स्यात्कदाचित्साधुनिमित्तं गुर्विणी पूर्वोक्ता वा (कालमासवती), गर्भाऽऽधानान्नवमासवतीत्यर्थः, उत्थिता वा यथाकथञ्चिन्निषीदेत्, निषण्णा वा स्वव्यापारेण पुनरुत्तिष्ठेत्, ददामीति साधुनिमित्तमेवेति ॥ ४० ॥

तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४१ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४१ ॥

'तं भवे०'—तद् भवेद् भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकम्, इह च स्थविरकल्पिकानामनिषी(ष)दनोत्थानाभ्यां यथाऽवस्थितया दीयमानं कल्पिकम्, जिनकल्पिकानां तु आपन्नसत्त्वया प्रथमदिवसादारभ्य सर्वथा दीयमानमकल्पिकमेवेति सम्प्रदायः, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४१ ॥

थणगं पिज्जमाणी दारगं वा कुमारिअं ।
तं निक्खिवित्तु रोअंतं आहरे पाणभोअणं ॥ ४२ ॥

छा० स्तन्यं पाययन्ती, दारकं वा कुमारिकाम् ।
तौ निक्षिप्य रुदन्तौ, आहरेत्पानभोजनम् ॥ ४२ ॥

'थणगं०'—स्तनं(न्यं) पाययन्ती दारकं कुमारिकां वा, वा भिन्नक्रमः, तं दारकादिं निक्षिप्य रुदन्तं भूम्यादौ—आहरेत्पानभोजनम्, अत्राऽयं वृद्धसम्प्रदायः—"गच्छवासी जइ थणजीवी पिअंतो णिक्खित्तो तो न गिण्हंति, रोवउ वा मा वा, अह अण्णं पि आहारेइ तो जति ण रोवइ तो गिण्हंति, अह रोवइ तो ण गिण्हंति, अह अपिअंतओ णिक्खित्तो थणजीवी रोवइ तओ ण गिण्हंति, अह ण रोवति तो गिण्हंति । गच्छणिग्गया पुण जाव थणजीवी ताव रोवउ वा मा वा पिअंतओ वा अपिअंतओ वा ण गिण्हंति, जाहे अण्णं पि आहारेउं आढत्तो भवति, ताहे जइ पिअंतओ तो रोवउ वा मा वा ण गिण्हंति, अह अपिअंतओ तो जइ रोवइ तो परिहरंति, अरोविए गिण्हंति, सीसो आह—'को तत्थ दोसोत्ति(त्थि)?' आयरिओ भणइ—'तस्स णिक्खिप्पमाणस्स खरेहिं हत्थेहिं घिप्पमाणस्स अथिरत्तणेण परियावणादोसो मज्जारादि वा अवहरेज्ज'त्ति" ॥ ४२ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४३ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४३ ॥

‘तं भवे०’–व्याख्या पूर्ववत् ॥ ४३ ॥

जं भवे भत्तपाणं तु कप्पाकप्पम्मि संकिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४४ ॥

छा० यद्भवेद्भक्तपानं तु, कल्पाकल्पयोः शङ्कितम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४४ ॥

‘जं भवे०’–यद् भवेद् भक्तपानं तु कल्पाऽकल्पयोः–कल्पनीयाऽकल्पनीय–धर्मविषय इत्यर्थः, किम् ? शङ्कितं–न विद्मः किमिदमुद्गमादिदोषयुक्तं किं वा नेति, एवमाशङ्काऽऽस्पदीभूतम्, तदित्थम्भूतमसति कल्पनीयनिश्चये ‘दिंतिअं०’–(व्याख्या पूर्ववत्) ॥ ४४ ॥

दगवारेण पिहिअं नीसाए पीढएण वा ।
लोढेण वा वि लेवेण सिलेसेण व केणइ ॥ ४५ ॥

छा० उदककुम्भेन पिहितं, पेषण्या पीठकेन वा ।
शिलापुत्रकेण(लोढेन) वाऽपि लेपेन, श्लेषेण वा केनचित् ॥ ४५ ॥

'दगवारेण०'–'दगवारेण'–उदककुम्भेन पिहितं भाजनस्थं सन्तं स्थगितं, 'नीसाएत्ति'-पेषण्या, पीठकेन वा–काष्ठपीठादिना, 'लोढेण वा'–शिलापुत्रकेण, लेपेन–मृल्लेपादिना, श्लेषेण वा–केनचिज्जतुसम्बन्धिसिक्थादिना ॥ ४५ ॥

तं च उब्भिंदिआ दिज्जा समणट्ठाए व दावए।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४६ ॥

छा० तच्चोद्भिद्य दद्यात्, श्रमणार्थं वा दापयेत्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४६ ॥

'तं च उब्भिंदिआ०'–तच्च स्थगितं लिप्तं वा सत्, उद्भिद्य–उद्घाट्य दद्यात्, च श्रमणाऽर्थमेव दायको नाऽऽत्माऽ(ऽन्या)र्थम् ॥ ४६ ॥

असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा दाणट्ठा पगडं इमं ॥ ४७ ॥

छा० अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयाच्छृणुयाद्वा, दानार्थं प्रकृतमिदम् ॥ ४७ ॥

१ मधुरिक्तं मधुच्छत्रं सिक्थमित्युच्यते। २ 'दायिका' इति वा।

'असणं०'—अशनं पानकं वाऽपि खाद्यं स्वाद्यम्',—ओदन-आरनाल-लड्डुक-हरीतक्यादि, यज्जानीयात्—आमन्त्रणादिना, शृणुयाद्वा—अन्यतः, यथा—'दानाऽर्थं प्रकृतमिदम्', दानार्थं प्रकृतं नाम साधुवादनिमित्तं यो ददाति—अव्यापारः पाषण्डिभ्यो देशाऽन्तरादेरागतो वणिक्प्रभृतिरिति ॥ ४७ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४८ ॥

छा० **तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।**
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ४८ ॥

'तं भवे०'—तादृशं भक्तपानम् (शेषं तथैव) ॥ ४८ ॥

असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा पुण्णट्ठा पगडं इमं ॥ ४९ ॥

छा० **अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।**
यज्जानीयाच्छृणुयाद्वा, पुण्यार्थं प्रकृतमिदम् ॥ ४९ ॥

'असणं०'—'पुण्णट्ठ'त्ति—पुण्याऽर्थं प्रकृतं नामेति—साधुवादाऽनङ्गीकारेण पुण्याऽर्थमेव ॥ ४९ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५० ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५० ॥

'तं भवे०'—पूर्ववत् ॥ ५० ॥

असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा वणिमट्ठा पगडं इमं ॥ ५१

छा० अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
यज्जानीयाच्छृणुयाद्वा, वनीपकार्थं प्रकृतमिदम् ॥ ५१ ॥

'असणं०'—वणिमट्ठ'त्ति—वनीपकाः कृपणास्तदर्थमिति ॥ ५१ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५२ ॥

॥ १०९ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
दद्तीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५२ ॥

'तं भवे०'–(तारिसं) पूर्ववत् ॥ ५२ ॥

असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा समणट्ठा पगडं इमं ॥ ५३ ॥

छा० अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
यज्जानीयाच्छृणुयाद्वा, श्रमणार्थं प्रकृतमिदम् ॥ ५३ ॥

'असणं०'–'समणट्ठ'त्ति श्रमणाः–निर्ग्रन्थास्तेषामर्थम् ॥ ५३ ॥

अत्राऽऽह–पुण्यार्थप्रकृतपरित्यागे विशिष्टकुलेषु वस्तुतो भिक्षाया अग्रहणमेव, शिष्टानां पुण्याऽर्थमेव पाकप्रवृत्तेः, तथाहि न पितृकर्मादिव्यपोहेनाऽऽत्माऽर्थमेव क्षुद्रसत्त्ववत्प्रवर्तन्ते शिष्टा इति, नैतदेवम्, अभिप्रायाऽपरिज्ञानात्, स्वभोग्यातिरिक्तस्य देयस्यैव पुण्याऽर्थकृतस्य निषेधात्, स्वभृत्य–भोग्यस्य पुनरुचितप्रमाणस्य-इत्वरयदृच्छादेयस्य कुशलप्रणिधानकृतस्याऽप्यानिषेधात्, इति । एतेनाऽदेयदानाऽभावः प्रत्युक्तः, देयस्यैव यदृच्छादानाऽनुपपत्तेः, तथा व्यवहारदर्शनात्, अनीदृशस्यैव प्रतिषेधात्, तदारम्भदोषेण योगात्, यदृच्छादाने तु तदभावेऽपि आरम्भ-

प्रवृत्तेर्नाऽसौ तदर्थं इत्यारम्भदोषाऽयोगात्, दृश्यते च कदाचित्सूतकादाविव सर्वेभ्य एव प्रदानविकला शिष्टाऽभिमतानामपि पाकप्रवृत्तिरिति, विहिताऽनुष्ठानत्वाच्च तथाविधग्रहणान्न दोष इति ।

तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५४ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५४ ॥

'तं भवे०'— व्याख्या पूर्ववत् ॥ ५४ ॥

उद्देसिअं कीअगडं पूइकम्मं च आहडं ।
अज्झोअरपामिच्चं मीसजायं च वज्जए ॥ ५५ ॥

छा० औद्देशिकं क्रीतकृतं, पूतिकर्म चाहृतम् ।
अध्यवपूरकं प्रामित्यं, मिश्रजातं च वर्जयेत् ॥ ५५ ॥

'उद्देसिअं०'— उद्दिश्य कृतमौद्देशिकम्—उद्दिष्टकृतकर्मादिभेदम्, क्रीतकृतं—द्रव्यभाव-क्राय-क्रीत-भेदम्, पूतिकर्म—सम्भाव्यमानाऽऽधाकर्माऽवयवसम्मिश्रणलक्षणम्, आहृतं—स्वग्रामाऽऽहृतादि, अध्यवपूरकं—

स्वार्थमूलाद् ग्र(र)हणे प्रक्षेपरूपम्, प्रामित्यं—साध्वर्थमुच्छिद्य दानलक्षणम्, मिश्रजातं च—आदित एव गृहिसंयत-मिश्रोपस्कृतरूपम् ॥ ५५ ॥ संशयव्यपोहायोपायमाह—

उग्गमं से अ पुच्छिज्जा कस्सट्ठा केण वा कडं ।
सुच्चा निस्संकिअं सुद्धं पडिगाहिज्ज संजए ॥ ५६ ॥

छा० उद्गमं तस्य च पृच्छेत्, कस्यार्थं केन वा कृतम् ।
श्रुत्वा निःशङ्कितं शुद्धं, प्रतिगृह्णीयात् संयतः ॥ ५६ ॥

'उग्गमं०'—उद्गमं—तत्प्रसूतिरूपं, से—तस्य शाङ्कितस्याऽशनाऽऽदेः पृच्छेत्-'कस्याऽर्थमेतत्, केन वा कृतमेतत्?', श्रुत्वा तद्वचो—न भवदर्थं किन्त्वन्याऽर्थमित्येवम्भूतं, निश्शङ्कितम्—शुद्धं प्रतिगृह्णीयात् संयतः, विपर्ययग्रहणे दोषादिति ॥ ५६ ॥

असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
पुप्फेसु हुज्ज उम्मीसं बीएसु हरिएसु वा ॥ ५७ ॥

छा० अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
पुष्पेषु भवेदुन्मिश्रं, बीजेषु हरितेषु वा ॥ ५७ ॥

१ 'अत्र तृतीयार्थे सप्तमी' वृत्तिकारः ।

‘ असणं० ’—‘ पुप्फेसु ’ इत्यादि—पुष्पैर्जातिपटलाऽऽदिभिर्भवेदुन्मिश्रं, बीजैर्हरितैर्वा [तृतीयाऽर्थे सप्तमी] इति ॥ ५७ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५८ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ५८ ॥

‘तं भवे०’—तादृशं भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकम्, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशमिति ॥ ५८ ॥

असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
उदगंमि हुज्ज निक्खित्तं उत्तिंगपणगेसु वा ॥ ५९ ॥

छा० अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
उदके भवेन्निक्षिप्तम्, उत्तिङ्गपनकेषु वा ॥ ५९ ॥

‘असणं०’—अशनं पानकं खाद्यं स्वाद्यं तथा—उदके भवेन्निक्षिप्तम्, उत्तिङ्गपनकेषु वा—कीटिकानगरोली-

(ली)षु वेति, " उदयनिक्खित्तं दुविहं—अणंतरं, परंपरं च, अणंतरं—णवणीय-पुग्गलमादि, परंपरं—जलघडोवरि भायणत्थं दधिमादि, एवं उत्तिंगपणएसु "—भावनीयमिति ॥ ५९ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६० ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ६० ॥

'तं भवे०'—पूर्ववत् ॥ ६० ॥

असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
तेउम्मि हुज्ज निक्खित्तं तं च संघट्टिआ दए ॥ ६१ ॥

छा० अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
तेजसि भवेन्निक्षिप्तं, तच्च सङ्घट्ट्य दद्यात् ॥ ६१ ॥

'असणं०'—'तेउम्मि' इत्यादि—तेजस्यग्नौ निक्षिप्तं (भवेत्) तच्च संघट्ट्य दद्यात् ॥ ६१ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६२ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ६२ ॥

'तं भवे०'—पूर्ववत् ॥ ६२ ॥

एवं उस्सक्किआ ओसक्किआ उज्जालिआ (पज्जालिआ) निव्वाविआ ।
उस्सिंचिआ निस्सिंचिआ उव्व(ओव)त्तिआ ओआरिआ दए ॥ ६३ ॥

छा० एवमुत्ष्वष्क्यावष्वष्क्य, उज्ज्वाल्य (प्रज्ज्वाल्य) निर्वाप्य ।
उत्सिच्य निषिच्य उद्व(अपव)र्त्य, अवतार्य दद्यात् ॥ ६३ ॥

'एवं उस्सक्किआ०'—यावद् भिक्षां ददामि तावन्माभूद् विध्यास्यती(विध्यासितामि)ति उत्सिच्य दद्यात्, एवम्—'ओसक्किआ'—अवसर्प्य—अतिदाहभयादुल्मुकान् उत्सार्येत्यर्थः, एवम्—' उज्जालिआ, पज्जालिआ '—उज्ज्वाल्य—अर्द्धविध्यातं सकृदिन्धनप्रक्षेपेण, प्रज्ज्वाल्य—पुनः पुनः, एवम्—'निव्वाविआ'—निर्वाप्य दाहभयादेवेति भावः, एवम्—'उस्सिंचिआ'—उत्सिच्य—अतिभृतादुज्झनभयेन, ततो वा दानार्थं तेमनादीनि, 'निस्सिंचिआ'—निषिच्य तद्भाजनाद्[1]द्राहितं द्रव्यमन्यत्रभाजने तेन दद्यात्, उद्वर्तनभयेन वा द्राहितमुदकेन निषिच्य, एवम्—' ओवत्तिआ ओआरिआ '—अपवर्त्य तेनैव अग्निनिक्षिप्तेन भाजनेन अन्येन वा दद्यात्, तथा अवतार्य दाहभयात्, दानाऽर्थं वा दद्यात्, अत्र तदन्यच्च साधुनिमित्तयोगे न कल्पते ॥ ६३ ॥ इत्याह च—

१ द्राहितं—भाजनस्थं निक्षिप्तमित्यर्थः ।

तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ६४ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ६४ ॥

'तं भवे०'—पूर्ववत् ॥ ६४ ॥ गोचराऽधिकार एव गोचरप्रविष्टस्य यद् भवेत् तदाऽऽह—

हुज्ज कट्ठं सिलं वा वि इट्टालं वा वि एगया ।
ठविअं संकमट्ठाए तं च हुज्ज चलाचलं ॥ ६५ ॥

छा० भवेत्काष्ठं शिला वाऽपि, इष्टिका वाऽप्येकदा ।
स्थापितं संक्रमार्थाय, तच्च भवेच्चलाऽचलम् ॥ ६५ ॥

'हुज्ज०'—भवेत् काष्ठं, शिला वाऽपि, इट्टालं वाऽप्येकदा—एकस्मिन् काले प्रावृडादौ स्थापितं संक्रमाऽर्थं, तच्च भवेच्चलाऽचलमप्रतिष्ठितम् ॥ ६५ ॥

न तेण भिक्खू गच्छिज्जा दिट्ठो तत्थ असंजमो ।
गंभीरं झुसिरं चेव सव्विंदिअसमाहिए ॥ ६६ ॥

छा० न तेन भिक्षुर्गच्छेत्, दृष्टस्तत्राऽसंयमः ।
गम्भीरं शुषिरं चैव, सर्वेन्द्रियसमाहितः ॥ ६६ ॥

गम्भीरं शुषिरं चेव, सर्वेन्द्रियसमाहितः ॥ ६६ ॥

'न तेण०'—न तेन काष्ठादिना भिक्षुर्गच्छेत्, दृष्टस्तत्राऽसंयमः, तच्चलने प्राण्युपमर्दसम्भवात्, तथा गम्भीरमप्रकाशम्, सुषिरं चैवमन्तःसाररहितम्, सर्वेन्द्रियसमाहितः ॥ ६६ ॥

निस्सेणिं फलगं पीढं ऊसवित्ताणमारुहे ।
मंचं कीलं च पासायं समणट्ठा एव दावए ॥ ६७ ॥

छा० निश्रेणिं फलकं पीठम्, उत्सृत्याऽऽरोहेत् ।
मञ्चं कीलकं च प्रासादं, श्रमणार्थमेव दायकः(यिका) ॥ ६७ ॥

'निस्सेणिं०'—निश्रेणीं फलकं पीठम्, 'ऊसवित्ताणं'—उच्छ्रित्य—ऊर्द्ध्वंकृत्य(त्वा) इत्यर्थः, आरोहेन्मञ्चं कीलं च उच्छ्रित्य, कमारोहेदित्याह—प्रासादं श्रमणाऽर्थं—साधुनिमित्तं दायकः—दाता ॥ ६७ ॥ अत्रैव दोषमाह—

दुरूहमाणी पवडिज्जा हत्थं पायं व लूसए ।
पुढवीजीवे वि हिंसिज्जा जे अ तण्णिस्सिआ जगा(गे) ॥ ६८ ॥

छा० दूरोहन्ती प्रपतेत्, हस्तं पादं वा लूषयेत् ।
पृथ्वीजीवानपि हिंस्यात्, ये (यानि) च तन्निश्रिता(नि) जगति(न्ति) ॥ ६८ ॥

'दुरूहमाणी०'—आरोहन्ती प्रपतेत्, प्रपतन्ती च हस्तं पादं वा लूषयेत्, स्वकं स्वत एव खण्डयेत्, तथा पृथिवीजीवान् विहिंस्यात् कथञ्चित्तत्रस्थान्, तथा यानि च तन्निश्रितानि जगन्ति—प्राणिनश्च (तान्) हिंस्यात् ॥ ६८ ॥

एआरिसे महादोसे जाणिऊण महेसिणो ।
तम्हा मालोहडं भिक्खं न पडिगिण्हंति संजया ॥ ६९ ॥

छा० एतादृशान्महादोषान्, ज्ञात्वा महर्षयः ।
तस्मान्मालापहृतां भिक्षां, न प्रतिगृह्णन्ति संयताः ॥ ६९ ॥

'एआरिसे०'—ईदृशान् अनन्तरोदितान् महादोषान् ज्ञात्वा महर्षयो यस्माद्दोषकारिणीयं तस्मान्मालाऽपहृतां-मालादानीतां भिक्षां न प्रतिगृह्णन्ति संयताः, पाठाऽन्तरं वा—'हंदि मालोहडं'ति—मालाऽपहृतामिति, हंदीत्युपप्रदर्शने ॥ ६९ ॥ प्रतिषेधाऽधिकार एवाऽऽह—

कंदं मूलं पलंबं वा आमं छिण्णं व सण्णिरं ।
तुंबागं सिंगवेरं च आमगं परिवज्जए ॥ ७० ॥

छा० कन्दं मूलं प्रलम्बं वा, आमं छिन्नं वा सन्निरम् ।
तुम्बाकं शृङ्गवेरं च, आमकं परिवर्जयेत् ॥ ७० ॥

'कंदं०'—कन्दं—सूरणाऽऽदिलक्षणं, मूलं—विदारिकारूपं, प्रलम्बं वा-तालफलादि, आमं छिन्नं वा सन्निरं—संनिरमिति पत्रशाकं, तुम्बाकम्-त्वङ्मज्जान्तर्वर्ति-आर्द्रं वा तुलसीमित्यन्ये, शृङ्गवेरम्-आर्द्रकम्, आमं परिवर्जयेत् ॥७०॥

तहेव सत्तुचुण्णाइं कोलचुण्णाइं आवणे ।
सक्कुलिं फाणिअं पूअं अण्णं वा वि तहाविहं ॥ ७१ ॥

छा० तथैव सक्तुचूर्णानि, कोलचूर्णान्यापणे ।
शष्कुलिं फाणितमपूपम्, अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥ ७१ ॥

'तहेव'०—तथैव सक्तुचूर्णान्—सक्तून्, कोलचूर्णान्—बदरचूर्णान्, आपणे—वीथ्यां, शष्कुलीं—तिलपर्पटिकां, फाणितं— द्रवगुडं, पूपं—कणिकादिमयम्, अन्यद्वा तथाविधं मोदकादि ॥ ७१ ॥

विक्कायमाणं पसढं रएण परिफासिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७२ ॥

छा० विक्रीयमाणं प्रसँढं (प्रसह्यं), रजसा परिस्पृष्टम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ७२ ॥

'विक्कायमाणं० '—विक्रीयमाणम् आपण इति वर्तते, प्रसह्यम्-अनेकादिवसस्थापनेन प्रकटम्, अत एव रजसा पार्थिवेन परिस्पृष्टं तदित्थम्भूतं, तत्र ददतीं प्रत्याचक्षीत न मम कल्पते तादृशम् ॥ ७२ ॥

बहुअट्ठिअं पुग्गलं अणिमिसं वा बहुकंटयं ।
अत्थिअं तिंदुअं बिल्लं इच्छुखंडं व सं(सिं)बलिं ॥ ७३ ॥

१ प्रकटार्थमिदं पदम् ।

छा० बह्वस्थिकं पुद्गलम्, अनिमिषं वा बहुकण्टकम् ।
अस्थिकं तिन्दुकं बिल्वम्, इक्षुखण्डं वा शाल्मलिम् ॥ ७३ ॥

'बहुअट्ठिअं०'—बह्वस्थिपुद्गलं-मांसम्, अनिमिषं वा-मत्स्यं वा बहुकण्टकम्, अयं किल कालाद्यपेक्षया ग्रहणे प्रतिषेधः । अन्ये त्वभिदधति— "वनस्पत्यधिकारात् तथाविधफलाऽभिधाने-एते इति", तथा चाह— अच्छिकम्-अच्छिकवृक्षफलम्, तेन्दुकं-तेन्दुरुकीफलम्, बिल्वम् इक्षुखण्डमिति च प्रतीते, शाल्मलीं वा—वल्लादिफलं वा, 'वा'शब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः ॥ ७३ ॥ अत्रैव दोषमाह—

---

(१) अत्राऽयं विशेषविमर्शः—पुद्गलाऽनिमिषशब्दयोरन्यार्थयोरपि बह्वस्थिकबहुकण्टक-विशेषणे मत्स्यमांसयोः शक्तिं ग्राहयतः, किन्तु प्राणिघातपातकात्सुदूरं गतस्याऽऽर्हताऽऽगमस्य संयताऽशने मत्स्यमांससंनिवेशो ब्रह्मचारिणो वेश्याऽभिनिवेश इव श्रोत्रियस्य चाण्डालाऽऽलिङ्गनमिव नितरामान्तरमुद्वेजयति, तस्मात् त्रिभिः करणैर्योगैश्च जिघांसां परिहरत आर्हतस्य मुनेः—

"नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् । संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः" ॥ १ ॥

इत्यादीनि मानवान्यपि वचनानि स्मृतिपथादपयास्यन्तीति न प्रतीतिर्बलवती, तस्मात्प्रक्षिप्तेयं गाथेति बलवदभिज्ञानम् ।

अथ मूलस्थेयं गाथा तत्रत्यनिषेध्यानामितरथा निषेधाऽसम्भवात्, अत्रपक्षेऽपि समाचक्षते विचक्षणाः—"अत्र 'पुग्गलं' 'अणिमिसं' इति सविशेषणं पदद्वयं तथोपन्यस्तं यथा चः प्रकरणमिदं सान्दिग्धमभूत्, पक्षद्वयसूचनया च वृत्तिकारैरपि काऽपि निर्णीतिर्न प्रत्ता, प्रकरणमिदमादाय धीधनैरिदानीन्तनैर्जैनाऽऽगमस्थमात्रं पुद्गलादिपदं फलार्थकमेवेति सप्रमाणं निर्णीतम्, अत एव विशदं निर्णिनीषुभिर्विषयेऽत्र उपाध्यायमुनिभिः शतावधानिमुनिभिश्च प्रणीतनिबन्धतोऽधिकमवसेयम् । किन्तु बहुषु स्थलेषु निरुक्तं पदं मत्स्यमांसार्थकतयैव वृत्तिकारैरङ्गीकृतम्, अतश्च मानसं संशेतेऽनुमिनोति च यत्सौगतसाहित्यप्रत्यासत्त्याऽऽर्हतसाहित्येऽपि जनरुचिमनुसृत्य तच्छाया पतिता किन्तु नितरामहिंसके जैनागमेऽधुना सा शोभां नासदयतीति॥

अप्पे सिआ भोअणजाए बहुउज्झिअधम्मिए ।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७४ ॥

छा० अल्पं स्याद्भोजनजातं, बहूज्झनधर्मकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ७४ ॥

'अप्पे०'—अल्पं स्याद् भोजनजातमत्र, बहूज्झनधर्मकमेतत्, यतश्चैवम् अतो ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशमिति ॥ ७४ ॥ उक्तोऽशनविधिः, साम्प्रतं पानविधिमाह—

तहेवुच्चावयं पाणं अदुवा वारधोअणं ।
संसेइमं चाउलोदगं अहुणाधोअं विवज्जए ॥ ७५ ॥

छा० तथैवोच्चाऽवचं पानम्, अथवा घट(वारक)धावनम् ।
संस्वेदिमं(दजं) तण्डुलोदकम्, अधुनाधौतं विवर्जयेत् ॥ ७५ ॥

'तहेवु०'—तथैव यथाऽशनमुच्चावचं, पानं चोच्चं वर्णाद्युपेतम्, अवचं वर्णादिहीनम्, अथवा वारक-धावनं—गुड-घट-धावनादि, संस्वेदजं पिष्टोदकादि, तण्डुलोदकं च अधुनाधौतमपरिणतं विवर्जयेदिति ॥ ७५ ॥ अत्रैव विधिमाह—

जं जाणिज्ज चिराधोअं मइए दंसणेण वा ।
पडिपुच्छिऊण सुच्चा वा जं च निस्संकिअं भवे ॥ ७६ ॥

छा० यज्जानीयाच्चिरधौतं, मत्या दर्शनेन वा ।
परिपृच्छय श्रुत्वा वा, यच्च निःशङ्कितं भवेत् ॥ ७६ ॥

'जं जाणिज्ज०'—यत्तण्डुलोदकं जानीयात्—विद्याच्चिरधौतं मत्या दर्शनेन वा, पृष्ट्वा गृहस्थं श्रुत्वा च प्रतिवचः, यच्च निश्शङ्कितं भवेत् तद् गृह्णीयादिति शेषः (एषाऽवशिष्टा व्याख्या प्रत्यन्तरतः) ॥ ७६ ॥ उष्णोदकादिविधिमाह—

अजीवं परिणयं नच्चा पडिगाहिज्ज संजए ।
अह संकिअं भविज्जा आसाइत्ताण रोअए ॥ ७७ ॥

छा० अजीवं परिणतं ज्ञात्वा, प्रतिगृह्णीयात् संयतः ।
अथ शङ्कितं भवेत्, आस्वाद्य रोचयेत् ॥ ७७ ॥

'अजीवं०'—उष्णोदकमजीवपरिणतं ज्ञात्वा त्रिदण्डपरिवर्तनादिरूपं, मत्या दर्शनेन चेत्यादि वर्तते, तादित्थम्भूतं प्रतिगृह्णीयात्संयतः, चतुर्थरसमपि अपूत्यादि देहोपकारकं मत्यादिना ज्ञात्वा इति, अथ शङ्कितं भवेत् पूत्यादिभावेन, तत आस्वाद्य रोचयेत्, विनिश्चयं कुर्यात ॥ ७७ ॥

थोवमासायणट्ठाए हत्थगम्मि दलाहि मे ।
मा मे अच्चंबिलं पूइं नालं तिण्हं विणित्तए ॥ ७८ ॥

छा० स्तोकमास्वादनार्थं, हस्तके देहि मे ।
मा मे अत्यम्लं पूति, नाऽलं तृष्णां विनेतुम् ॥ ७८ ॥

'थोवमा०'—स्तोकमास्वादनाऽर्थं प्रथमं तावद्धस्ते देहि मे, यदि साधुप्रायोग्यं ततो ग्रहीष्ये, मा मेऽत्यम्लं पूति नाऽलं तृडपनोदाय, ततः किमनेनाऽनुपयोगिनेति ॥ ७८ ॥

तं च अच्चंबिलं पूइं नालं तिण्हं विणित्तए ।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७९ ॥

छा० तच्चाऽत्यम्लं पूति, नाऽलं तृष्णां विनेतुम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ ७९ ॥

'तं च०'—तच्च अत्यम्लं पूति नाऽलं—न समर्थं तृडपनोदाय ॥ ७९ ॥

तं च हुज्ज अकामेणं विमणेण पडिच्छिअं ।
तं अप्पणा न पिबे णो वि अण्णस्स दावए ॥ ८० ॥

छा० तच्च भवेदकामेन, विमनसा प्रतीच्छितम् ।
तदाऽऽत्मना न पिबेत्, नोऽप्यन्यस्मै दापयेत् ॥ ८० ॥

'तं च हुज्ज०'—तच्च अत्यम्लादि भवेदकामेन—उपरोधशीलतया, विमनस्केन—अन्यचित्तेन, प्रतीप्सितं—गृहीतं, तदाऽऽत्मनः कायाऽपकारकमिति अनाभोगधर्मश्रद्धया न पिबेत्, नाऽप्यन्येभ्यो दापयेत्, रत्नाधिकेनाऽपि स्वयं दानस्य प्रतिषेधज्ञापनाऽर्थं दापनग्रहणम्, आह च—"सव्वत्थ संजमं संजमाउ अप्पाणमेव" इत्यादि भावनयेति ॥ ८० ॥ तर्हि किं कार्यम्? इति तद्विधिमाह—

एगंतमवक्कमित्ता अचित्तं पडिलेहिआ ।
जयं परिट्ठविज्जा परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ ८१ ॥

छा० एकान्तमवक्रम्य, अचित्तं प्रतिलेख्य ।
यतं परिष्ठापयेत्, परिष्ठाप्य प्रतिक्रामेत् ॥ ८१ ॥

'एगंत०'—एकान्तमवक्रम्य—गत्वा, अचित्तं—दग्धदेशादि प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा, प्रमृज्य रजोहरणेन, स्थण्डिलमिति गम्यते, यतम्—अत्वरितं प्रतिष्ठापयेत्, विधिना—त्रिर्वाक्यपूर्वं[1] व्युत्सृजेत्, प्रतिष्ठाप्य वसतिमागतः प्रतिक्रामेत्,

१ त्रिवारं व्युत्सृजामीति पठित्वेत्यर्थः।

ईर्य्यापथिकाम्(कीम्), एतच्च बहिरागतनियमकरणसिद्धं प्रतिक्रमणम्, अत्रहिरपि प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रमण—नियमज्ञापनार्थमिति ॥ ८१ ॥ एवमन्नपानग्रहणविधिमभिधाय भोजनविधिमाह—

सिआ य गोअरग्गगओ इच्छिज्जा परिभुत्तुअं ।
कुट्ठगं भित्तिमूलं वा, पडिलेहित्ताण फासुअं ॥ ८२ ॥

छा० **स्याच्च गोचराग्रगतः, इच्छेत् परिभोक्तुम् ।**
कोष्ठकं भित्तिमूलं वा, प्रतिलेख्य प्रासुकम् ॥ ८२ ॥

'सिआ य गोअर०'—स्यात्कदाचित्, गोचराऽग्रगतो ग्रामान्तरं(रे) भिक्षां प्रविष्ट इच्छेत् परिभोक्तुं जलादिपिपासाद्यभिभूतः, तत्र साधुर्वसत्यभावे कोष्ठकं—शून्य-चट्ट-मठादि, भित्तिमूलं वा—कुड्यैकदेशाऽऽदि, प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा, प्रमृज्य रजोहरणेन, प्रासुकं—बीजादिरहितम् ॥ ८२ ॥ तत्र—

अणुण्णवित्तु मेहावी पडिच्छण्णम्मि संवुडे ।
हत्थगं संपमज्जित्ता तत्थ भुंजिज्ज संजए ॥ ८३ ॥

छा० **अनुज्ञाप्य मेधावी, प्रतिच्छन्ने संवृतः ।**
हस्तकं सम्प्रमार्ज्य, तत्र भुञ्जीत संयतः ॥ ८३ ॥

१ वृद्धिपक्षे.

'अणुण्णवित्तु०'–अनुज्ञाप्य सागारिक–परिहारतो विश्रमणव्याजेन तत्स्वामिनमवग्रहं, मेधावी-साधुः, प्रतिच्छन्ने–तत्र कोष्ठकादौ संवृतः–उपयुक्तः सन् साधुः-ईर्याप्रतिक्रमणं कृत्वा तदनु [1]हस्तकं–मुखवस्त्रिकारूपमादायेति वाक्यशेषः, संप्रमृज्य विधिना कायं तेन तत्र भुञ्जीत संयतः ॥ ८३ ॥

---

१ अत्र 'हत्थगं' इति पदं विवृण्वन्तो विवृत्तिकारा एवमाहुः–"हस्तकं–मुखवस्त्रिका, तं गृहीत्वा तेन हस्तकेन देहं प्रमार्ज्य साधुर्भुञ्जीत इति", अत्र 'हत्थगं संपमज्जित्ता' अस्य सरलमर्थं 'हस्ताद्यङ्गं प्रमार्ज्य' इत्यकृत्वा हस्तकं मुखवस्त्रिका तदादाय तेन अङ्गप्रमार्जनविधानं निजसम्प्रदायस्य दुर्निग्रहमाग्रहं ग्राहयति। शब्दस्य दीर्घदीर्घतरव्यापारमप्यभिव्यञ्जयति च। कियन्तो मान्याः सन्तः 'हत्थग', इति पदेन रजोहरणी पुञ्जिकेति अर्थमकार्षुः, किन्तु सोऽर्थोऽपि 'हस्ते भवो हस्तकः' इति व्युत्पत्तिनिमित्तकः स्यात्, परन्तु सा व्युत्पत्तिरपि शब्दानुशासनशून्या, उचिता व्युत्पत्तिस्तु 'हस्ते गच्छतीति हस्तगः', अथवा 'हस्त एव हस्तकः' तम्, उपलक्षणत्वादवयवान्तराणामपि ग्रहणम्, ततश्च सिद्ध्यत्ययमर्थो यत्–'हस्ताद्यङ्गं प्रमार्ज्य भुञ्जीत', अमुमेवाऽर्थं सूत्रान्तरमपि संवदति, तथा च–प्रश्नव्याकरणे प्रथमसंवराध्ययने चतुर्थभावनायां भोजनविधौ–"ससीसं कायं" इत्युक्तेऽपि "तहाकरतलं" इति पदेन हस्ततलस्य पृथग्ग्रहणं कृतं विशिष्यप्रमार्जनीयत्वादस्य, प्रस्तुते 'हस्तग' इत्युक्तौ रजोहरणीत्यर्थो भविष्यति 'हस्तकं' इत्युक्तौ हस्तः करतलं गृह्यते, उपलक्षणत्वाद् इतरेऽवयवा अपि गृहीता भवन्ति, प्रमार्जनीं विना प्रमार्जनक्रियाया अनुपपत्तेर्भवति तस्यास्तयाऽऽक्षेपः। एवं प्रमार्जनीकरतलरूपावुभावप्यर्थौ भवतः सामञ्जस्योपेतौ, तथापि वृत्तिकृता यत् 'हस्तकं' इतिपदस्य मुखवस्त्रिकारूपोऽर्थो विहितः, तन्न समीचीनम्, प्रमार्जनक्रियायां मुखवस्त्रिकाया असाधकतमत्वात्। अस्मिन्नेवाऽध्ययनेऽष्टसप्ततितमायां गाथायामपि 'हत्थगंमि दलाहि मे' अत्र सप्तम्यन्तहस्तकपदस्य 'हस्तकः'–हस्त एवार्थः सर्वसम्मतो वृत्तिकारेणाऽप्यङ्गीकृतः, तस्यैव 'हत्थग'पदस्य मुखवस्त्रिकारूपोऽर्थः तेनैव वृत्तिकृता क्रियते इति 'इयमर्थप्रणाली व्याख्याबुद्धिबलाऽपेक्षा' इति कृत्वाऽऽगममाक्षेपार्हं कुरुते, अधिकं सुधीभिः स्वयमुह्यम्।

तत्थ से भुंजमाणस्स अट्ठिअं कंटओ सिआ ।
तणकट्ठसक्करं वा वि अण्णं वा वि तहाविहं ॥ ८४ ॥

छा० तत्र तस्य भुञ्जानस्य, अस्थिकं कण्टकः स्यात् ।
तृणकाष्ठशर्करा वाऽपि, अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥ ८४ ॥

'तत्थ से०'—तत्र से—तस्य साधोर्भुञ्जानस्य अस्थि कण्टको वा स्यात्, कथञ्चिद्गृहिणां प्रमाददोषात्, कारणगृहीते पुद्गल एवेत्यन्ये, तृण—काष्ठ—शर्करादि वाऽपि स्यात्, उचितभोजनेऽन्यद्वाऽपि तथाविधं बदरकण्टकादि[1] ॥ ८४ ॥

तं उक्खिवित्तु न निक्खिवे, आसएण न छड्डुए ।
हत्थेण तं गहेऊणं एगंतमवक्कमे ॥ ८५ ॥

छा० तदुत्क्षिप्य न निक्षिपेत्, आस्येन न छर्दयेत् ।
हस्तेन तद्गृहीत्वा, एकान्तमवक्रामेत् ॥ ८५ ॥

' तं उक्खिवित्तु०'—तदस्थ्यादि एकान्तमवक्रामेत् ॥ ८५ ॥

एगंतमवक्कमित्ता अचित्तं पडिलेहिआ ।
जयं परिट्ठविज्जा परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ ८६ ॥

---

१ कर्कटादि, इति पाठान्तरम् ।

छा० एकान्तमवक्रम्य, अचित्तं प्रतिलेख्य ।
यतं परिष्ठापयेत्, परिष्ठाप्य प्रतिक्रामेत् ॥ ८६ ॥

'एगंत०'—व्याख्यातमेव ॥ ८६ ॥ वसतिमाधिकृत्य भोजनविधिमाह—

सिआ य भिक्खू इच्छिज्जा सिज्जमागम्म भुत्तुअं ।
सपिंडपायमागम्म उंडुअं पडिलेहिआ ॥ ८७ ॥

छा० स्याच्च भिक्षुरिच्छेत्, शय्यामागम्य भोक्तुम् ।
सपिण्डपात्रमागम्य, उन्दुकं[1] प्रतिलेख्य ॥ ८७ ॥

'सिआ य०'—स्यात्कदाचित् तदन्यकारणाऽभावे सति भिक्षुरिच्छेत्—शय्यां—वसतिमागम्य परिभोक्तुम्, तत्राऽयं विधिः—सह पिण्डपातेन—विशुद्धसमुदानेनागम्य, वसतिमिति गम्यते । तत्र बहिरेव उन्दुकं—स्थानं प्रत्युपेक्ष्य विधिना तत्रस्थः पिण्डपातं विशोधयेत् ॥ ८७ ॥ तत ऊर्द्ध्वं किं कुर्यादित्याह—

विणएणं पविसित्ता सगासे गुरुणो मुणी ।
इरियावहियमायाय आगओ अ पडिक्कमे ॥ ८८ ॥

छा० विनयेन प्रविश्य, सकाशे गुरोर्मुनिः ।
ईर्यापथिकीमादाय, आगतश्च प्रतिक्रामेत् ॥ ८८ ॥

१ उन्दुकं—स्थानमित्यर्थः ।

'विणएणं०'—विशोध्य पिण्डं बहिः,विनयेन नैषेधिकीं 'नमः क्षमाश्रमणेभ्योऽञ्जलिकरणलक्षणेन', प्रविश्य, वसतिमिति गम्यते । सकाशे गुरोर्मुनिः—गुरुसमीपे इत्यर्थः, ईर्यापथिकीमादाय—' इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहि-आए ' इत्यादि सूत्रं पठित्वा, आगतश्च गुरुसमीपं प्रतिक्रामेत्—कायोत्सर्गं कुर्यात् ॥ ८८ ॥ ततश्च—

आभोइत्ताण नीसेसं अइआरं (च) जहक्कमं ।
गमणागमणे चेव भत्तपाणे व संजए ॥ ८९ ॥

छा० आभोगयित्वा[1] निश्शेषम्, अतिचारं यथाक्रमम् ।
गमनागमने चैव, भक्तपाने वा संयतः ॥ ८९ ॥

'आभोइत्ताण०'—तत्र कायोत्सर्गे आभोगयित्वा—ज्ञात्वा निःशेषमतिचारं यथाक्रमं, क्वेत्याह—गमनागमनयोश्चैव योऽतिचारः, (तथा) भक्तपानयोश्च योऽतिचारः, तं संयतः—कायोत्सर्गस्थो हृदये स्थापयेत् ॥ ८९ ॥

विधिनोत्सारिते च तस्मिन्—

उज्जुप्पण्णो अणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेअसा ।
आलोए गुरुसगासे जं जहा गहिअं भवे ॥ ९० ॥

छा० ऋजुप्रज्ञोऽनुद्विग्नः, अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।
आलोचयेद्गुरुसकाशे, यद्यथा गृहीतं भवेत् ॥ ९० ॥

---

१ नामधातु.

'उज्जुप्पण्णो०'—ऋजुप्रज्ञः—अकुटिलमतिः, सर्वत्राऽनुद्विग्नः—क्षुधादिजयात्प्रशान्तः, अव्याक्षिप्तेन चेतसा आलोचयेद् गुरुसकाशे, यद्यथा गृहीतं भवेत् ॥ ९० ॥

न सम्ममालोइअं हुज्जा पुव्विं पच्छा व जं कडं ।
पुणो पडिक्कमे तस्स वोसिट्ठो चिंतए इमं ॥ ९१ ॥

छा० न सम्यगालोचितं भवेत्, पूर्वं पश्चाद्वा यत्कृतम् ।
पुनः प्रतिक्रामेत्तस्य, व्युत्सृष्टश्चिन्तयेदिदम् ॥ ९१ ॥

'न सम्म०'—न सम्यगालोचितं भवेत् सूक्ष्ममज्ञानात्—अनाभोगेनाऽननुस्मरणाद्वा । पूर्वं पश्चाद्वा यत्कृतं—पुरःकर्म पश्चात्कर्म वेत्यर्थः । पुनरालोचनानन्तरं प्रतिक्रामेत्तस्य सूक्ष्माऽतिचारस्य 'इच्छामि पडिक्कमिउं गोअरचरिआए' इत्यादि पठित्वा, व्युत्सृष्टः—कायोत्सर्गस्थश्चिन्तयेदिदं वक्ष्यमाणम् ॥ ९१ ॥

अहो जिणेहिं असावज्जा वित्ती साहूण देसिआ ।
मुक्खसाहणहेउस्स साहुदेहस्स धारणा ॥ ९२ ॥

छा० अहो जिनैरसावद्या, वृत्तिः साधूनां देशिता ।
मोक्षसाधनहेतवे, साधुदेहस्य धारणा(य) ॥ ९२ ॥

'अहो जिणेहिं०'–अहो विस्मये, जिनैरसावद्या–अपापा वृत्तिः साधूनां दर्शिता (देशिता वा), मोक्ष-साधनहेतोः–सम्यग्दर्शनादिहेतोः–सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-साधनस्य साधुदेहस्य धारणाय–सन्धारणार्थम् ॥९२॥

नमुक्कारेण पारित्ता करित्ता जिणसंथवं ।
सज्झायं पट्ठवित्ताणं वीसमिज्ज खणं मुणी ॥ ९३ ॥
छा० नमस्कारेण पारयित्वा, कृत्वा जिनसंस्तवम् ।
स्वाध्यायं प्रस्थाप्य, विश्राम्येत्क्षणं मुनिः ॥ ९३ ॥

'नमुक्कारेण०'–नमस्कारेण पारयित्वा 'नमो अरिहंताणं' इत्यनेन, कृत्वा जिनसंस्तवं 'लोगस्स उज्जोअगरे' इत्यादिरूपम् । ततो यदि न पूर्वं प्रस्थापितः, ततः स्वाध्यायं प्रस्थाप्य मण्डल्युपजीवकस्तमेव कुर्यात्, यावदन्ये आगच्छन्ति, यः पुनस्तदन्यः क्षपकादिः सोऽपि प्रस्थाप्य विश्राम्येत् क्षणं–स्तोककालं मुनिरिति ॥ ९३ ॥

वीसमंतो इमं चिंते हिअमट्ठं लाभमट्ठिओ ।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा साहू हुज्जामि तारिओ ॥ ९४ ॥
छा० विश्राम्यन्निमं चिन्तयेत्, हितमर्थं लाभार्थिकः ।
यदि मेऽनुग्रहं कुर्यात्, साधुर्भवामि तारितः ॥ ९४ ॥

'वीसमंतो०'—विश्राम्यन्निमं चिन्तयेत्—हितं—कल्याणप्रापकमर्थं वक्ष्यमाणम्, किंविशिष्टः सन्? भावलाभेन निर्जरादिनाऽर्थोऽस्येति लाभार्थिकः, यदि मे—ममाऽनुग्रहं कुर्युः साधवः प्रासुकपिण्डग्रहणेन ततः स्यामहं तारितो भवसमुद्रात् ॥ ९४ ॥

एवं सञ्चिन्त्योचितवेलायामाचार्यमामन्त्रयेत्, यदि गृह्णाति शोभनम्, नो चेद्वक्तव्योऽसौ—भगवन्! देहि केभ्योऽप्यतो यद्दातव्यम्, ततो यदि ददाति तदा सुन्दरम्, अथ भणति—त्वमेव प्रयच्छ, अत्रान्तरे—

साहवो तो चिअत्तेणं निमंतिज्ज जहक्कमं ।
जइ तत्थ केइ इच्छिज्जा तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥ ९५ ॥

छा० साधूंस्ततः प्रीतेन, निमन्त्रयेद्यथाक्रमम् ।
यदि तत्र केचिदिच्छेयुः, तैः सार्धं तु भुञ्जीत ॥ ९५ ॥

'साहवो०'—साधूंस्ततो गुर्वनुज्ञातः सन्, 'चियत्तेणंति'—मनःप्रणिधानेन निमन्त्रयेत्, यथाक्रमं—यथा रत्नाधिकतया, ग्रहणौचित्यापेक्षया बालादिक्रमेण इत्यन्ये । यदि तत्र केचन धर्मबान्धवा इच्छेयुः, ततस्तैः सार्द्धं भुञ्जीत, उचितसंविभागदानेन इति ॥ ९५ ॥

अह कोइ न इच्छिज्जा तओ भुंजिज्ज एगओ ।
आलोए भायणे साहू जयं अपरिसाडिअं ॥ ९६ ॥

छा० अथ कोऽपि नेच्छेत्, ततो भुञ्जीतैककः ।
आलोके भाजने साधुः, यतमपरिशाटयन्[1] ॥ ९६ ॥

'अह कोइ०'—अथ कश्चिन्नेच्छेत्, ततो भुञ्जीत एककः—रागादिरहितः, कथं भुञ्जीतेत्यत्राह—आलोके भाजने-मक्षिकाद्यपोहाय प्रकाशप्रधानभाजने इत्यर्थः, साधुर्यतं-प्रयत्नेन तत्रोपयुक्तोऽपरिशाटयन्—हस्तमुखाभ्यामनुज्झ(मष्ठीव)न् ॥ ९६ ॥ भोज्यमधिकृत्य विशेषमाह—

तित्तगं व कडुअं व कसायं, अंबिलं व महुरं लवणं वा ।
एअलद्धमण्णट्ठपउत्तं महुघयं व भुंजिज्ज संजए ॥ ९७ ॥

छा० तिक्तकं वा कटुकं वा कषायम्, अम्लं वा मधुरं लवणं वा ।
एतल्लब्धमन्यार्थप्रयुक्तम्, मधुघृतमिव भुञ्जीत संयतः ॥ ९७ ॥

'तित्तगं०'—तिक्तकं वा—एलुकबालुकादि, कटुकं वा—आर्द्रक-तीमनादि, कषायं—वल्लादि, आम्लं—तक्राऽऽरनालादि, मधुरं-क्षीरमध्वादि, लवणं वा-प्रकृतिक्षारं-तथाविधं शाकादि, एतात्तिक्तादि लब्धमागमोक्तविधिना प्राप्तम् । अन्यार्थमक्षोपाङ्गन्यायेन परमार्थतो मोक्षार्थं प्रयुक्तं, तत्साधकमिति कृत्वा मधुघृतमिव भुञ्जीत (संयतः), न वर्णाद्यर्थम् । अथवा मधुघृतमिव 'णो वामाओ हणुआओ दाहिणं हणुअं संचारिज्जात्ति' ॥ ९७ ॥

अरसं विरसं वां वि सूइअं वा असूइअं ।
उल्लं वा जइ वा सुक्कं मंथुकुम्मासभोअणं ॥ ९८ ॥

१ परिशाटितमिति मूलानुगतम् ।

छा० अरसं विरसं वाऽपि, सूचितं वाऽसूचितम् ।
आर्द्रं वा यदि वा शुष्कं, मन्थुकुल्माषभोजनम् ॥ ९८ ॥

'अरसं०'—अरसमप्राप्तरसं—हिंग्वादिभिरसंस्कृत, विरसं—पुराणौदनादि, सूचितं-व्यञ्जनादि युक्तम्, असूचितं—तद्रहितं वा, कथयित्वाऽकथयित्वा वा दत्तमित्यन्ये, आर्द्रं वा—प्रचुरव्यञ्जनं (यदिवा शुष्कं—स्तोकव्यञ्जनं, मन्थुकुल्माषभोजनम्), मन्थुः—बदरचूर्णं, कुल्माषाः—सिद्धमाषाः, यवमाषा इत्यन्ये ॥ ९८ ॥

उप्पण्णं नाइहीलिज्जा अप्पं वा बहुफासुअं ।
मुहालद्धं मुहाजीवी भुंजिज्जा दोसवज्जिअं ॥ ९९ ॥

छा० उत्पन्नं नातिहीलयेत्, अल्पं वा बहुप्रासुकम् ।
मुधालब्धं मुधाजीवी, भुञ्जीत दोषवर्जितम् ॥ ९९ ॥

'उप्पण्णं०'—उत्पन्नं—विधिना प्राप्तं नाऽतिहीलयेत्, अल्पमात्रं-न देहपूरकमिति, किमनेन ? बहु वाऽसारप्रायमिति, वा भिन्नक्रमे, बहुप्रासुकं—सर्वथा शुद्धं नाऽतिहीलयेत्, मुधालब्धं—[1]खटिका-चर्पटिकादि-व्यतिरेकेण प्राप्तं, मुधाजीवी-सर्वथा अनिदानजीवी, जात्याद्यनाजीवक इत्यन्ये । भुञ्जीत दोषवर्जितं-संयोजनादिराहितम् ॥ ९९ ॥

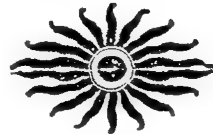
१ 'कोण्टलादिव्यतिरेकेण'—'मन्त्रतन्त्रादिना अप्राप्तम्' इति वृत्त्यन्तरस्थ पाठौ ।

दुलहा उ मुहादाई मुहाजीवी वि दुलहा ।
मुहादाई मुहाजीवी दो वि गच्छंति सुग्गइं ॥ १०० ॥ त्ति बेमि ।

छा० दुर्लभस्तु मुधादाता, मुधाजीव्यपि दुर्लभः ।
मुधादाता मुधाजीवी, द्वावपि गच्छतः सुगतिम् ॥ १०० ॥ इति ब्रवीमि ।

'दुल्लहा०'–दुर्लभा एव मुधादातारः, तथाविधभागवतवत्, मुधाजीविनोऽपि दुर्लभाः, तथाविधचेल्लकवत्, मुधादातारो मुधाजीविनश्च द्वावप्येतौ गच्छतः सुगतिं–सिद्धिगतिम् । ब्रवीमीति पूर्ववत् । तत्र भागवतोदाहरणं, जहा-"एगो परिव्वायगो, सो एगं भागवयं उवट्ठिओ, अहं तव गिहे वरिसारत्तं करेमि, मम उदंतं वहाहि, तेण भणिओ-जइ मम उदंतं न वहसि, एवं हवउत्ति । सो से भागवओ सिज्जभत्तपाणादिणा उदंतं वहति, अण्णया अ तस्स घोडओ चोरेहिं हिओ, अतिप्पभायं ति काऊण जालीए बद्धो, सो अ परिव्वायगो तलाए गओ ण्हाइउं, तेण सो घोडओ दिट्ठो, आगंतुं(तूण) भणइ–मम पाणीयतडे पोत्ती विस्सरिया, गोहो विसज्जिओ, तेण सो घोडओ दिट्ठो, आगंतुं(तूण) कहिअं तेण, भागवएण णायं, जहा–परिव्वायगेण कहिअं, तेण परिव्वायगो भण्णाति–जाहि, णाहं तव णिव्विट्ठं उदंतं वहामि, णिव्विट्ठं अप्पफलं भवति । एरिसो मुधादाई" । मुधाजीविंमि उदाहरणं–"एगो राया धम्मं परिक्खइ–को धम्मो ? जो अणिव्विट्ठं भुंजइ(त्ति), तो तं परिक्खामित्ति काऊण मणुस्सा संदिट्ठा, राया मोदए देइ, तत्थ बहवे कप्पडियादयो आगया, पुच्छिज्जंति–तुब्भे केण भुंजह ? अण्णो भणइ–अहं मुहेण भुंजामि, अण्णो–अहं पाएहिं, अण्णो–अहं हत्थेहिं, अण्णो–अहं लोगाणुग्गहेणं, इयरो (चेल्लओ भणइ–अहं) मुहिआए ।

रण्णा पुच्छियं—कहं चिअ ? एगेण भणियं—अहं कहकहगो अओ मुहेणं, अण्णेण भणियं—अहं लेहवाहगो अओ पाएहिं, अण्णेण भणियं—अहं लेहगो अओ हत्थेहिं, भिक्खुणा भणियं—अहं पव्वइओ अओ लोगाणुग्गहेण, चेल्लएण भणियं—अहं संजायसंसारविरागो अओ मुहिआए, ताहे सो राया एस धम्मोत्ति काऊण आयरियसमीवं गओ, पडिबुद्धो पव्वइओ अ । एसो मुहाजीवित्ति" ॥ १०० ॥ इति पिण्डैषणाध्ययनस्य पञ्चमस्य प्रथमोद्देशाऽवचूर्णिः ।



॥ अथ द्वितीयोद्देशः ॥



पिण्डैषणायाः प्रथमोद्देशके प्रक्रान्तोपयोगि यन्नोक्तं तदाह—

पडिग्गहं संलिहित्ताणं लेवमायाइ संजए ।
दुग्गंधं वा सुगंधं वा सव्वं भुंजे न छड्डुए ॥ १ ॥

छा० **पतद्ग्रहं (प्रतिग्रहं) संलिख्य, लेपमात्रया संयतः ।**
दुर्गन्धि वा सुगन्धि वा, सर्वं भुञ्जीत न छर्दयेत् ॥ १ ॥

'पडिग्गहं०'—प्रतिग्रहं(पतद्ग्रहं)—भाजनं संलिख्य—प्रदेशिन्या निरवयवं कृत्वा, कथमित्याह—लेपमर्यादया—आलेपं संलिह्य संयतो दुर्गन्धि वा सुगन्धि वा भोजनजातं, गन्धग्रहणं रसाद्युपलक्षणं, सर्वं निरवशेषं भुञ्जीत—अश्नीयात् नोज्झेत्, मा भूत्संयमविराधनेति । अस्यैवार्थस्य गरीयस्त्वख्यापनाय सूत्रार्थयोर्व्यत्ययोपन्यासः, प्रतिग्रह(पतद्ग्रह)-शब्दो माङ्गलिक इत्युद्देशादौ तदुपन्यासार्थं वा, अन्यथैवं स्यात्—दुर्गन्धि वा सुगन्धि वा सर्वं भुञ्जीत, नोज्झेत् । प्रतिग्रहं(पतद्ग्रहं) संलिह्य लेपमर्यादया संयतः । विचित्रा च सूत्रगतिरिति ॥ १ ॥ विधिविशेषमाह—

सिज्जा निसीहिआए समावण्णो अ गोअरे ।
आ(अ)यावयट्ठा भुच्चाणं जइ तेण न संथरे ॥ २ ॥

छा० शय्यायां नैषेधिक्यां, समापन्नश्च गोचरे ।
आ(अ)यावदर्थं भुक्त्वा, यदि तेन न संस्तरेत् ॥ २ ॥

'सिज्जा०'—शय्यायां—वसतौ, नैषेधिक्यां—स्वाध्यायभूमौ, शय्यैव वा असमंजसनिषेधान्नैषेधिकी तस्याम्, समापन्नो वा गोचरे, क्षपकादिश्छन्नमठादौ अयावदर्थं भुक्त्वा, न यावदर्थमपरिसमाप्तमित्यर्थः,'णं' इति वाक्याऽलङ्कारे । यदि तेन भुक्तेन न संस्तरेत्—न यापयितुं समर्थः ॥ २ ॥

तओ कारणमुप्पण्णे भत्तपाणं गवेसए ।
विहिणा पुव्वउत्तेण इमेण उत्तरेण य ॥ ३ ॥

छा० ततः कारण उत्पन्ने, भक्तपानं गवेषयेत् ।
विधिना पूर्वोक्तेन, अनेनोत्तरेण च ॥ ३ ॥

'तओ कारण०'—ततः कारणे वेदनादावुत्पन्ने भक्तपानं गवेषयेत्, अन्यथा सकृद्भुक्तमेव यतीनामिति । विधिना पूर्वोक्तेन, अनेन वक्ष्यमाणलक्षणेनोत्तरेण वा(च) इति ॥ ३ ॥

कालेण निक्खमे भिक्खू कालेण य पडिक्कमे ।
अकालं च विवज्जित्ता काले कालं समाअरे ॥ ४ ॥

छा० कालेन निष्क्रामेद्भिक्षुः, कालेन च प्रतिक्रामेत् ।
अकालं च विवर्ज्य, काले कालं समाचरेत् ॥ ४ ॥

'कालेण०'—कालेन यो यस्मिन् ग्रामादौ उचितो भिक्षाकालः, तेन निष्क्रामेत्—व्रजेद् भिक्षुः, भिक्षायै (इति)शेषः, कालेन च प्रतिक्रामेत्—निवर्तेत, 'अकालं च विवर्जयित्वा काले कालं समाचरेदि'ति सर्वयोगोपसङ्ग्रहार्थं निगमनम्, भिक्षावेलायां भिक्षां चरेत्, स्वाध्यायवेलायां स्वाध्यायादीनि, इति ॥ ४ ॥ अकालचरणे दोषमाह—

अकाले चरसि भिक्खू कालं न पडिलेहसि ।
अप्पाणं च किलामेसि सण्णिवेसं च गरिहसि ॥ ५ ॥

छा० अकाले चरसि भिक्षो!, कालं न प्रतिलिखसि ।
आत्मानं च क्लमयसि, सन्निवेशं च गर्हसे ॥ ५ ॥

'अकाले०'—अकालचारी कश्चित्साधुरलब्धभैक्षः केनचित्साधुना—'प्राप्ता न वेति' अभिहितः सन्नेवं ब्रूयात्—'कुतोऽत्र सन्निवेशे—स्थण्डिले भिक्षा ?' स तेनोच्यते—अकाले चरसि भिक्षो ! प्रमादात् स्वाध्यायलोभाद्वा[1], कालं न प्रत्युपेक्षसे, किमयं भिक्षाकालो न वेति, अकालचरणेन चाऽऽत्मानं क्लमयसि, सन्निवेशं च गर्हसि(से) ॥ ५ ॥ यस्मादयं दोषः, तस्मात् काले भिक्षाऽटनं कर्तव्यमित्याह—

सइ काले चरे भिक्खू कुज्जा पुरिसकारिअं ।
अलाभुत्ति न सोइज्जा, तवुत्ति अहिआसए ॥ ६ ॥

छा० सति काले चरेद्भिक्षुः, कुर्यात्पुरुषकारम् ।
अलाभ इति न शोचयेत्, तप इत्यध्यासयेत् (अधिसहेत) ॥ ६ ॥

'सइ काले०'—सति काले चरेद्भिक्षुः, अन्ये तु व्याचक्षते—स्मृतिकाल एव भिक्षाकालोऽभिधीयते, स्मर्यन्ते यत्र भिक्षुकाः स स्मृतिकालः, तस्मिन्, चरेद्भिक्षुः कुर्यात्पुरुषकारं जङ्घाबले सति, अलाभेऽपि सति भिक्षाया अलाभ इति न शोचयेत्, अपि तु तप इति अधिसहेत ॥ ६ ॥ उक्ता कालयतना, क्षेत्रयतनामाह—

तहेवुच्चावया पाणा भत्तट्ठाए समागया ।
तं उज्जुअं न गच्छिज्जा जयमेव परक्कमे ॥ ७ ॥

छा० तथैवोच्चावचाः प्राणिनः, भक्तार्थं समागताः ।
तदृजुकं न गच्छेत्, यतमेव पराक्रामेत् ॥ ७ ॥

'तहेवु०'—तथैव उच्चाऽवचा वा शोभनाऽशोभनभेदेन नानाप्रकाराः प्राणिनो भक्ताऽर्थे(र्थं) समागताः बलिप्राभृतिकादिषु आगता भवन्ति, तदृजुकं—तेषामभिमुखं न गच्छेत्, तत्र(तत्)सन्त्रासेनाऽन्तरायाऽधिकरणादि-दोषात्, किन्तु यतमेव पराक्रामेत् ॥ ७ ॥

गोअरग्गपविट्ठो उ न निसीइज्ज कत्थइ ।
कहं च न पबंधिज्जा चिट्ठित्ताण व संजए ॥ ८ ॥

छा० गोचराग्रप्रविष्टस्तु, न निषीदेत्कुत्रचित् ।
कथां च न प्रबध्नीयात् , स्थित्वा वा संयतः ॥ ८ ॥

'गोअरग्ग०'—गोचराग्रप्रविष्टस्तु न निषीदेत्—नोपविशेत् क्वचिद्गृहदेवकुलादौ, कथां च न प्रबध्नीयात्, अनेनैकव्याकरणैकज्ञाताऽनुज्ञामाह, अत एवाह—स्थित्वा कालपरिग्रहेण संयत इति, अनेषणाद्वेषादिदोषप्रसङ्गात् ॥ ८ ॥ उक्ता क्षेत्रयतना, द्रव्ययतनामाह—

अग्गलं फलिहं दारं कवाडं वा वि संजए ।
अवलंबिआ न चिट्ठिज्जा गोअरग्गगओ मुणी ॥ ९ ॥

छा० अर्गलां परिघं द्वारं, कपाटं वाऽपि संयतः ।
अवलम्ब्य न तिष्ठेत्, गोचराग्रगतो मुनिः ॥ ९ ॥

'अग्गलं०'—अर्गलं—गोपुरकपाटादिसम्बन्धिनं, परिघं—नगरद्वारादिसम्बन्धिनं, द्वारं—शाखामयं, कपाटं—द्वारयन्त्रं, वाऽपि संयतः, अवलम्ब्य न तिष्ठेत्, लाघवविराधनादोषात्, गोचराग्रगतः—भिक्षाप्रविष्टः, मुनिः संयत इति पर्यायौ, तदुपदेशाऽधिकारादद्रुष्टावेव ॥ ९ ॥ उक्ताद्रव्ययतना, भावयतनामाह—

समणं माहणं वा वि किविणं वा वणीमगं ।
उवसंकमंतं भत्तट्ठा पाणट्ठाए व संजए ॥ १० ॥

छा० श्रमणं ब्राह्मणं वाऽपि, कृपणं वा वनीपकम् ।
उपसङ्क्रामन्तं[1] भक्तार्थं, पानार्थं वा संयतः ॥ १० ॥

'समणं०'—श्रमणं—निर्ग्रन्थादिरूपम्, माहणं—धिग्वर्णं, वाऽपि कृपणं वा पिण्डोलकं, वनीपकं—दरिद्रं, एतेषां चतुर्णामन्यतमम्[1] उपसङ्क्रामन्तं—सामीप्येन गच्छन्तं गतं वा भक्ताऽर्थं पानाऽर्थं वा संयतः ॥१०॥ किमित्याह—

तं अइक्कमित्तु न पविसे न चिट्ठे चक्खुगोअरे ।
एगंतमवक्कमित्ता तत्थ चिट्ठिज्ज संजए ॥ ११ ॥

छा० तमतिक्रम्य न प्रविशेत्, न तिष्ठेच्चक्षुर्गोचरे ।
एकान्तमवक्रम्य, तत्र तिष्ठेत् संयतः ॥ ११ ॥

'तं अइक्कमित्तु०'—तं श्रमणादिमतिक्रम्य न प्रविशेत्, न तिष्ठेच्चक्षुर्गोचरे, कस्तत्र विधिरित्याह—एकान्तमवक्रम्य तत्र तिष्ठेत्संयतः ॥ ११ ॥ अन्यथैते दोषा इत्याह—

वणीमगस्स वा तस्स दायगस्सुभयस्स वा ।
अप्पत्तिअं[2] सिआ हुज्जा लहुत्तं पवयणस्स वा ॥ १२ ॥

छा० वनीपकस्य वा तस्य, दायकस्योभयोर्वा ।
अप्रीतिः स्याद्भवेत्, लघुत्वं प्रवचनस्य वा ॥ १२ ॥

१ पञ्चानामन्यतममिति च दृश्यते । २ 'अप्रत्ययिकम्' इति मौलिकं पदं भाति ।

'वणीमगस्स०'–'वनीपकस्य वा तस्य' इत्येतच्छ्रमणाद्युपलक्षणं, दातुर्वा, उभयोर्वा अप्रीतिः स्यात्–कदाचिद्भवेत्, अहो अलोकज्ञतैतेषामिति, लघुत्वं प्रवचनस्य स्यात्, अन्तरायदोषश्च ॥ १२ ॥ अतः—

पडिसेहिए व दिण्णे वा तओ तम्मि निअत्तिए ।
उवसंकमिज्ज भत्तट्ठा पाणट्ठाए व संजए ॥ १३ ॥

छा० प्रतिषेधिते(प्रतिषिद्धे) वा दत्ते वा, ततस्तस्मिन्निवर्तिते ।
उपसङ्क्रामेद्भक्तार्थं, पानार्थं वा संयतः ॥ १३ ॥

'पडिसेहिए०'–प्रतिषिद्धे वा दत्ते वा ततः स्थानात् तस्मिन्वनीपकादौ निवर्तिते सति, उपसङ्क्रामेत्, भक्ताऽर्थं पानाऽर्थं वा संयतः ॥ १३ ॥ परपीडानिषेधाऽधिकारादिदमाह—

उप्पलं पउमं वा वि कुमुअं वा मगदंतिअं ।
अण्णं वा पुप्फसच्चित्तं तं च संलुंचिआ दए ॥ १४ ॥

छा० उत्पलं पद्मं वाऽपि, कुमुदं वा मगमाल्लिका(दन्तिका)म् ।
अन्यद्वा पुष्पसचित्तं, तच्च संलुञ्च्य दद्यात् ॥ १४ ॥

'उप्पलं०'–उत्पलं नीलोत्पलादि, पद्मम्–अरविन्दं, कुमुदं वा–गर्दभकं, मगदन्तिकां–मेत्तिकां, मल्लिकामित्यन्ये, अन्यद्वा पुष्पं सचित्तं तत्तु(च्च) संलुञ्च्य–अपनीय छित्त्वा दद्यात् ॥ १४ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ १५ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ १५ ॥

'तं भवे०'—पूर्ववत् ॥ १५ ॥

उप्पलं पउमं वा वि कुमुअं वा मगदंतिअं ।
अण्णं वा पुप्फसच्चित्तं तं च संमद्दिआ दए ॥ १६ ॥

छा० उत्पलं पद्मं वाऽपि, कुमुदं वा मगमल्लिका(दन्तिका)म् ।
अन्यद्वा पुष्पसचित्तं, तच्च संमृद्य दद्यात् ॥ १६ ॥

'उप्पलं०'—तं चेत्यादि, तच्च संमृद्य दद्यात्, संमर्दनं नाम पूर्वच्छिन्नानामेवाऽपरिणतानां मर्दनम्, शेषं तथैव ॥ १६ ॥ आह—एतत्पूर्वमप्युक्तमेव—'संमद्दमाणी पाणाणि बीआणि हरिआणि अ' इत्यत्र, उच्यते—उक्तं सामान्येन, विशेषाऽभिधानाददोषः ।

तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ १७ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ १७ ॥

छा० तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ १७ ॥

'तं भवे०'—पूर्ववत् ॥ १७ ॥

सालुअं वा विरालिअं कुमुअं उप्पलणालिअं।
मुणालिअं सासवणालिअं इच्छुखंडं अणिव्वुडं ॥ १८ ॥

छा० शालूकं वा विरालिकां, कुमुदमुत्पलनालिकाम्।
मृणालिकां सर्षपनालिकाम्, इक्षुखण्डमनिर्वृतम् ॥ १८ ॥

'सालुअं०'—शालूकं वा—उत्पलकन्दं, विरालिकां-पलाशकन्दरूपां, पर्ववल्लि—प्रतिपर्ववल्लि, प्रतिपर्वकन्द-मित्यन्ये, कुमुदोत्पलस्य पर्वणि पर्वणि वल्ली निर्गच्छति, कन्दश्च भवति, कुमुदोत्पलनालौ प्रतीतौ, तथा मृणालिकां-पद्मिनीकन्दोत्थां, सर्षपनालिकां—सिद्धार्थमञ्जरीम्, तथा इक्षुखण्डम् अनिर्वृतं—सचित्तम्, एतच्चाऽनिर्वृतग्रहणं सर्वत्राऽपि सम्बध्यते ॥ १८ ॥

॥ १४५ ॥

तरुणगं वा पवालं रुक्खस्स तणगस्स वा।
अण्णस्स वा वि हरिअस्स आमगं परिवज्जए ॥१९ ॥

छा० तरुणकं वा प्रवालं, वृक्षस्य तृणस्य वा ।
अन्यस्य वाऽपि हरितस्य, आमकं परिवर्जयेत् ॥ १९ ॥

'तरुणगं०'—तरुणकं वा प्रवालं—पल्लवं वृक्षस्य चिञ्चिणिकादेः, तृणस्य वा मधुर-तृणादेः, अन्यस्य वा हरितस्याऽऽर्यकादेः, आमम्—अपरिणतं वर्जयेत् ॥ १९ ॥

तरुणिअं वा छिवाडिं आमिअं भज्जिअं सइं ।
दिंतिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ २० ॥

छा० तरुणां वा फलिम्(छिवाडिं), आमां भर्जितां सकृत् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥ २० ॥

'तरुणिअं०'—तरुणां वा असंजातां, छिवाडिमिति मुद्गादिफलीम्, आमाम्-असिद्धां-सचेतनां भर्जितां वा सकृदेकवारम्, शेषं पूर्ववत् ॥ २० ॥

तहा कोलमणुस्सिन्नं वेलुअं कासवणालिअं ।
तिलपप्पडगं नीमं आमगं परिवज्जए ॥ २१ ॥

छा० तथाकोलमननुस्विन्नं, वेणुकं काश्यपनालिकाम् ।
तिलपर्पटिकां निम्बम्, आमकं परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥

---

१ श्रीपर्णीफलम्, इत्यर्थः ।

'तहा कोल०'—कोलं—बदरम्, अस्विन्नं-वह्न्युदकयोगेन अनापादितविकारान्तरम्, वेणुकं—वंशकरिलं, 'कासवणालिअं'—श्रीपर्णीफलम्, अस्विन्नमिति सर्वत्र योज्यम्, तिलपर्पटं—पिष्टतिलमयं, नीमं—नीमफलम्, आमं-परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥

तहेव चाउलं पिट्ठं विअडं वा तत्तनिव्वुडं ।
तिलपिट्ठ पुइपिण्णागं आमगं परिवज्जए ॥ २२ ॥

छा० तथैव ताण्डुलं पिष्टं, विकटं वा तप्तनिर्वृतम् ।
तिलपिष्टं पूतिपिण्याकम्, आमकं परिवर्जयेत् ॥ २२ ॥

'तहेव०'—तथैव तान्दुलं पिष्टं-लोट्टमित्यर्थः, विकटं वा शुद्धोदकम्, तप्तनिर्वृतं क्वथितं सत्—शीतीभूतं, तप्ताऽनिर्वृतं वा—अप्रवृत्तत्रिदण्डं, तिलपिष्टं, पूतिपिन्नागं(ण्याकं)—सर्षपखलम्, आमं परिवर्जयेत् ॥ २२ ॥

कविट्ठं माउलिंगं च मूलगं मूलगत्तिअं ।
आमं असत्थपरिणयं मणसा वि न पत्थए ॥ २३ ॥

छा० कपित्थं मातुलिङ्गं च, मूलकं मूलवर्तिकाम् ।
आमामशस्त्रपरिणतां, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥ २३ ॥

'कविट्ठं०'—कपित्थं—कपित्थफलं, मातुलिङ्गं च—बीजपूरकं च, मूलकं—सपत्रजालकं, मूलैवर्तिकां—मूलकन्दस्य च फलीम्, आमाम्—अपक्काम्, अशस्त्रपरिणतां—स्वकायशस्त्राद्यविद्धां(विध्वस्तां) वा, अनन्तकायत्वाद् गुरुत्वख्यापनार्थमुभयं, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥ २३ ॥

तहेव फलमंथूणि बीअमंथूणि जाणिआ ।
बिहेलगं पिआलं च आमगं परिवज्जए ॥ २४ ॥

छा० तथैव फलमन्थून्, बीजमन्थूञ्ज्ञात्वा ।
बिभीतकं प्रियालं च, आमकं परिवर्जयेत् ॥ २४ ॥

'तहेव०'—तथैव फलमन्थून्—बदरचूर्णान्, बीजमन्थून्—यवादिचूर्णान् ज्ञात्वा, बिभीतकं—बिभीतकफलं, प्रियालं वा—प्रियालफलं वा, आममपरिणतं वर्जयेत् ॥ २४ ॥ विधिमाह—

समुआणं चरे भिक्खू कुलं उच्चावयं सया ।
नीअं कुलमइक्कम्म ऊसढं नाभिधारए ॥ २५ ॥

छा० समुदानं चरेद्भिक्षुः, कुलमुच्चावचं सदा ।
नीचं कुलमतिक्रम्य, उत्सृतं नाभिधारयेत् ॥ २५ ॥

---

१ 'मूलकर्त्तिकां, मूलकन्दचक्कलिम्', इत्यपि दृश्यते पाठः ।

'समुआणं०'—समुदानं—भावभैक्ष्यमाश्रित्य चरेद्भिक्षुः, केत्याह—कुलमुच्चाऽवचं सदा, अगर्हितत्वे सति विभवापेक्षया प्रधानमप्रधानं वा यथा परिपाट्यैव चरेत्, सदा नीचं कुलमतिक्रम्य विभवापेक्षया प्रभूततरलाभार्थम् उच्छ्रितम्—ऋद्धिमत्कुलं नाऽभिधारयेत्—न यायात्, अभिष्वङ्गलोकलाघवादिप्रसङ्गात् ॥ २५ ॥

अदीणो वित्तिमेसिज्जा न विसीइज्ज पंडिए ।
अमुच्छिओ भोअणम्मि मायण्णे एसणारए ॥ २६ ॥

छा० अदीनो वृत्तिमेषयेत्, न विषीदेत्पण्डितः ।
अमूर्च्छितो भोजने, मात्राज्ञ एषणारतः ॥ २६ ॥

'अदीणो०'—अदीनो वृत्तिमेषयेत्, न विषीदेत्, अलाभेऽपि सति पण्डितः, अमूर्च्छितोऽगृद्धो भोजने मात्राज्ञः-आहारमात्रां प्रत्येषणारतः ॥ २६ ॥

बहुं परघरे अत्थि विविहं खाइमसाइमं
न तत्थ पंडिओ कुप्पे इच्छा दिज्ज परो न वा ॥ २७ ॥

छा० बहु परगृहेऽस्ति, विविधं खाद्यं स्वाद्यम् ।
न तत्र पण्डितः कुप्येत, इच्छया(इच्छा)दद्यात्परो न वा ॥ २७ ॥

'बहुं०'—एवं च भावयेत्—बहु प्रमाणतः प्रभूतं परगृहे—असंयतादिगृहेऽस्ति विविधमनेकप्रकारं खाद्यं स्वाद्यं, सदपि न ददातीति न तत्र पण्डितः कुप्येत्, किन्तु 'इच्छया दद्यात्परो न वे'ति इच्छा परस्य, न तत्राऽन्यत्किञ्चिद्विचिन्तयेत्, सामायिकबाधनात् ॥ २७ ॥

सयणासणवत्थं वा भत्तं पाणं च संजए ।
अदिंतस्स न कुप्पिज्जा पच्चक्खे वि अ दीसओ ॥ २८ ॥

छा० **शयनाऽऽसनवस्त्रं वा, भक्तं पानं च संयतः ।**
अददते न कुप्येत्, प्रत्यक्षेऽपि च दृश्यमाने(पश्यतः) ॥ २८ ॥

'सयणा०'—शयनाऽऽसनवस्त्रं वेत्येकवद्भावः, भक्तं पानं वा संयतः । अददतो(ते) न कुप्येत् तत्स्वामिनः, प्रत्यक्षेऽपि च दृश्यमाने शयनाऽऽसनादौ ॥ २८ ॥

इत्थिअं पुरिसं वा वि डहरं वा महल्लगं ।
वंदमाणं न जाइज्जा णो अ णं फरुसं वए ॥ २९ ॥

छा० **स्त्रियं पुरुषं वाऽपि, तरुणं(डहरं)वा वृद्धम्(महल्लकम्) ।**
वन्दमानं न याचेत, नो चैनं परुषं वदेत् ॥ २९ ॥

'इत्थिअं०'—स्त्रियं वा पुरुषं वाऽपि, 'अपि'—शब्दान्नपुंसकं वा, डहरं—तरुणं, महल्लकं वा—वृद्धं वा, 'वा' शब्दान्मध्यमं वा, वन्दमानं सन्तं भद्रो[1]ऽऽकार्य इति न याचेत, विपरिणामदोषात्, अन्नाद्यभावेन याचिताऽदाने न चैनं परुषं ब्रूयात्—वृथा ते वन्दनमित्यादि, पाठान्तरं वा—वन्दमानो न याचे(च्ये)त ललि(ब्धि)व्याकरणेन, शेषं पूर्ववत् ॥ २९ ॥

जे न वंदे न से कुप्पे वंदिओ न समुक्कसे ।
एवमण्णेसमाणस्स सामण्णमणुचिट्ठइ ॥ ३० ॥

छा० **यो न वन्दते न तस्मै कुप्येत्, वन्दितो न समुत्कर्षेत् ।**
एवमन्वेषमाणस्य, श्रामण्यमनुतिष्ठति ॥ ३० ॥

'जो न वंदे०'—यो न वन्दते न से—तस्य(स्मै) कुप्येत्, वन्दितः केनचिन्नृपादिना न समुत्कर्षेत्—उत्कर्षं न कुर्यात्, एवमुक्तप्रकारेणाऽन्वेषमाणस्य—भगवदाज्ञामनुपालयतः श्रामण्यमनुतिष्ठत्यखण्डम् ॥ ३० ॥ स्वपक्षस्तेयप्रतिषेधमाह—

सिआ एगइओ लद्धुं लोभेण विणिगूहइ ।
मा मेअं दाइयं संतं दट्ठूणं सयमायए ॥ ३१ ॥

छा० **स्यादेकै[2]किको लब्ध्वा, लोभेन विनिगूहते ।**
मा ममेदं दर्शितं सत, दृष्ट्वा स्वयमादद्यात् ॥ ३१ ॥

---

१ 'भद्रकोऽयमिति न याचेत' इति पाठः । २ 'एककिकः' इत्यर्थे एकाकीति युक्तम् ।

'सिआ०'—स्यात्कदाचिद् एककः कश्चिदत्यन्तजघन्यो लब्ध्वोत्कृष्टमाहारं लोभेन विनिगूहते—'अहमेव भोक्ष्ये इति', अन्तप्रान्तादिना छादयति, मा ममेदं भोजनजातं दर्शितं सत्, दृष्ट्वा आचार्यादिः स्वयमादद्यात्-गृह्णीयात् ॥ ३१ ॥ अस्य दोषमाह—

अत्तट्ठा गुरुओ लुद्धो बहुं पावं पकुव्वइ ।
दुत्तोसओ अ से होइ निव्वाणं च न गच्छइ ॥ ३२ ॥

छा० आत्मार्थगुरुको लुब्धः, बहु पापं प्रकरोति ।
दुस्तोषश्च स भवति, निर्वाणं च न गच्छति ॥ ३२ ॥

'अत्तट्ठा०'—आत्मार्थ एव गुरुः पापप्रधानो यस्य स आत्मार्थगुरुः, लुब्धः सन् क्षुद्रभोजने बहु—प्रभूतं पापं करोति, मायया दारिद्र्यं कर्मेत्यर्थः, अयं परलोकदोषः, इहलोकदोषमाह—दुस्तोषश्च भवति येन केनचिदाहारेणास्य क्षुद्रसत्त्वस्य तुष्टिः कर्तुं न शक्यते, अत एव निर्वाणं च न गच्छति, इहलोक एव धृतिं न लभते, अनन्तसंसारिकत्वाद्वा मोक्षं न गच्छति ॥ ३२ ॥ एवं यः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षमपहरति स उक्तः, अथ यः परोक्षं स उच्यते—

सिआ एगइओ लद्धुं विविहं पाणभोअणं ।
भद्दगं भद्दगं भुच्चा विवण्णं विरसमाहरे ॥ ३३ ॥

छा० स्यादेकाकी लब्ध्वा, विविधं पानभोजनम् ।
भद्रकं भद्रकं भुक्त्वा, विवर्णं विरसमाहरेत् ॥ ३३ ॥

'सिआ एगइओ०'–(पूर्ववत्) विविधमनेकप्रकारं पानभोजनं, तत्रैव भद्रकं भद्रकं–घृतपूर्णादि भुक्त्वा विवर्णं–विगतवर्णम्–आम्लखलादि, विरसं–शीतौदनादि, आहरेत्–आनयेत् ॥३३॥ एवं किमर्थं कुर्यात् ? इत्याह—

जाणंतु ता इमे समणा, आययट्ठी अयं मुणी ।
संतुट्ठो सेवए पंतं लूहवित्ती सुतोसओ ॥ ३४ ॥

छा० जानन्तु तावदिमे श्रमणाः, आयतार्थ्ययं मुनिः ।
सन्तुष्टः सेवते प्रान्तं, रूक्षवृत्तिः सुतोष्यः ॥ ३४ ॥

'जाणंतु०'–जानन्तु तावन्मां श्रमणाः–शेषसाधवः,यथा–आयतार्थी अयं मुनिः, सन्तुष्टो लाभाऽलाभयोः समः सेवते प्रान्तमसारं रूक्षवृत्तिः–संयमवृत्तिः, सुतोष्यः–येन केनाचित्तोषं नीयते ॥ ३४ ॥ एतदपि किमर्थं कुर्यात् ? इत्याह—

पूअणट्ठा जसोकामी माणसम्माणकामए ।
बहुं पसवइ पावं मायासल्लं च कुव्वइ ॥ ३५ ॥

छा० पूजनार्थं यशस्कामी, मानसन्मानकामुकः ।
बहु प्रसूते पापं, मायाशल्यं च करोति ॥ ३५ ॥

‘ पूअणट्ठा० ’—पूजार्थमेवं कुर्वतः स्वपरपक्षाभ्यां सामान्येन पूजा भविष्यतीति, यशस्कामी-अहो अयमिति प्रवादार्थं वा, मानसन्मानकाम एवं कुर्यात्, तत्र वन्दनाऽभ्युत्थानलाभनिमित्तो मानः, वस्त्रपात्रादिलाभनिमित्तश्च सन्मान इति, स एवम्भूतो बहु प्रसूते—निर्वर्त्तयति पापम्, तद् गुरुत्वादेव सम्यगनालोचयन् मायाशल्यं च—भावशल्यं च करोति ॥ ३५ ॥ प्रतिषेधाऽन्तरमाह—

सुरं वा मेरगं वा वि अण्णं वा मज्जगं रसं ।
ससक्खं न पिबे भिक्खू जसं सारक्खमप्पणो ॥ ३६ ॥

छा० **सुरां वा मेरकं वाऽपि, अन्यद्वा मद्यकं रसम् ।**
ससाक्ष्यं न पिबेद्भिक्षुः, यशः संरक्षन्नात्मनः ॥ ३६ ॥

‘सुरं वा०’—सुरां वा—पिष्टादिनिष्पन्नां, मेरकं वाऽपि—प्रसन्नाख्यं, सुराप्रायोग्यद्रव्यनिष्पन्नमन्यं वा माद्यं रसं सीध्वादिरूपं ससाक्षिकं—सदा परित्यागे केवल्यादयः साक्षिणो यस्य तत्ससाक्षि, अनेन सर्वथा प्रतिषेध उक्तः, सदासाक्षिभावात्, किमिति—न पिबेद् भिक्षुः, यशः संरक्षन्नात्मनः—‘यशः’—शब्देन संयमोऽभिधीयते, अन्ये तु ग्लानापवादविषयमेतत्सूत्रम् अल्पसागारिकविधानेन व्याचक्षते ॥ ३६ ॥ अत्रैव दोषमाह—

पियए[1] एगओ तेणो न मे कोइ विआणइ ।
तस्स पस्सह दोसाइं निअडिं च सुणेह मे ॥ ३७ ॥

१ ‘ पिआ एगइओ ’, इति प्राचीनलिखिताऽऽदर्शेऽस्ति, परं तन्न शुद्धं प्रतिभाति ।

छा० पिबत्येकक: स्तेनः, न मां कोऽपि विजानाति ।
तस्य पश्यत दोषान्, निकृतिं च शृणुत मत् ॥ ३७ ॥

'पियए०'—पिबत्येको धर्मसहायविप्रमुक्तः स्तेनः—चौरोऽसौ भगवददत्तग्रहणात्, अन्यैापदेशयाचनाद्वा, न मां कश्चिज्जानातीति भावयन्, तस्येत्थम्भूतस्य पश्यत दोषान्, ऐहिकान् पारलौकिकांश्च, निकृतिं च—मायां, (शृणुत) मे—मम, सकाशादिति शेषः ॥ ३७ ॥

वड्ढइ सुंडिआ तस्स मायामोसं च भिक्खुणो ।
अयसो अ अनिव्वाणं सययं च असाहुआ ॥ ३८ ॥
छा० वर्द्धते शौण्डिकता तस्य, मायामृषा च भिक्षोः ।
अयशश्चानिर्वाणं, सततं चासाधुता ॥ ३८ ॥

' वड्ढइ० '—वर्द्धते शौण्डिका तदत्यन्ताऽभिष्वङ्गरूपा तस्य मायामृषावादं च भिक्षोः, इदं च भवपरम्परा-हेतुरनुबन्धदोषात्, (तथा) अयशश्च स्वपक्षपरपक्षयोः—अनिर्वाणम्—अनिर्वृत्तिः—दुःखं(तदलाभे), सततं चाऽसाधुता लोके व्यवहारतः, चरणपरिणामबाधनेन परमार्थतः ॥ ३८ ॥

१ 'अन्योपदेशयाचनाद्वा' इति वा पाठः । २ 'अवृत्तिः' इत्यपि पाठः ।

निच्चुव्विग्गो जहा तेणो अत्तकम्मेहिं दुम्मई
तारिसो मरणंते वि न आराहेइ संवरं ॥ ३९ ॥

छा० नित्यमुद्विग्नो यथास्तेनः, आत्मकर्मभिर्दुर्मतिः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि, नाराधयति संवरम् ॥ ३९ ॥

'निच्चुव्विग्गो०'—स ईदृशो नित्यो(त्यमु)द्विग्नः—सदाऽप्रशान्तः, यथा स्तेनश्चौरः, आत्मकर्मभिर्दुर्मतिः (तथा) तादृशः क्लिष्टसत्त्वः, मरणान्तेऽपि—चरमकालेऽपि नाराधयति संवरम्—चारित्रम्, अशुद्धभावत्वादेव सदैवाऽकुशलबुद्ध्या तद्बीजाभावात् ॥ ३९ ॥

आयरिए नाराहेइ समणे आवि तारिसो ।
गिहत्था वि णं गरिहंति जेण जाणंति तारिसं ॥ ४० ॥

छा० आचार्यान्नाराधयति, श्रमणानपि तादृशः ।
गृहस्था अपि गर्हन्ते, येन जानन्ति तादृशम् ॥ ४० ॥

' आयरिए०'—आचार्यान्नाराधयति श्रमणांश्चाऽपि तादृशः, गृहस्था अप्येनं दुष्टशीलं गर्हन्ति (न्ते), येन जानन्ति तादृशं दुष्टशीलम् ॥ ४० ॥

एवं तु अगुणप्पेही गुणाणं च विवज्जओ ।
तारिसो मरणंते वि न आराहेइ संवरं ॥ ४१ ॥

छा० एवन्त्वगुणप्रेक्षी, गुणानां च विवर्जकः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि, नाराधयति संवरम् ॥ ४१ ॥

'एवं तु०'—एवं तूक्तेन प्रकारेणाऽगुणप्रेक्षी गुणानां चाऽप्रमादादीनां विवर्जकः, तादृशः क्लिष्टचित्तो मरणान्तेऽपि नाराधयति संवरम् ॥ ४१ ॥ यतश्चैवमत एतद्दोषपरिहारेण साधुः कीदृशः स्यादित्याह—

तवं कुव्वइ मेहावी पणीअं वज्जए रसं ।
मज्जप्पमायविरओ तवस्सी अइउक्कसो ॥ ४२ ॥

छा० तपः करोति मेधावी, प्रणीतं वर्जयेद्रसम् ।
मद्यप्रमादविरतः, तपस्व्यत्युत्कर्षः ॥ ४२ ॥

'तवं०'—तपः करोति मेधावी-मर्यादावर्ती, प्रणीतं स्निग्धं वर्जयति रसम्, मद्यप्रमादविरतस्तपस्वी साधुरत्युत्कर्षः—अहन्तपस्वीत्युत्कर्षरहितः ॥ ४२ ॥

तस्स पस्सह कल्लाणं अणेगसाहुपूइअं ।
विउलं अत्थसंजुत्तं कित्तइस्सं सुणेह मे ॥ ४३ ॥

छा० तस्य पश्यत कल्याणम्, अनेकसाधुपूजितम् ।
विपुलमर्थसंयुक्तं, कीर्तयिष्ये शृणुत मत् ॥ ४३ ॥

'तस्स पस्सह०'—तस्येत्थम्भूतस्य पश्यत कल्याणं—गुणसम्पद्रूपम् (संयमं), अनेकसाधुपूजितम्, विपुलं—मोक्षावहत्वात्, अर्थसंयुक्तम्—अर्थस्तत्त्वतः कर्मनिर्जरारूपः, तेन संयुक्तं, कीर्तयिष्येऽहं शृणुत मम सकाशात् ॥ ४३ ॥

एवं तु गुणप्पेही अगुणाणं च विवज्जओ ।
तारिसो मरणंते वि आराहेइ संवरं ॥ ४४ ॥

छा० एवन्तु गुणप्रेक्षी, अगुणानां च विवर्जकः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि, आराधयति संवरम् ॥ ४४ ॥

'एवं तु०'—एवन्तूक्तप्रकारेण गुणप्रेक्षी गुणान्—अप्रमादादीन् प्रेक्षते तच्छीलश्चेत्यर्थः, अगुणानां प्रमादादीनां विवर्जकः, अन्यत्पूर्ववत् (तादृशः, आराधयति संवरामिति विशेषः) ॥ ४४ ॥

आयरिए आराहेइ समणे आवि तारिसो ।
गिहत्था वि णं पूअंति जेण जाणंति तारिसं ॥ ४५ ॥

छा० आचार्यानाराधयति, श्रमणानपि तादृशः ।
गृहस्था अपि पूजयन्ति, येन जानन्ति तादृशम् ॥ ४५ ॥

'आयरिए०'—सुगमा (विपर्ययतः) ॥ ४५ ॥ स्तेनाऽधिकार एवेदमाह—

तवतेणे वयतेणे रूवतेणे अ जे नरे ।
आयारभावतेणे अ कुव्वइ देवकिब्बिसं ॥ ४६ ॥

छा० **तपस्तेनो वाक्स्तेनः, रूपस्तेनश्च यो नरः ।**
आचारभावस्तेनश्च, करोति देवकिल्बिषम्[1] ॥ ४६ ॥

'तवतेणे०'—तपःस्तेनो वाक्स्तेनो रूपस्तेनश्च यो नरः, कश्चिदाचारभावस्तेनश्च, पालयन्नपि क्रियां तथा भावदोषात्करोति देवकिल्बिषं-किल्विषिकं कर्म निर्वर्त्तयतीत्यर्थः । तपस्तेनो नाम क्षपकरूपतुल्यः कश्चित्केनचित्पृष्टः—'त्वमसौ क्षपकः ?' इति, स पूजाद्यर्थमाह—अहम्, अथवा वक्ति—'साधव एव क्षपकाः', तूष्णीं वाऽऽस्ते, एवं वाक्स्तेनो धर्मकथकादितुल्यरूपः कश्चित्केनचित्पृष्ट इति, एवं रूपस्तेनो राजपुत्रादितुल्यरूपः पृष्टः, एवमाचारस्तेनो विशिष्टाचारवत्तुल्यरूप इति, भावस्तेनस्तु परोत्प्रेक्षितं कथञ्चित्किञ्चिच्छ्रुत्वा स्वयमनुत्प्रेक्षितमपि मयैतत्प्रपञ्चेन चर्चितमित्याहेति ॥ ४६ ॥

लद्धूण वि देवत्तं उववण्णो देवकिब्बिसे ।
तत्थावि से न याणाइ किं मे किच्चा इमं फलं ॥ ४७ ॥

---

१ 'किल्विषिकं कर्म' इति शुद्धः पाठः ।

छा० लब्ध्वाऽपि देवत्वम्, उपपन्नो देवकिल्विषे ।
तत्राऽपि स न जानाति, किं मे कृत्वेदं फलम् ॥ ४७ ॥

'लद्धूण वि०'—लब्ध्वाऽपि देवत्वम्, उपपन्नो देवकिल्विषे—किल्विषिककाये, तत्राऽप्यसौ न जानाति अविशुद्धाऽवधिना किं मम कृत्वेदं फलं किल्विषिकदेवत्वम् ॥ ४७ ॥

तत्तो वि से चइत्ताणं लब्भइ एलमूअगं ।
नरगं तिरिक्खजोणिं वा बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥ ४८ ॥

छा० ततोऽपि स च्युत्वा, लभते एडमूकताम् ।
नरकं तिर्यग्योनिं वा, बोधिर्यत्र सुदुर्लभः ॥ ४८ ॥

'तत्तो वि०'—ततोऽप्यसौ—देवलोकादसौ च्युत्वा लप्स्यते एल(ड)मूकतामजाभाषानुकारित्वं मानुषत्वे, तथा नरकं तिर्यग्योनिं वा पारम्पर्येण लप्स्यते, बोधिर्यत्र सुदुर्लभः—जिनधर्मप्राप्तिर्दुरापा यत्र तत्रोपपद्यते, इह च प्राप्नोत्येल(ड)मूकतामिति वाच्ये असकृत्–भँवे प्राप्तिख्यापनाय लप्स्यत इति भविष्यत्कालनिर्देश इति ॥ ४८ ॥
प्रकृतमुपसंहरति—

१ 'भावप्राप्ति' इति च पाठः ।

एअं च दोसं दट्ठूणं नायपुत्तेण भासिअं ।
अणुमायं पि मेहावी मायामोसं विवज्जए ॥ ४९ ॥
छा० एतं च दोषं दृष्ट्वा, ज्ञातपुत्रेण भाषितम् ।
अणुमात्रामपि मेधावी, मायामृषां विवर्जयेत् ॥ ४९ ॥

'एअं च०'–एव(त)ञ्च दोषमनन्तरोदितम्, सत्यपि श्रामण्ये कुदेवत्वादिप्राप्तिरूपम् आगमतः दृष्ट्वा, ज्ञातपुत्रेण भाषितमुक्तम्, अणुमात्रमपि–स्तोकमात्रमपि मेधावी मायामृषावादं विवर्जयेत् ॥ ४९ ॥ अध्ययनार्थमुपसंहरन्नाह—

सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं संजयाण बुद्धाण सगासे ।
तत्थ भिक्खू सुप्पणिहिइंदिए तिव्वलज्जगुणवं विहरिज्जासि ॥५०॥ त्ति बेमि ।
छा० शिक्षित्वा भिक्षैषणाशोधिं, संयतेभ्यो बुद्धेभ्यः सकाशात् ।
तत्र भिक्षुः सुप्रणिहितेन्द्रियः, तीव्रलज्जागुणवान् विहरेत्[1] ॥५०॥ इति ब्रवीमि ।

'सिक्खिऊण०'–शिक्षित्वा–अधीत्य भिक्षैषणाशुद्धिं–पिण्डमार्गणादिविशुद्धिम्, उद्गमादिरूपां, संयतेभ्यो बुद्धेभ्यः सकाशात्, न द्रव्यसाधुभ्यः सकाशात्, तत्र–भिक्षैषणायां भिक्षुः सुप्रणिहितेन्द्रियः–श्रोत्रादिभिर्गाढं तदुपयुक्तः,

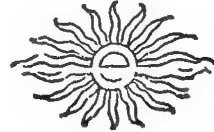
---

१ विहरिष्यसि ।

तीव्रलज्जः–उत्कृष्टसंयमः सन्, अनेन प्रकारेण गुणवान्, विहरेत्–सामाचारीपालनं कुर्यादिति। ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ ५० ॥ इति पिण्डैषणाध्ययनाऽवचूरिः ।

॥ पिंडेसणाज्झयणं पंचमं ॥

॥ इति पिण्डैषणाऽध्ययनं पञ्चमम् ॥



॥ अथ षष्ठाध्ययनम् ॥



इहानन्तराऽध्ययने साधोर्भिक्षाशुद्धिरुक्ता, इह तु गोचरप्रविष्टेन सता स्वाचारः पृष्टेन तद्विदाऽपि न महाजनसमक्षं तत्रैव विस्तरतः कथयितव्य इति, अपित्वालये गुरवो वा कथयन्तीति वाच्यमित्येतदुच्यते—

नाणदंसणसंपण्णं संजमे अ तवे रयं ।
गणिमागमसंपण्णं उज्जाणम्मि समोसढं ॥ १ ॥

छा० **ज्ञानदर्शनसम्पन्नं, संयमे च तपसि रतम् ।**
गणिनमागमसम्पन्नम्, उद्याने समवसृतम् ॥ १ ॥

'नाणदंसण०'—ज्ञानदर्शनसम्पन्नं—ज्ञानदर्शनाभ्यां संपन्नं—संयुक्तं, संयमे तपसि च रतम्—आसक्तं, गणोऽस्याऽस्तीति गणी तं गणिनमाचार्यमागमसम्पन्नं—विशिष्टश्रुतधरं, बह्वागमत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थमेतत्, उद्याने समवसृतं-स्थितं धर्मदेशनार्थं वा प्रवृत्तम् ॥ १ ॥

रायाणो रायमच्चा य माहणा अदुव खत्तिआ ।
पुच्छंति निहुअप्पाणो कहं भे आयारगोअरो ॥ २ ॥

छा० राजानो राजाऽमात्याश्च, ब्राह्मणा अथवा क्षत्रियाः ।
पृच्छन्ति निभृतात्मानः, कथं व(युष्माकम्) आचारगोचरः ॥ २ ॥

'रायाणो०'—राजानो राजाऽमात्याश्च ब्राह्मणा अथवा क्षत्रियाः पृच्छन्ति निभृताऽऽत्मानः—असम्भ्रान्ता रचिताऽञ्जलयः, कथं भे—भवताम् आचारगोचरः—क्रियाकलापः स्थितः (इति) ॥ २ ॥

तेसिं सो निहुओ दंतो सव्वभूअसुहावहो ।
सिक्खाए सुसमाउत्तो आयक्खइ विअक्खणो ॥ ३ ॥

छा० तेभ्यः स निभृतो दान्तः, सर्वभूतसुखावहः ।
शिक्षया सुसमायुक्तः, आख्याति विचक्षणः ॥ ३ ॥

'तेसिं०'—[चतुर्थ्यर्थे षष्ठी] तेभ्यो राजादिभ्योऽसौ गणी, निभृतः-असम्भ्रान्तः, दान्तः—इन्द्रियनोइन्द्रिय-दमाभ्यां, सर्वभूतसुखावहः—सर्वप्राणिहित इत्यर्थः, शिक्षया—ग्रहणाऽऽसेवनरूपया सुसमायुक्तः—सुष्ठु एकीभावेन युक्तः, आख्याति विचक्षणः ॥ ३ ॥

हंदि ! धम्मत्थकामाणं निग्गंथाणं सुणेह मे ।
आयारगोअरं भीमं सयलं दुरहिट्ठिअं ॥ ४ ॥

छा० हन्त ! धर्मार्थकामानां, निर्ग्रन्थानां शृणुत मत् ।
आचारगोचरं भीमं, सकलं दुरधिष्ठितम् ॥ ४ ॥

'हंदि०'–हन्दीत्युपप्रदर्शने, धर्मार्थकामानां–धर्मश्चारित्रधर्मः, तस्यार्थः–प्रयोजनं (मोक्षः), तं कामयन्ते-इच्छन्ति विशुद्धविहिताऽनुष्ठानकरणेनेति धर्मार्थकामाः, तेषां, निर्ग्रन्थानां–बाह्याऽभ्यन्तरग्रन्थरहितानां, शृणुत मम समीपाद् आचारगोचरं–क्रियाकलापम्, भीमं–कर्मशत्र्वपेक्षया रौद्रम्, दुरधिष्ठितं–क्षुद्रसत्त्वैर्दुराश्रयम् ॥ ४ ॥

नण्णत्थ एरिसं वुत्तं जं लोए परमदुच्चरं ।
विउलट्ठाणभाइस्स न भूअं न भविस्सइ ॥ ५ ॥

छा० **नाऽन्यत्र–ईदृशमुक्तं, यल्लोके परमदुश्चरम् ।**
विपुलस्थानभागिनः, न भूतं न भविष्यति ॥ ५ ॥

'नण्णत्थ०'–नाऽन्यत्र कपिलादिषु ईदृशमाचारगोचरं वस्तु यल्लोके परमदुश्चरम्–अत्यन्तदुष्करम्, विपुलस्थानभाजि(गि)नः-विपुलस्थानं–विपुलमोक्षहेतुत्वात्संयमोऽपि विपुलस्थानं तदाऽऽसेविनः, न भूतं न भविष्यति जिनमतादन्यत्र ॥ ५ ॥

सखुड्डगवियत्ताणं वाहिआणं च जे गुणा ।
अखंडफुडिआ कायव्वा तं सुणेह जहा तहा ॥ ६ ॥

छा० **सक्षुल्लकव्यक्तानां, व्याधितानां च ये गुणाः ।**
अखण्डाऽस्फुटिताः कर्तव्याः, तान्–शृणुत यथा तथा ॥ ६ ॥

'सखुड्डग०'—सह क्षुल्लकैर्द्रव्यभावबालैर्ये वर्तन्ते ते, व्यक्ताः—द्रव्यभाववृद्धाः, तेषां सक्षुल्लकव्यक्तानां—सबालवृद्धानामित्यर्थः, व्याधिमतां, 'च'—शब्दादव्याधिमतां च, ये गुणा वक्ष्यमाणलक्षणास्तेऽखण्डाऽस्फुटिताः कर्तव्याः, अखण्डाः—देशाविराधनापरित्यागेन, अस्फुटिताः—सर्वविराधनापरित्यागेन, तान्-शृणुत यथा कर्तव्यास्तथा ॥ ६ ॥ ते चाऽगुणपरिहारेण अखण्डाऽस्फुटिता भवन्तीत्यगुणास्तावदुच्यन्ते—

दसअट्ठ य ठाणाइं जाइं बालोव(वि)रज्झइ ।
तत्थ अण्णयरे ठाणे निग्गंथत्ताउ भस्सइ ॥ ७ ॥

छा० दशाष्टौ च स्थानानि, यानि बालोऽप(वि)राध्यति ।
तत्रान्यतरस्मिन् स्थाने, निर्ग्रन्थत्वाद्भ्रश्यति ॥ ७ ॥

'दसअट्ठ०'—दश अष्टौ च स्थानानि वक्ष्यमाणलक्षणानि यान्याश्रित्य बालोऽपराध्यति—तत्सेवनयाऽपराधमाप्नोति, कथम्? आह—तत्राऽन्यतरस्थाने वर्तमानः प्रमादेन निर्ग्रन्थत्वाद् भ्रश्यति ॥ ७॥ कानि तानि स्थानानि? इत्याह—

वयछक्कं[1] ६ कायछक्कं १२ अकप्पो १३ गिहिभायणं १४ ।
पलिअंकनिसिज्जा य १६ सिणाणं १७ सोभवज्जणं १८ ॥ ८ ॥

छा० व्रतषट्कं कायषट्कम्, अकल्पो गृहिभाजनम् ।
पर्यङ्कनिषद्ये च, स्नानं शोभावर्जनम् ॥ ८ ॥

१ वृत्तौ न व्याख्याता, निर्युक्तिगतेति स्वीकरणात् ।

'वयछक्कं०'—व्रतषट्कं—प्राणातिपाताविरमणादीनि षड्व्रतानि ६, कायषट्कं—पृथिव्यादयः षड्जीवानिकायाः १२, अकल्पकः—शिक्षकस्थापनाकल्पादिर्वक्ष्यमाणः १३, गृहिभाजनं—कांस्यभाजनादि १४, पर्यङ्कः—शयनविशेषः १५, निषद्या च—गृहे-एकानेकरूपा १६, स्नानं—सर्वदेशभेदभिन्नम् १७, शोभावर्जनं—विभूषापरित्यागः १८, वर्जनमिति प्रत्येकं सम्बध्यते, निर्युक्तिगता गाथेयम् ॥ ८ ॥ गुणा अखण्डाऽस्फुटिताः कर्तव्याः, तत्र विधिमाह——

तत्थिमं पढमं ठाणं महावीरेण देसिअं ।
अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो ॥ ९ ॥

छा० **तत्रेदं प्रथमं स्थानं, महावीरेण देशितम् ।**
अहिंसा निपुणा दृष्टा, सर्वभूतेषु संयमः ॥ ९ ॥

'तत्थिमं०'—तत्रेदं प्रथमं वक्ष्यमाणलक्षणं(स्थानं) महावीरेण—श्रीवर्द्धमानेन देशितं—कथितम्, यदुत-अहिंसेति, इयत्र सामान्यतः प्रभूतैर्देशितेत्यत आह—'निपुणाः'—आधाकर्माद्यपरिभोगतः कृतकारितादिपरिहारेण सूक्ष्मा, नाऽऽगमद्वारेण देशिता अपि तु दृष्टा, साक्षाद्धर्मसाधनत्वेनोपलब्धा, किमितीयमेव निपुणेत्याह—यतोऽस्यामेव महावीरदेशितायां सर्वभूतेषु—सर्वभूतविषयः संयमः, नान्यत्र, उद्दिश्यकृतादिभोगविधानात् ॥ ९ ॥

जावंति लोए पाणा तसा अदुव थावरा ।
ते जाणमजाणं वा न हणे णो वि घायए ॥ १० ॥

छा० यावन्तो लोके प्राणिनः, त्रसा अथवा स्थावराः ।
ताञ्जानन्नजानन्वा, न हन्यान्नो अपि घातयेत् ॥ १० ॥

'जावंति०'—यतो हि भागवत्याज्ञा यावन्तो लोके प्राणिनस्त्रसाः—द्वीन्द्रियादयः, अथवा स्थावराः—पृथिव्यादयस्तान् जानन्—रागाद्यभिभूतोऽजानन् वा, न हन्यात् स्वयम्, नाभिघातयेदन्यैः, एकग्रहणतो घ्नतोऽप्यन्यान् न समनुजानीयात् ॥ १० ॥

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ ११ ॥

छा० सर्वे जीवा अपीच्छन्ति, जीवितुं न मर्तुम् ।
तस्मात्प्राणवधं घोरं, निर्ग्रन्था वर्जयन्ति ॥ ११ ॥

'सव्वे जीवा०'—सर्वे जीवा अपीच्छन्ति जीवितुं न मर्तुम् प्राणवल्लभत्वात्, यस्मादेवं तस्मात्प्राणवधं घोरं निर्ग्रन्था वर्जयन्ति ॥ ११ ॥ द्वितीयस्थानविधिमाह—

अप्पणट्ठा परट्ठा वा कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं न मुसं बूआ, णो वि अण्णं वयावए ॥ १२ ॥

छा० आत्मार्थं परार्थं वा, क्रोधाद्वा यदिवा भयात् ।
हिंसकं न मृषा ब्रूयात्, नो अप्यन्यं वादयेत् ॥ १२ ॥

'अप्पणट्ठा०'—आत्मार्थम्—अग्लान एव ग्लानोऽहं ममानेन कार्यमित्यादि, (परार्थं वा—एवमेव, तथा क्रोधाद्वा—त्वं दास इत्यादि), [एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात्] मायादिपरिग्रहः, यदि वा भयात्किञ्चिद्वितथं कृत्वा प्रायश्चित्तभयान्न कृतमित्यादि, एवं हास्यादिष्वपि वाच्यम्, हिंसकं—परपीडाकारि सर्वमेव न मृषा ब्रूयात् स्वयम्, नाऽप्यन्यं वादयेत्, एकग्रहणतो ब्रुवतोऽप्यन्यान्न समनुजानीयात् ॥ १२ ॥

मुसावाओ अ लोगंमि सव्वसाहूहिं गरिहिओ ।
अविस्सासो अ भूआणं तम्हा मोसं विवज्जए ॥ १३ ॥

छा० मृषावादश्च लोके, सर्वसाधुभिर्गर्हितः ।
अविश्वासश्च भूतानां, तस्मान्मृषां विवर्जयेत् ॥ १३ ॥

'मुसावाओ०'—मृषावादो हि लोके सर्वसाधुभिर्गर्हितः, सर्वव्रतापकारित्वात्, प्रतिज्ञाताऽपालनात्, अविश्वासश्च भूतानां, तस्मान्मृषावादं वर्जयेत् ॥ १३ ॥ अथ तृतीयस्थानमाह—

चित्तमंतमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमित्तं पि उग्गहंसि अजाइआ ॥ १४ ॥

छा० चित्तवदचित्तं वा, अल्पं वा यदि वा बहु ।
दन्तशोधनमात्रमपि, अवग्रहे अयाचित्वा ॥ १४ ॥

'चित्तमंत०'—चित्तवत्—द्वीन्द्रियादि, अचित्तवद्वा—हिरण्यादि, अल्पं वा मूल्यतः प्रमाणतश्च, यदिवा बहु मूल्यप्रमाणाभ्यामेव, किं बहुना ? दन्तशोधनमात्रमपि अवग्रहे यस्य तत्तमयाचित्वा न गृह्णन्ति साधवः कदाचन ॥१४॥

तं अप्पणा न गिण्हंति णो वि गिण्हावए परं ।
अण्णं वा गिण्हमाणं पि नाणुजाणंति संजया ॥ १५ ॥

छा० तदात्मना न गृह्णन्ति, नो अपि ग्राहयन्ति परम् ।
अन्यं वा गृह्णन्तमपि, नाऽनुजानन्ति संयताः ॥ १५ ॥

'तं अप्पणा०'—तदाऽऽत्मना स्वयं न गृह्णन्ति, विरतत्वात्, नाऽपि ग्राहयन्ति परम्, अन्यं वा गृह्णन्तमपि नानुजानन्ति—नानुमन्यन्ते संयताः ॥ १५ ॥ चतुर्थस्थानविधिमाह—

अबंभचरिअं घोरं पमायं दुरहिट्ठिअं ।
नायरंति मुणी लोए भेआययणवज्जिणो ॥ १६ ॥

छा० अब्रह्मचर्यं घोरं, प्रमादं दुरधिष्ठितम् ।
नाचरन्ति मुनयो लोके, भेदाऽऽयतनवर्जिनः ॥ १६ ॥

'अबंभ०'—अब्रह्मचर्यं घोरं दुर्गतिहेतुत्वात्, प्रमादं—प्रमादवत्सर्वप्रमादमूलत्वात्, दुराश्रयं—दुस्सेवं, विदितजिनवचनेन अनन्तसंसारहेतुत्वात्, यतश्चैवमतो नाचरन्ति मुनयो लोके भेदायतनवर्जिनः—भेदश्चारित्रभेदः, तदाऽऽयतनं तत्स्थानमिदमेव, उक्तन्यायात्, तद्वर्जिनः—चारित्राऽतिचारभीरव इति ॥ १६ ॥

मूलमेअमहम्मस्स महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ १७ ॥

छा० मूलमेतदधर्मस्य, महादोषसमुच्छ्रयम् ।
तस्मान्मैथुनसंसर्गं, निर्ग्रन्था वर्जयन्ति ॥ १७ ॥

'मूलमेअ०'—मूलं—बीजमेतदधर्मस्य—पापस्येति पारलौकिकोऽपायः, महादोषसमुच्छ्रयं—महतां दोषाणां चौर्यप्रवृत्त्यादीनां समुच्छ्रयं—संघातवदिति—ऐहिकोऽपायः, तस्मान्मैथुनसंसर्गं योषिदालापायपि निर्ग्रन्था वर्जयन्ति, 'णं' इति वाक्याऽलङ्कारे ॥ १७ ॥ अथ पञ्चमस्थानविधिमाह—

बिडमुब्भेइमं लोणं तिल्लं सप्पिं च फाणिअं ।
न ते संनिहिमिच्छंति नायपुत्तवओरया ॥ १८ ॥

छा० बिडमुद्भेद्यं लवणं, तैलं सर्पिश्च फाणितम् ।
न ते सन्निधिमिच्छन्ति, ज्ञातपुत्रवचोरताः ॥ १८ ॥

'बिड०'—बिडं—गोमूत्रादिपक्वम्, उद्भेद्यं—सामुद्रादि, यदिवा बिडं प्रासुकम्, उद्भेद्यमप्रासुकम्, इत्येवं द्विप्रकारं लवणं, तैलं, सर्पिश्च—घृतं, फाणितं—द्रवगुडः, न ते साधवः सन्निधिमिच्छन्ति ज्ञातपुत्रवचोरताः—ज्ञातनिबद्धार्थः सिद्धार्थस्तत्पुत्रो वर्धमानस्तस्य वचसि रताः ॥ १८ ॥ सन्निधिदोषमाह—

लोहस्सेसणुप्फासो मण्णे अण्णयरामवि ।
जे सिआ संनिहिं कामे, गिही पव्वइए न से ॥ १९ ॥

छा० लोभस्यैषोऽनुस्पर्शः, मन्येऽन्यतरामपि ।
यः स्यात्सान्निधिं कामयते, गृही प्रव्रजितो न सः ॥ १९ ॥

'लोहस्सेस०'—लोभस्यैषोऽनुस्पर्शोऽनुभावो यदुत (यदे)तत्सन्निधिकरणमिति, यतश्चैवमतो मन्ये—मन्यन्ते [प्राकृतशैल्या एकवचनम्] एवमाहुस्तीर्थकरगणधराः, अन्यतरामपि—स्तोकामपि यः कदाचित् सन्निधिं कामयते गृही-गृहस्थोऽसौ भावतः प्रव्रजितो नेति, दुर्गतिनिमित्ताऽनुष्ठानप्रवृत्तेः ॥ १९ ॥ आह—यद्येवं, वस्त्रादिधारयतां साधूनां कथमसन्निधिरित्यत्राह—

जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं ।
तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति अ ॥ २० ॥

छा० यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा, कम्बलं पादप्रोञ्छनम् ।
तदपि संयमलज्जार्थं, धारयन्ति परिहरन्ति च ॥ २० ॥

'जं पि०'—यदपि आगमोक्तं वस्त्रं वा, पात्रं वा, कम्बलं, पादपुञ्छनं तदपि संयमलज्जार्थमिति, संयमार्थं पात्रादि, तद्व्यतिरेकेण पुरुषमात्रेण गृहस्थभाजने सति संयमपालनाभावात्, लज्जार्थं वस्त्रं, तद्व्यतिरेकेण—अङ्गनादौ

विशिष्टश्रुतपरिणत्यादिरहितस्य निर्लज्जतोपपत्तेः, पुष्टालम्बनविधानेन परिहरन्ति च–परिभुञ्जते च मूर्च्छादिरहिताः ॥ २० ॥ अतो नाऽसौ परिग्रहः—

न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इअ वुत्तं महेसिणा ॥ २१ ॥

छा० **नाऽसौ परिग्रह उक्तः, ज्ञातपुत्रेण त्रायिणा ।**
मूर्च्छा परिग्रह उक्तः, इत्युक्तं महर्षिणा ॥ २१ ॥

'न सो परिग्गहो०'–नाऽसौ वस्त्रधारणादिलक्षणः परिग्रह उक्तो ज्ञातपुत्रेण–वर्द्धमानेन, त्रात्रा–स्वपरपरित्राणसमर्थेन, अपि तु मूर्च्छा–असत्स्वपि वस्त्रादिष्वभिष्वङ्गः परिग्रह उक्तः, बन्धहेतुत्वात्, अर्थतस्तीर्थकरेण ततोऽवधार्य इत्येवमुक्तं महर्षिणा गणधरेण, सूत्रे शय्यम्भवेन (शाय्यम्भवे) ॥ २१ ॥ वस्त्राद्यभावेऽपि मूर्च्छा स्यात्, सद्भावे कथं नेत्याह–

सव्वत्थुवहिणा बुद्धा संरक्खणपरिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि नायरंति ममाइअं ॥ २२ ॥

छा० **सर्वत्रोपधिना बुद्धाः, संरक्षणपरिग्रहे ।**
अप्यात्मनोऽपि देहे, नाचरन्ति ममायितम् ॥ २२ ॥

'सव्वत्थु०'—सर्वत्रोचिते क्षेत्रे काले(च) उपधिना—आगमोक्तेन वस्त्रादिना सहाऽपि बुद्धाः—ज्ञाततत्त्वाः, संरक्षणपरिग्रह इति संरक्षणाय षण्णां जीवनिकायानां वस्त्रादिपरिग्रहे सत्यपि नाचरन्ति ममत्वमिति योगः। किञ्चानेन? ते हि भगवन्तः 'अप्यात्मनोऽपि देहे'—आत्मनो देहे-इत्यात्मनो धर्मकायेऽपि विशिष्टप्रतिबन्धसङ्गतिं न कुर्वन्ति, ममत्वमाऽऽत्मीयाऽभिधानं, वस्तुतत्त्वावबोधात्, तिष्ठतु तावदन्यत्, ततश्च देहवदपरिग्रह एव तदिति ॥ २२ ॥ अथ षष्ठं स्थानमाह—

अहो निच्चं तवोकम्मं सव्वबुद्धेहिं वण्णिअं।
जा य लज्जासमा वित्ती एगभत्तं च भोअणं ॥ २३ ॥

छा० अहो नित्यं तपःकर्म, सर्वबुद्धैर्वर्णितम्।
या च लज्जासमा वृत्तिः, एकभक्तं च भोजनम् ॥ २३ ॥

'अहो०'—'अहो नित्यं तपःकर्म'—इत्यहो विस्मये, नित्यं नामाऽपायाऽभावेन तदन्यगुणवृद्धिसम्भवात्, अप्रतिपात्येव तपःकर्म—तपोऽनुष्ठानं सर्वबुद्धैर्वर्णितं—देशितं, 'या च लज्जासमा वृत्तिः'—लज्जा—संयमः, तेन समा-तुल्या संयमाऽविरोधिनीत्यर्थः, वर्तनं—वृत्तिः—देहपालना, एकभक्तं च भोजनम्—एकं भक्तं द्रव्यतो भावतश्च यस्मिन्भोजने तत्तथा, द्रव्यत एकम्—एकसंख्यानुगतं, भावत एकं—कर्मबन्धाभावादद्वितीयं, तद्दिवस एव रागादिरहितस्य, अन्यथा भावत एकत्वाऽभावात् ॥ २३ ॥ रात्रिभोजनदोषमाह—

संतिमे सुहुमा पाणा तसा अदुव थावरा ।
जाइं राओ अपासंतो कहमेसणिअं चरे ? ॥ २४ ॥

छा० सन्तीमे सूक्ष्माः प्राणिनः, त्रसा अथवा स्थावराः ।
यान्रात्रावपश्यन्, कथमेषणीयं चरेत् ? ॥ २४ ॥

'संतिमे०'—सन्त्येते प्रत्यक्षाः सूक्ष्माः—सूक्ष्मप्राणिनो जीवाः, त्रसाः—द्वीन्द्रियादयः, (वा)स्थावराः पृथिव्यादयः, यान् प्राणिनो रात्रावपश्यन् कथमेषणीयं चरिष्यति—भोक्ष्यते च ? असम्भव एव रात्रावेषणीयचरणस्येति ॥२४॥ रात्रिभोजने दोषमभिधायाऽधुना ग्रहणगतं दोषमाह—

उदउल्लं बीअसंसत्तं पाणा निवडिआ महीं ।
दिआ ताइं विवज्जिज्जा राओ तत्थ कहं चरे ? ॥ २५ ॥

छा० उदकार्द्रं बीजसंसक्तं, प्राणिनो निपातिता महीम् ।
दिवा तान्विवर्जयेत्, रात्रौ तत्र कथं चरेत् ? ॥ २५ ॥

'उदउल्लं०'—उदकार्द्रं पूर्ववद्बीजसंसक्तं भक्तादि, (तथा) प्राणिनः सम्पातिमादयो निपातिमा[2] मह्यां

१ प्राकृतत्वान्नपुंसकलिङ्गम् । समुच्चयार्थे वा । २ 'निपतिताः' इति शुद्धं ।

सम्भवन्ति, ननु दिवाऽप्येतत्सम्भवत्येव ? सत्यम्, किन्तु परलोकभीरुश्चक्षुषा पश्यन् दिवा तानि—उदकादीनि विवर्जयेत्, सम्भवत्येतत्, रात्रौ तु तत्र कथञ्चरन्ति संयमानुपरोधेन ? असम्भव एव शुद्धचरणस्य ॥ २५ ॥

एअं च दोसं दट्ठूणं नायपुत्तेण भासिअं ।
सव्वाहारं न भुंजंति निग्गंथा राइभोअणं ॥ २६ ॥

छा० एतं च दोषं दृष्ट्वा, ज्ञातपुत्रेण भाषितम् ।
सर्वाहारं न भुञ्जते, निर्ग्रन्था रात्रिभोजनम् ॥ २६ ॥

'एअं च०'—एन(त)ञ्चानन्तरोदितं प्राणिहिंसारूपमन्यं चाऽऽत्मविराधनादिलक्षणं दोषं दृष्ट्वा (ज्ञातपुत्रेण भाषितं) सर्वाहारम्—अशनादिलक्षणं न भुञ्जते निर्ग्रन्था रात्रिभोजनम् ॥ २६ ॥ उक्तं व्रतषट्कं, कायषट्कमुच्यते—

पुढवीकायं न हिंसंति मणसा वयस[1] कायसा ।
तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिआ ॥ २७ ॥

छा० पृथ्वीकायं न हिंसन्ति, मनसा वचसा कायेन ।
त्रिविधेन करणयोगेन, संयताः सुसमाहिताः ॥ २७ ॥

१ छान्दसत्वाद्ध्रस्वत्वम् ।

'पुढवीकायं०'—पृथिवीकायं न हिंसन्ति, आलेखनादिप्रकारेण मनसा वाचा कायेन, उपलक्षणमेतत्, अत एवाह—त्रिविधेन करणयोगेन—मनःप्रभृतिकरणादिरूपेण, संयताः सुसमाहिताः ॥ २७ ॥ हिंसादोषमाह—

पुढवीकायं विहिंसंतो हिंसइ उ तयस्सिए ।
तसे अ विविहे पाणे चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥ २८ ॥

छा० पृथ्वीकायं विहिंसन्, हिनस्ति तु(एव) तदाश्रितान् ।
त्रसाँश्च विविधान्प्राणिनः, चाक्षुषाँश्चाऽचाक्षुषान् ॥ २८ ॥

'पुढवी०'—पृथ्वीकायं विहिंसन् हिनस्त्येव, तुरवधारणे, तदाश्रितान्—पृथिव्याश्रितान् त्रसांश्च विविधान् प्राणिनो द्वीन्द्रियादीन्, 'च'—शब्दात् स्थावरांश्च, चाक्षुषान्नचाक्षुषांश्च ॥ २८ ॥

तम्हा एअं विआणित्ता दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
पुढवीकायसमारंभं जावज्जीवाइ वज्जए ॥ २९ ॥

छा० तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्धनम् ।
पृथ्वीकायसमारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेत् ॥ २९ ॥

'तम्हा०'—तस्मादेवं विज्ञाय दोषं दुर्गतिवर्द्धनं पृथिवीकायसमारम्भं यावज्जीवमेव वर्जयेत् ॥ २९ ॥
अथाऽष्टमस्थानमाह—

आउकायं न हिंसंति मणसा वयस[1] कायसा ।
तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिआ ॥ ३० ॥
छा० अप्कायं न हिंसन्ति, मनसा वचसा कायेन ।
त्रिविधेन करणयोगेन, संयताः सुसमाहिताः ॥ ३० ॥
आउकायं विहिंसंतो हिंसइ उ तयस्सिए ।
तसे अ विविहे पाणे चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥ ३१ ॥
छा० अप्कायं विहिंसन्, हिनस्ति तु(एव) तदाश्रितान् ।
त्रसाँश्च विविधान्प्राणिनः, चाक्षुषाँश्चाऽचाक्षुषान् ॥ ३१ ॥
तम्हा एअं विआणित्ता दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
आउकायसमारंभं जावज्जीवाइ वज्जए ॥ ३२ ॥
छा० तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्धनम् ।
अप्कायसमारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेत् ॥ ३२ ॥

'आउकायं०'—सुगमा, पृथिव्याः स्थानेऽप्कायाऽभिलापेन नेयम् ॥ ३० ॥ 'आउकायं०'—सुगमा ॥३१॥ 'तम्हा०'—सुगमा, पूर्ववत् ॥ ३२ ॥ अथ नवमस्थानमाह—

१ पूर्ववत् ।

जायतेअं न इच्छंति पावगं जलइत्तए।
तिक्खमण्णयरं सत्थं सव्वओ वि दुरासयं ॥ ३३ ॥
छा० जाततेजसं नेच्छन्ति, पापकं ज्वालयितुम्।
तीक्ष्णमन्यतरच्छस्त्रं, सर्वतोऽपि दुराश्रयम् ॥ ३३ ॥

'जायतेअं०'—जाततेजसम्—अग्निं, नेच्छन्ति पापमेव पापकं, प्रभूतसत्त्वापकारित्वेनाऽशुभमित्यर्थः, ज्वलयितुम्—उत्पादयितुं तीक्ष्णं—छेदकरणात्मकम् अन्यतरच्छस्त्रं—सर्वत्रशस्त्रम्—एकधारादिशस्त्रव्यवच्छेदेन सर्वतो धारादि-(धार)शस्त्रकल्पमिति। अत एव सर्वतोऽपि दुराश्रयं—सर्वतोधारत्वेन अनाश्रयणीयम् ॥ ३३ ॥

पाईणं पडिणं वा वि उड्ढं अणुदिसामवि।
अहे दाहिणओ वा वि दहे उत्तरओ वि अ ॥ ३४ ॥
छा० प्राच्यां प्रतीच्यां वाऽपि, ऊर्ध्वमनुदिक्ष्वपि।
अधो दक्षिणतो वाऽपि, दहेदुत्तरतोऽपि च ॥ ३४ ॥

'पाईणं०'—प्राच्यां—पूर्वायां, प्रतीच्यामपि—पश्चिमायामपि, ऊर्द्ध्वम्, अनुदिक्ष्वपि [सुपां सुपो भवन्तीति सप्तम्यर्थे षष्ठी] विदिक्ष्वपि—इत्यर्थः, अधो दक्षिणतश्चाऽपि दहति—दाह्यं भस्मीकरोति, उत्तरतोऽपि च ॥ ३४ ॥

भूआणमेसमाघाओ हव्ववाहो न संसओ ।
तं पईवपयावट्ठा संजया किंचि नारभे ॥ ३५ ॥

छा० भूतानामेष आघातः, हव्यवाहो न संशयः ।
तं प्रदीपप्रतापार्थं, संयताः किञ्चिन्नारभन्ते ॥ ३५ ॥

'भूआणमेस०'—भूतानां—स्थावरादीनामेष आघातः—आघातहेतुत्वादाघातः, हव्यवाहोऽग्निर्न संशयः । इत्येवमेवैतदाघात एवेति भावः, येनैवं तेन तं हव्यवाहं प्रदीप[1]प्रतापनार्थम्—आलोकशीतापनोदार्थं संयताः किञ्चित्संघट्टनादि(नाऽपि) नारभन्ते, संयतत्वापगमनप्रसङ्गात् ॥ ३५ ॥

तम्हा एअं विआणित्ता दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
तेउकायसमारंभं जावज्जीवाइ वज्जए ॥ ३६ ॥

छा० तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्धनम् ।
तेजःकायसमारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेत् ॥ ३६ ॥

'तम्हा०'—सुगमा ॥ ३६ ॥ अथ दशमस्थानमाह—

अणिलस्स समारंभं बुद्धा मण्णंति तारिसं ।
सावज्जबहुलं चेअं नेअं ताईहिं सेविअं ॥ ३७ ॥

---

१ प्रतीप इत्यपि ।

छा० अनिलस्य समारम्भं, बुद्धा मन्यन्ते तादृशम् ।
सावद्यबहुलं चैतं, नैनं त्रायिभिः सेवितम् ॥ ३७ ॥

'अणिलस्स०'—अनिलस्य—वायोः समारम्भं—तालवृन्तादिभिः करणं बुद्धा मन्यन्ते तादृशम्—जाततेजःसमारम्भसदृशं सावद्यबहुलं चैनं(तं)—पापभूयिष्ठं चैनमिति कृत्वा सर्वकालमेव नैनं त्रातृभिः—सुसाधुभिः सेवितमाचरितं मन्यन्ते बुद्धाः ॥ ३७ ॥

तालिअंटेण पत्तेण साहाविहुअणेण वा ।
न ते वीइउमिच्छंति वेआवेऊण(उं) वा परं ॥ ३८ ॥

छा० तालवृन्तेन पत्रेण, शाखाविधुननेन वा ।
न ते व्यजितुमिच्छन्ति[1], व्याजयितुं वा परम् ॥ ३८ ॥

'तालिअंटेण०'—तालवृन्तेन पत्रेण शाखाविधुननेन वा न ते साधवो वीजितुमिच्छन्ति आत्मानमात्मना, नाऽपि वीजयन्ते परैरात्मानं तालवृन्तादिभिः, एवं नाऽपि वीजयन्तं परमनुमन्यन्ते ॥ ३८ ॥

जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं ।
न ते वायमुईरंति जयं परिहरंति अ ॥ ३९ ॥

१ 'व्यजितुम्' इति शुद्धरूपम् ।

छा० यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा, कम्बलं पादप्रोञ्छनम् ।
न ते वातमुदीरयन्ति, यतं परिहरन्ति च ॥ ३९ ॥

'जं पि०'—यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा कम्बलं वा पादपुञ्छनम्, अमीषां पूर्वोक्तं धर्मोपकरणं, तेनाऽपि न ते वातमुदीरयन्ति, अयतप्रत्युपेक्षणादिक्रियया । किन्तु यतं परिहरन्ति च परिभोगपरिहारेण धारणापरिहारेण च ॥ ३९ ॥

तम्हा एअं विआणित्ता दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
वाउकायसमारंभं जावज्जीवाइ वज्जए ॥ ४० ॥

छा० तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्धनम् ।
वायुकायसमारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेत् ॥ ४० ॥

'तम्हा०'—सुगमा ॥ ४० ॥ अथ एकादशस्थानमाह—

वणस्सइं न हिंसंति मणसा वयस[1] कायसा ।
तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिआ ॥ ४१ ॥

छा० वनस्पतिं न हिंसन्ति, मनसा वचसा कायेन ।
त्रिविधेन करणयोगेन, संयताः सुसमाहिताः ॥ ४१ ॥

१ पूर्ववत् ।

वणस्सइं विहिंसंतो हिंसइ उ तयस्सिए ।
तसे अ विविहे पाणे चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥ ४२ ॥

छा० वनस्पतिं विहिंसन्, हिनस्ति तु(एव) तदाश्रितान् ।
त्रसाँश्च विविधान्प्राणिनः, चाक्षुषाँश्चाऽचाक्षुषान् ॥ ४२ ॥

तम्हा एअं विआणित्ता दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
वणस्सइसमारंभं जावज्जीवाइ वज्जए ॥ ४३ ॥

छा० तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्धनम् ।
वनस्पतिसमारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेत् ॥ ४३ ॥

'वणस्सइं०'—सुगमा ॥ ४१ ॥ 'वणस्सइं०'—सुगमा ॥ ४२ ॥ 'तम्हा०'—सुगमा ॥ ४३ ॥ अथ द्वादशस्थानमाह—

तसकायं न हिंसंति मणसा वयस[1] कायसा ।
तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिआ ॥ ४४ ॥

छा० त्रसकायं न हिंसन्ति, मनसा वचसा कायेन ।
त्रिविधेन करणयोगेन, संयताः सुसमाहिताः ॥ ४४ ॥

१ पूर्ववत् ।

तसकायं विहिंसंतो हिंसइ उ तयस्सिए ।
तसे अ विविहे पाणे चक्खुसे अ अचक्खुसे ॥ ४५ ॥

छा० त्रसकायं विहिंसन्, हिनस्ति तु(एव) तदाश्रितान् ।
त्रसाँश्च विविधान्प्राणिनः, चाक्षुषाँश्चाऽचाक्षुषान् ॥ ४५ ॥

तम्हा एअं विआणित्ता दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
तसकायसमारंभं जावज्जीवाइ वज्जए ॥ ४६ ॥

छा० तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्धनम् ।
त्रसकायसमारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेत् ॥ ४६ ॥

'तसकायं०'—सुगमा ॥ ४४ ॥ 'तसकायं०'—सुगमा ॥ ४५ ॥ 'तम्हा०'—सुगमा ॥ ४६ ॥

उक्तं कायषट्कम्, एतत्प्रतिपादनादुक्ता मूलगुणाः, अधुनैतद्वृत्तिभूतोत्तरगुणावसरः, तेचाऽकल्पादयः षडुत्तर-गुणाः, यथोक्तम्—'अकप्पो गिहिभायणं' इत्यादि, तत्राऽकल्पो द्विविधः—शिक्षकस्थापनाकल्पः, अकल्प्य(ल्प)स्थापना कल्पश्च, तत्र शिष्यकस्थापनाकल्पः—अनधीतपिण्डनिर्युक्त्याऽऽदिनाऽऽनीतमाहारादि न कल्पते इति, उक्तञ्च—

"अणहीआ खलु [२]जेणं,......" ॥ १ ॥

१ शिष्यकस्थापनाकल्प इति दृश्यते ।

२ पिंडेसणासिज्जवत्थपाएसा । तेणाणियाणि जइणो, कप्पंति ण पिंडमाईणि ॥१॥ इति—अवशिष्टं वृत्तितः ।

"उउबद्धंमि ण अणला, वासावासे उ दोवि णो सेहा ।
दिक्खिज्जंती पायं, ठवणाकप्पो इमो होइ" ॥ २ ॥

अकल्पस्थापनाकल्पं त्वाह—

जाइं चत्तारि भुंज्जाइं[1] इसिणाहारमाइणि ।
ताइं तु विवज्जंतो संजमं अणुपालए ॥ ४७ ॥

छा० **यानि चत्वार्यभोज्यानि, ऋषीणामाहारादीनि ।**
तानि तु विवर्जयन्, संयममनुपालयेत् ॥ ४७ ॥

'जाइं०'—यानि चत्वारि अभोज्यानि संयमापकारित्वेन अकल्पनीयानि, ऋषीणां—साधूनाम्, आहारादीनि तानि तु विधिना विवर्जयन् संयमं—सप्तदशप्रकारमनुपालयेत् । तदत्यागे संयमाभावात् ॥४७॥ तदेव स्पष्टयति—

पिंडं सिज्जं च वत्थं च चउत्थं पायमेव य ।
अकप्पिअं न इच्छिज्जा पडिगाहिज्ज कप्पिअं ॥ ४८ ॥

छा० **पिण्डं शय्यां च वस्त्रं च, चतुर्थं पात्रमेव च ।**
अकल्पिकं नेच्छेत्, प्रतिगृह्णीयात्कल्पिकम् ॥ ४८ ॥

---

१ 'अभुज्जाइं' इत्यर्थे आर्षत्वाद् भुज्जाइं ज्ञेयम् ।

'पिंड०'—पिण्डं शय्यां च वस्त्रं चतुर्थं पात्रमेव चाऽकल्पिकं नेच्छेत्, प्रतिगृह्णीयात्कल्पिकम् ॥ ४८ ॥ अकल्पिके दोषमाह—

जे निआगं ममायंति कीयमुद्देसियाहडं ।
वहं ते समणुजाणंति इअ वुत्तं महेसिणा ॥ ४९ ॥

छा० ये नियागं (नियोगिकं) ममायन्ति, क्रीतमौद्देशिकाऽऽहृतम् ।
वधं ते समनुजानन्ति, इत्युक्तं महर्षिणा ॥ ४९ ॥

'जे निआगं०'—ये द्रव्यसाधवः 'नियागं'ति—नित्यमान्त्रितं पिण्डं ममायन्ति—गृह्णन्ति, तथा 'क्रीतमौद्देशिकाहृतम्', वधं—स्थावरादिघातं ते द्रव्यसाध्वादयः समनुजानन्ति अनुमोदनेन इत्युक्तं वर्द्धमानेन ॥ ४९ ॥

तम्हा असणपाणाइं कीयमुद्देसियाहडं ।
वज्जयंति ठिअप्पाणो निग्गंथा धम्मजीविणो ॥ ५० ॥

छा० तस्मादशनपानादि, क्रीतमौद्देशिकाऽऽहृतम् ।
वर्जयन्ति स्थितात्मानः, निर्ग्रन्था धर्मजीविनः ॥ ५० ॥

'तम्हा०'—तस्मादशनपानादि क्रीतमौद्देशिकमाहृतं वर्जयन्ति स्थितात्मानः—महासत्त्वाः, निर्ग्रन्थाः, धर्मजीविनः—संयमैकजीविनः ॥ ५० ॥ इदानीं चतुर्दशस्थानमाह—

कंसेसु कंसपाएसु कुंडमोएसु वा पुणो ।
भुंजंतो असणपाणाइ आयारा परिभस्सइ ॥ ५१ ॥
छा० **कांस्येषु कांस्यपात्रेषु, कुण्डमोदेषु वा पुनः ।**
भुञ्जानोऽशनपानादि, आचारात्परिभ्रश्यति ॥ ५१ ॥

'कंसेसु०'—कंसेषु[1]—कच्चोलकादिषु, कांस्यपात्रेषु—स्थालादिषु, कुण्डमोदेषु—हस्तिपादाकारेषु मृण्मयादिषु भाजनेषु, भुञ्जानोऽशनपानादि तदन्यदोषरहितमपि—आचाराच्छ्रमणसम्बन्धिनः परिभ्रश्यति ॥ ५१ ॥ कथमित्याह—

सीओदगसमारंभे मत्तधोअणछड्डुणे ।
जाइं छण्णाति भूआइं दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥ ५२ ॥
छा० **शीतोदकसमारम्भे, मात्रकधावनछर्दने ।**
यानि क्षण्वन्ति भूतानि, दृष्टस्तत्राऽसंयमः ॥ ५२ ॥

'सीओदग०'—अनन्तरोक्तभाजनेषु श्रमणा भोक्ष्यन्ते, भुक्तं वैतैरिति, शीतोदकेन धावनं कुर्वन्ति, तदा शीतोदकसमारम्भे, तथा मात्रकधावनोज्झने यानि क्षर्ण्यन्ते[2]—हिंस्यन्ते भूतानि—अप्कायादीनि, दृष्टस्तत्र—गृहिभाजन-भोजने असंयमः केवलज्ञानभास्वता ॥ ५२ ॥

---

१ 'कांस्येषु' इति शुद्धपदेन भाव्यम् । २ क्षिप्यन्ते इति वा ।

पच्छाकम्मं पुरेकम्मं सिआ तत्थ न कप्पइ ।
एअमट्ठं न भुंजंति निग्गंथा गिहिभायणे ॥ ५३ ॥

छा० पश्चात्कर्म पुरःकर्म, स्यात्तत्र न कल्पते ।
एतदर्थं न भुञ्जते, निर्ग्रन्था गृहिभाजने ॥ ५३ ॥

'पच्छाकम्मं०'—पश्चात्कर्म पुरःकर्म स्यात्तत्र गृहिभाजनभोजने, एतच्च न कल्पते साधूनाम्, एतदर्थं पश्चात्कर्म(र्मादि)परिहारार्थं न भुञ्जते निर्ग्रन्था गृहिभाजने ॥ ५३ ॥ अथ पञ्चदशस्थानमाह—

आसंदी पलिअंकेसु मंचमासालएसु वा ।
अणायरिअमज्जाणं आसइत्तु सइत्तु वा ॥ ५४ ॥

छा० आसन्दी-पर्यङ्कयोः, मञ्चाऽऽशालकयोर्वा ।
अनाचरितमार्याणाम्, आसितुं शयितुं वा ॥ ५४ ॥

'आसंदी०'—आसन्दीपर्यङ्कयोः—आसन्दी—आसनविशेषः, पर्यङ्कः—पल्यङ्कः, तयोः, मञ्चाऽऽशालकयोश्च—मञ्चः प्रतीतः, आशालकस्तु—अवष्टम्भसमान्वित आसनविशेषः, एतयोरनाचरितमार्याणां—साधूनामासितुम्—उपवेष्टुं, स्वप्तुं वा—निद्रातिवाहनं वा कर्तुम् ॥ ५४ ॥ अत्रैव अपवादमाह—

नासंदी पलिअंकेसु न निसिज्जा न पीढए ।
निग्गंथा पडिलेहाए बुद्धवुत्तमहिट्ठगा ॥ ५५ ॥

छा० नासन्दीपर्यङ्कयोः, न निषद्यायां न पीठके ।
निर्ग्रन्था अप्रतिलेखया(ख्य), बुद्धोक्तमधिष्ठातारः ॥ ५५ ॥

'नासंदी०'—नासन्दीपर्यङ्कयोर्न निषद्यायां—गद्दिकायां न पीठके वेत्रमयादौ निर्ग्रन्था अप्रत्युपेक्ष्य चक्षुरादिना, न निषदनादि कुर्वन्तीति वाक्यशेषः, बुद्धोक्तमधिष्ठातारः—तीर्थंकरोक्ताऽनुष्ठानपराः ॥ ५५ ॥ अत्रैव दोषमाह—

गंभीरविजया एए पाणा दुप्पडिलेहगा ।
आसंदी पलिअंको अ एयमट्ठं विवज्जिआ ॥ ५६ ॥

छा० गम्भीरविजया एते, प्राणिनो(प्राणा) दुष्प्रतिलेख्याः ।
आसन्दीपर्यङ्कश्च, एतदर्थं विवर्जिताः ॥ ५६ ॥

'गंभीर०'—गम्भीरविजया इति गम्भीरमप्रकाशं, विजयः—आश्रयः, अप्रकाशाश्रयाः, एते प्राणिनामासन्यादयः, एवं च प्राणिनो दुष्प्रतिप्रे(त्युपे)क्षणीया एतेषु भवन्ति, पीड्यन्ते चैतदुपवेशनादिना, आसन्दः पर्यङ्कश्च, 'च'—शब्दान्मञ्चादयश्च एतदर्थं विवर्जिताः साधुभिः ॥ ५६ ॥ अथ षोडशस्थानमाह—

गोअरग्गपविट्ठस्स निसिज्जा जस्स कप्पइ ।
इमेरिसमणायारं आवज्जइ अबोहिअं ॥ ५७ ॥

छा० गोचराग्रप्रविष्टस्य, निषद्या यस्य कल्पते ।
ईदृशमनाचारम्, आपद्यतेऽबोधिकम् ॥ ५७ ॥

'गोअरग्ग०'—गोचराग्रप्रविष्टस्य [प्रथमार्थे षष्ठी] निषद्या यस्य कल्पते—करोति स एवमीदृशं वक्ष्यमाण-लक्षणमनाचारमापद्यते—प्राप्नोति अबोधिकं—मिथ्यात्त्वफलम् ॥ ५७ ॥ अनाचारमाह—

विवत्ती बंभचेरस्स पाणाणं च वहे वहो ।
वणीमगपडीघाओ पडिकोहो अगारिणं ॥ ५८ ॥

छा० विपत्तिर्ब्रह्मचर्यस्य, प्राणिनां च वधे वधः ।
वनीपकप्रतीघातः, प्रतिक्रोधोऽगारिणाम् ॥ ५८ ॥

'विवत्ती०'—विपत्तिर्ब्रह्मचर्यस्य—आज्ञाखण्डनादोषतः साधुसमाचारस्य, प्राणिनां च वधे वधो भवति, तथासम्बन्धादाधाकर्मादिकरणेन, वनीपकप्रतीघातः, तदाक्षेपेणाऽदित्साऽभिधानादिना, प्रतिक्रोधश्चाऽगारिणां तत्स्वजनानां (च) स्यात् तथाक्षेपदर्शनादिना ॥ ५८ ॥

अगुत्ती बंभचेरस्स इत्थीओ वा वि संकणं ।
कुसीलवड्ढणं ठाणं दूरओ परिवज्जए ॥ ५९ ॥

छा० अगुप्तिर्ब्रह्मचर्यस्य, स्त्रीतो वाऽपि शङ्कनम् ।
कुशीलवर्धनं स्थानं, दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ५९ ॥

'अगुत्ती०'—अगुप्तिर्ब्रह्मचर्यस्य, तादिन्द्रियाद्यवलोकनेन, स्त्रीतश्चाऽपि शङ्का स्यात्, तदुत्फुल्ललोचनदर्शनादिनाऽनुभूतगुणायाः, (उक्तप्रकारेण) कुशीलवर्द्धनं स्थानं दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ५९ ॥ सूत्रेणैव अपवादमाह—

तिण्हमण्णयरागस्स निसिज्जा जस्स कप्पइ ।
जराए अभिभूअस्स वाहिअस्स तवस्सिणो ॥ ६० ॥

छा० त्रयाणामन्यतमस्य(तरस्य), निषद्या यस्य कल्पते ।
जरसाऽभिभूतस्य, व्याधितस्य तपस्विनः ॥ ६० ॥

'तिण्ह०'—त्रयाणां वक्ष्यमाणलक्षणानामन्यतरस्यैकस्य निषद्या गोचराग्रप्रविष्टस्य यस्य कल्पते, तस्य तदाऽऽसेवने न दोष इति शेषः, कस्य कल्पत इत्याह—जरयाऽभिभूतस्य—अत्यन्तवृध्दस्य, व्याधिमतः—अत्यन्तमशक्तस्य, तपस्विनः—विकृष्टक्षपकस्य, एते भिक्षाऽटनं न कार्यन्त एव, (ततः) आत्मलब्धिकानामिदं सूत्रम् ॥ ६० ॥ इदानीं सप्तदशस्थानमाह—

वाहिओ वा अरोगी वा सिणाणं जो उ पत्थए।
वुक्कंतो होइ आयारो जढो हवइ संजमो ॥ ६१ ॥

छा० व्याधितो वा, अरोगी वा, स्नानं यस्तु प्रार्थयते।
व्युत्क्रान्तो भवत्याचारः, त्यक्तो(जढो) भवति संयमः ॥ ६१ ॥

'वाहिओ०'–व्याधिमान्–व्याधिग्रस्तः, अरोगी वा, स्नानं यस्तु प्रार्थयते–सेवत इत्यर्थः, तेन व्युत्क्रान्तो भवत्याचारो बाह्यतपोरूपः, अस्नानपरीषहाऽनतिसहनात्, जढः–परित्यक्तो भवति संयमः ॥ ६१ ॥ प्रासुकोदकस्नानेन कथं संयमत्यागः ? इत्याह—

संतिमे सुहुमा पाणा घसासु भिलुगासु अ।
जे अ भिक्खू सिणाअंतो वियडेणुप्पलावए ॥ ६२ ॥

छा० सन्तीमे सूक्ष्माः प्राणाः(प्राणिनः), घसासु भिलुकासु च।
याँश्च भिक्षुः स्नान्, विकटेनोत्प्लावयति ॥ ६२ ॥

'संतिमे०'–सान्ति एते प्रत्यक्षोपलभ्यमानस्वरूपाः सूक्ष्माः प्राणाः घसासु–सुषिरभूमिषु, भिलुगासु च–तथाविधभूमिराजीषु च, यांस्तु भिक्षुः स्नान् विकटेन–प्रासुकोदकेन (विकृतेन वा) उत्प्लावयति ॥ ६२ ॥ निगमयन्नाह-

तम्हा ते ण सिणायंति सीएण उसिणेण वा ।
जावज्जीवं वयं घोरं असिणाणमहिट्ठगा ॥ ६३ ॥
छा० तस्मात्ते न स्नान्ति, शीतेनोष्णेन वा ।
यावज्जीवं व्रतं घोरम्, अस्नानमधिष्ठातारः ॥ ६३ ॥

'तम्हा०'—तस्मात्ते साधवो न स्नान्ति शीतेनोष्णेन वोदकेन यावज्जीवम्—आजन्मव्रतं घोरमस्नानमाश्रित्याधिष्ठातारः—अस्यैव कर्तारः ॥ ६३ ॥ किञ्च—

सिणाणं अदुवा कक्कं लुद्धं पउमगाणि अ ।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए नायरंति कयाइ वि ॥ ६४ ॥
छा० स्नानमथवा कल्कं, लोध्रं पद्मकानि च ।
गात्रस्योद्वर्तनार्थं, नाचरन्ति कदाचिदपि ॥ ६४ ॥

'सिणाणं०'—स्नानमथवा कल्कं—चन्दनकल्कादि, लोध्रं—गन्धद्रव्यं, पद्मकानि च—कुङ्कुमकेसराणि, 'च'—शब्दादन्यच्चैवंविधं गात्रस्योद्वर्तनार्थम्—उद्वर्तननिमित्तं नाचरन्ति कदाचिदपि ॥ ६४ ॥ साम्प्रतमष्टादशस्थानमाह—'शोभायां नास्ति दोषोऽलङ्कृतश्चाऽपि चरेद्धर्मम्' इत्यादि प्रकीर्णवचनात्, (इति) पराभिप्रायमाशङ्क्याऽऽह—

नगिणस्स वा वि मुंडस्स दीहरोमनहंसिणो ।
मेहुणा उवसंतस्स किं विभूसाइ कारिअं ? ॥ ६५ ॥

छा० नग्नस्य वाऽपि मुण्डस्य, दीर्घरोमनखिनः(नखवतः) ।
मैथुनादुपशान्तस्य, किं विभूषया कार्यम् ॥ ६५ ॥

'नगिणस्स०'–नग्नस्याऽपि–नग्नः–जिनकल्पी, उपचारात्प्रमाणवासा अपि कुचेलत्वान्नग्नः, जिनकल्पिकस्य वा, मुण्डस्य द्रव्यभावाभ्यां, दीर्घरोमनखवतः–रोमाणि कक्षादिषु, दीर्घनखवतो (हस्ताऽऽदौ) जिनकल्पिकस्य, इतरस्य तु प्रमाणयुक्ता एव नखा भवन्ति, मैथुनादुपशान्तस्य–उपरतस्य, किं विभूषया–राढया कार्यम् ? न किञ्चिदिति ॥ ६५ ॥ प्रयोजनाभावमभिधायाऽपायमाह—

विभूसावत्तिअं भिक्खू कम्मं बंधइ चिक्कणं ।
संसारसायरे घोरे जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥ ६६ ॥

छा० विभूषावृत्तिकं भिक्षुः, कर्म बध्नाति चिक्कणम् ।
संसारसागरे घोरे येन पतति दुरुत्तरे ॥ ६६ ॥

'विभूसा०'–विभूषाप्रत्ययं–विभूषानिमित्तं भिक्षुः कर्म बध्नाति चिक्कणं–दारुणम्, संसारसागरे घोरे

येन कारणेन पतति दुरुत्तरे—अकुशलानुबन्धतोऽत्यन्तदीर्घे इति ॥ ६६ ॥ इत्थं बाह्यविभूषाऽपायमुक्त्वा प्रकल्पविभूषाऽपायमाह—

विभूसावत्तिअं चेअं बुद्धा मण्णंति तारिसं ।
सावज्जबहुलं चेअं नेअं ताईहिं सेविअं ॥ ६७ ॥

छा० विभूषावृत्तिकं चैतत्, बुद्धा मन्यन्ते तादृशम् ।
सावद्यबहुलं चैतत्, नैतत्त्रायिभिः सेवितम् ॥ ६७ ॥

'विभूसावत्तिअं०'—विभूषाप्रत्ययवतः—एवं चैवं च यदि मम विभूषा सम्पद्यत इति, तत्प्रवृत्त्यङ्गं चित्तमित्यर्थः, बुद्धास्तीर्थकरा मन्यन्ते तादृशं—रौद्रकर्मबन्धहेतुभूतं विभूषाक्रियासदृशं सावद्यबहुलं चैतद् आर्तध्यानानुगतं चेतः, नैतदित्थम्भूतं त्रातृभिः सेवितमाचरितम् ॥ ६७ ॥ फलप्रदर्शनेन उपसंहरन्नाह—

खवंति अप्पाणममोहदंसिणो ।
तवे रया संजम-अज्जवे गुणे ॥
धुणंति पावाइं पुरेकडाइं ।
नवाइं पावाइं न ते करिंति ॥ ६८ ॥

छा० क्षपयन्त्यात्मानममोहदर्शिनः ।
तपसि रताः संयमाऽऽर्जवे गुणे ॥

धुन्वन्ति पापानि पुराकृतानि ।
नवानि पापानि न ते कुर्वन्ति ॥ ६८ ॥

'खवंति०'—क्षपयन्त्यात्मानम् अमोहदर्शिनः—यथावस्थितार्थदर्शिनः, तपसि रताः, किंविशिष्टे तपसि ? संयमार्जवे गुणौ यस्य तपसस्तस्मिन् [प्राकृतत्वादेकारः,] धुन्वन्ति—कम्पयन्ति पापानि पुराकृतानि, (नवानि)पापानि न ते साधवः कुर्वन्ति ॥ ६८ ॥

सओवसंता अममा अकिंचणा ।
सविज्जविज्जाणुगया जसंसिणो ॥
उउप्पसण्णे विमले व चंदिमा ।
सिद्धिं विमाणाइं उविंति ताइणो ॥ ६९ ॥ त्ति बेमि ।

छा० सदोपशान्ता अममा अकिञ्चनाः ।
स्वविद्या—विद्याऽनुगता यशस्विनः ॥
ऋतुप्रसन्ने विमलो व चन्द्रमाः ।
सिद्धिं विमानान्युपयान्ति त्रायिणः ॥ ६९ ॥ इति ब्रवीमि ।

'सओवसंता०'—सदोपशान्ताः—नित्यं क्रोधरहिताः, अममाः—ममत्वशून्याः, अकिञ्चनाः—स्वर्णमिथ्यात्वादिद्रव्यभावकिञ्चनमुक्ताः, स्वा—आत्मीया विद्या स्वविद्या—परलोकोपकारिणी, केवलश्रुतरूपा, तया स्वविद्यया विद्यानुगताः—युक्ताः, न पुनः परविद्यया—इहलोकोपकारिण्येति, यशस्विनः(ते), ऋतौ प्रसन्ने शरत्कालादौ विमल इव चन्द्रमाः—चन्द्रमा इव विमलाः, इत्येवंकल्पास्ते भावमलरहिताः सिद्धिं—निर्वृतिं(वा) सावशेषकर्माणो विमानानि सौधर्मावतंसकादीनि व्रजन्ति त्रातारः—साधवः। ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ ६९ ॥ इति धर्मार्थकामाध्ययनस्य महाचारस्य वा अवचूर्णिः।

॥ धम्मत्थकामज्झयणं छट्ठं ॥

॥ इति धर्मार्थकामाऽध्ययनं षष्ठम् ॥



॥ अथ सप्तमाध्ययनम् ॥



महाऽऽचारकथायाम् आलयगतेनैव स्वाऽऽचारो वाच्य इत्युक्तम्। इह त्वालयगतेनाऽपि गुरुणा साधुना वा वचनदोषगुणाऽभिज्ञेन निरवद्यवचसा कथयितव्य इत्येतदुच्यते। उक्तञ्च—

" सावज्जणवज्जाणं वयणाणं जो ण जाणइ विसेसं ।
वोत्तुं पि तस्स न खमं, किमंग ! पुण देसणं काउं ? " ॥ १ ॥

इत्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयातमिदमध्ययनम्, तथा च—

चउण्हं खलु भासाणं परिसंखाय पण्णवं ।
दुण्हं तु विणयं सिक्खे दो न भासिज्ज सव्वसो ॥ १ ॥

छा० **चतसृणां खलु भाषाणां, परिसंख्याय प्रज्ञावान् ।**
द्वाभ्यां तु विनयं शिक्षेत, द्वे न भाषेत सर्वशः ॥ १ ॥

'चउण्हं०'—चतसृणां 'खलु'—शब्दोऽवधारणे, भाषाणां परिसंख्याय—सर्वैः प्रकारैर्ज्ञात्वा स्वरूपमितिशेषः, प्रज्ञावान् द्वाभ्यामेव सत्याऽसत्यामृषाभ्याम्, तुरवधारणे, विनयं—शुद्धप्रयोगं शिक्षेत—जानीयात्, द्वे असत्यसत्यामृषे न भाषेत, सर्वशः—सर्वैः प्रकारैरिति ॥ १ ॥ विनयमेवाऽऽह—

जा य सच्चा अवत्तव्वा सच्चामोसा य जा मुसा ।
जा य बुद्धेहिं णाइण्णा न तं भासिज्ज पण्णवं ॥ २ ॥

छा० या च सत्याऽवक्तव्या, सत्यामृषा च या मृषा ।
या च बुद्धैरनाचीर्णा, न तां भाषेत प्रज्ञावान् ॥ २ ॥

'जा य०'–या च सत्या पदार्थतत्त्वमङ्गीकृत्याऽवक्तव्या साऽवंद्यत्वेन, अमुत्र स्थिता पल्लीति कौशिक-भाषावत्, सत्यामृषा वा–यथा–दश दारका जाताः, इत्येवंलक्षणा, मृषा च सम्पूर्णैव, 'च'-शब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, या च बुद्धैस्तीर्थंकरादिभिरनाचरिता, असत्यामृषा–आमन्त्रणी–आज्ञापन्यादिलक्षणा, अविधिपूर्वकं स्वरादिना प्रकारेण नैनां भाषेत प्रज्ञावान् ॥ २ ॥ उक्ताऽवाच्या, अथ वाच्यामाह–

असच्चमोसं सच्चं च अणवज्जमकक्कसं ।
समुप्पेहमसंदिद्धं गिरं भासिज्ज पण्णवं ॥ ३ ॥

छा० असत्यामृषां सत्यां च, अनवद्यामकर्कशाम् ।
समुत्प्रेक्ष्याऽसन्दिग्धां, गिरं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ ३ ॥

'असच्चमोसं०'–असत्यामृषां, सत्यां वोक्तलक्षणाम्, इयं साऽवद्या कर्कशाऽपि भवत्यत आह–'असाऽवद्यामपापामकर्कशाम्'–अतिशयोक्त्या ह्यमत्सरपूर्वां, सम्प्रेक्ष्य–स्वपरोपकारिणीमिति बुद्ध्याऽऽलोच्य, असन्दिग्धां–स्पष्टां गिरं–वाचं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ ३ ॥ अथ सत्यासत्यामृषाप्रतिषेधार्थमाह–

एअं च अट्ठमण्णं वा जं तु णामेइ सासयं ।
स भासं सच्चमोसं पि तं पि धीरो विवज्जए ॥ ४ ॥
छा० एतं चार्थमन्यं वा, यस्तु नमयति शाश्वतम् ।
स भाषां सत्यामृषामपि, तामपि धीरो विवर्जयेत् ॥ ४ ॥

'एअं च०'—एतं चाऽर्थमनन्तरप्रतिषिद्धं साऽवद्यं सकर्कशमन्यं वैतज्जातीयं यं [प्राकृतशैल्या] यस्तु नमयति शाश्वतम्, य एव कश्चिदर्थो नमयति—अननुगुणं करोति शाश्वतं—मोक्षम्, तमाश्रित्य स साधुर्भाषां सत्या-मृषामपि, अपिशब्दात्सत्याऽपि या तथाभूता तामपि धीरो विवर्जयेत् । आह—सत्यामृषाया ओघत एव प्रतिषेधात् तथाभूतसत्यायाश्च साऽवद्यत्वेन गताऽर्थं सूत्रमिति ? उच्यते—' मोक्षपीडाकरं सूक्ष्ममप्यर्थमङ्गीकृत्य—अन्यतरभाषाया अपि भाषणं न कर्तव्यमित्यतिशयप्रदर्शनपरमेतददुष्टमेव ॥ ४ ॥ साम्प्रतं मृषाभाषासंरक्षणाऽर्थमाह—

वितहं पि तहामुत्तिं जं गिरं भासए नरो ।
तम्हा सो पुट्ठो पावेण किं पुणं जो मुसं वए ॥ ५ ॥
छा० वितथामपि तथामूर्तिं, यां गिरं भाषते नरः ।
तस्मात्स पृष्टः पापेन, किं पुनर्यो मृषां वदेत्(वक्ति) ॥ ५ ॥

'वितहं पि०'—वितथम्—अतथ्यम्, तथामूर्त्यापि कथञ्चित् तत्स्वरूपमपि वस्तु, अपिर्भिन्नक्रमे, एतदुक्तं स्यात्—

पुरुषनेपथ्यास्थितवनिताद्यपि—अङ्गीकृत्य यां गिरं भाषते नरः—'इयं स्त्री—आगच्छति गायति वेत्यादिरूपाम्', तस्माद् भाषणात्पूर्वमेवाऽसौ वक्ता स्पृष्टः पापेन, किं पुनर्यो मृषां वक्ति ? ॥ ५ ॥

तम्हा गच्छामो वक्खामो अमुगं वा णे भविस्सइ ।
अहं वा णं करिस्सामि एसो वा णं करिस्सइ ॥ ६ ॥

छा० तस्माद्गमिष्यामो वक्ष्यामः, अमुकं वा नो भविष्यति ।
अहं वा करिष्यामि, एष वा करिष्यति ॥ ६ ॥

'तम्हा०'—यस्माद् वितथं तथामूर्त्यपि वस्त्वङ्गीकृत्य भाषमाणो बध्यते, तस्माद् गमिष्याम एव श्व इतोऽन्यत्र, वक्ष्याम एव श्वस्तत्र तदौषधीनिमित्तमिति, अमुकं वा नोऽस्माकं वसत्यादिकं भविष्यत्येव, अहं चेदं लोचाऽदि करिष्यामि नियमेन, एष वा साधुरस्माकं विश्रमणादि करिष्यत्येव ॥ ६ ॥

एवमाइ उ जा भासा एसकालम्मि संकिआ ।
संपयाईअमट्ठे वा तं पि धीरो विवज्जए ॥ ७ ॥

छा० एवमाद्या तु या भाषा, एष्यत्काले शङ्किता ।
साम्प्रताऽतीतार्थयोः, तामपि धीरो विवर्जयेत् ॥ ७ ॥

'एवमाइ०'—एवमाद्या तु या भाषा एष्यत्काले—भविष्यत्काले शङ्किता बहुविघ्नत्वान्मुहूर्ताऽऽदीनाम्, तथा

साम्प्रताऽतीताऽर्थयोरपि या शङ्किता तामपि धीरो विवर्जयेत्, तत्तथाभावनिश्चयाऽभावेन व्यभिचारतो मृषात्वोपपत्तेः, विघ्नतोऽगमनादौ गृहस्थमध्ये लाघवाऽऽदिप्रसङ्गात् सर्वमेव साऽवसरं वक्तव्यम् ॥ ७ ॥

अईअंमि अ कालंमि पच्चुप्पण्णमणागए ।
जमट्ठं तु न जाणिज्जा एवमेअं ति णो वए ॥ ८ ॥

छा० अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नेऽनागते ।
यमर्थं तु न जानीयात्, एवमेतदिति नो वदेत् ॥ ८ ॥

'अईअंमि०'—अतीते च काले तथा प्रत्युत्पन्ने—वर्तमानेऽनागते च काले यमर्थन्तु न जानीयात्—तमङ्गीकृत्यैवमेतदिति नो वदेत् ॥ ८ ॥

अईअंमि अ कालंमि पच्चुप्पण्णमणागए ।
जत्थ संका भवे तं तु एवमेअं ति णो वए ॥ ९ ॥

छा० अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नेऽनागते ।
यत्र शङ्का भवेत्तत्तु, एवमेतदिति नो वदेत् ॥ ९ ॥

'अईअंमि०'—यत्राऽर्थे शङ्का भवेत्, तमर्थमाश्रित्य, 'तु' अप्यर्थः (न ब्रूयात्) ॥ ९ ॥

अईअंमि अ कालंमि पच्चुप्पण्णमणागए ।
णिस्संकिअं भवे जं तु एवमेअं ति णिद्दिसे ॥ १० ॥

छा० अतीते च काले प्रत्युत्पन्नेऽनागते ।

निश्शङ्कितं भवेद्यत्तु, एवमेतदिति निर्दिशेत् ॥ १० ॥

'अईअंमि०'—यदर्थजातं निश्शङ्कितं भवेत्, 'तु'—शब्दादनवद्यं भवेत्, तदेवमेतदिति निर्दिशेत् ॥ १० ॥

तहेव फरुसा भासा गुरुभूओवघाइणी ।

सच्चा वि सा न वत्तव्वा जओ पावस्स आगमो ॥ ११ ॥

छा० तथैव परुषा भाषा, गुरुभूतोपघातिनी ।

सत्याऽपि सा न वक्तव्या, यतः पापस्याऽऽगमः ॥ ११ ॥

'तहेव०'—तथैव परुषा भाषा निष्ठुरा, गुरुभूतोपघातिनी—महाभूतोपघातिनी सत्याऽपि सा न वक्तव्या, यतः—यस्या भाषायाः सकाशात् पापस्याऽऽगमो भवति ॥ ११ ॥

तहेव काणं काणत्ति पंडगं पंडगत्ति वा ।

वाहिअं वा वि रोगित्ति तेणं चोरत्ति णो वए ॥ १२ ॥

छा० तथैव काणं काण इति, पण्डकं पण्डक इति वा ।

व्याधितं वाऽपि रोगीति, स्तेनं चौर इति नो वदेत् ॥ १२ ॥

'तहेव०'—तथैव 'काणं'ति —भिन्नाऽक्षं काण इति, पण्डकं—नपुंसकं पण्डक इति वा, व्याधिमन्तं वा रोगीति, स्तेनं—चौरं चौर इति नो वदेत्, अप्रीतिलज्जानाशस्थिररोगवुद्धिविराधनादिदोषप्रसङ्गात् ॥ १२ ॥

एएणण्णेण अट्ठेण परो जेणुवहम्मइ ।
आयारभावदोसण्णू न तं भासिज्ज पण्णवं ॥ १३ ॥

छा० एतेनाऽन्येनार्थेन, परो येनोपहन्यते ।
आचारभावदोषज्ञः, न तं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ १३ ॥

'एएण०'—एतेनाऽन्येन वाऽर्थेनोक्तेन सता परो येनोपहन्यते, आचारभावदोषज्ञो यतिर्न तं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ १३ ॥

तहेव होले गोलित्ति साणे वा वसुलित्ति अ ।
दमए दूहए वा वि न तं भासिज्ज पण्णवं ॥ १४ ॥

छा० तथैव होल गोल इति, श्वा वा वसुल इति च ।
द्रमको दुर्भगश्चापि, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ १४ ॥

'तहेव०'—तथैव होलः—रे मूर्ख, हालिकः ! गोलः—जारजातः, देशाऽन्तररूढनैष्ठुर्यसम्बोधने होलाऽऽदि-शब्दाः, न वाच्याः । श्वानो वा वसुल इति वा छीनालः, द्रमको दुर्भगो वाऽपि नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ १४ ॥

स्त्रीपुरुषयोः सामान्येन भाषणप्रतिषेधं कृत्वा, अथ स्त्रियमधिकृत्याऽऽह—

अज्जिए पज्जिए वा वि अम्मो माउस्सिअत्ति अ ।
पिउस्सिए भाइणिज्जित्ति धूए नत्तुणित्ति अ ॥ १५ ॥

छा० आर्यिके प्रार्यिके वाऽपि, अम्ब मातृष्वसः ! इति च ।
पितृष्वसः ! भागिनेयीति, दुहितः ! नप्तः ! इति च ॥ १५ ॥

'अज्जिए०'—आर्यिके ! प्रार्यिके ! वाऽपि अम्ब ! मातृष्वसः ! इति च पितृष्वसः ! भागिनेयीति दुहितः ! नप्तृ इति च, एतानि स्त्र्यामन्त्रणवचनानि, तत्र मातुः पितुर्वा माता—आर्यिका, तस्या अपि याऽन्या माता सा प्रार्यिका, शेषाणि प्रकटार्थानि ॥ १५ ॥

हले हलित्ति अण्णत्ति भट्टे सामिणि गोमिणि ।
होले गोले वसुलित्ति इत्थिअं नेवमालवे ॥ १६ ॥

छा० हले हले इति, अन्ये इति, भट्टे स्वामिनि गोमिनि ।
होले गोले वसुले इति, स्त्रियं नैवमालपेत् ॥ १६ ॥

'हले०'—हले हले ! इत्येवम्, अन्ये ! इत्येवम्, तथा भट्टे ! स्वामिनि ! गोमिनि ! तथा होले ! गोले ! वसुले ! इत्येतान्यपि नानादेशाऽपेक्षयाऽऽमन्त्रणवचनानि गौरवकुत्साऽऽदिगर्भाणि वर्तन्ते, यतश्चैवमतः स्त्रियं नैवं होलादिशब्दैरालपेत्, दोषांश्चैवमालपनं कुर्वतः सङ्गगर्हातत्प्रद्वेषप्रवचनलाघवादयः ॥१६॥ कथं तर्ह्यालपेदित्याह—

नामधिज्जेण णं बूआ इत्थीगुत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ आलविज्ज लविज्ज वा ॥ १७ ॥

छा० नामधेयेन ब्रूयात्, स्त्रीगोत्रेण वा पुनः ।
यथार्हमभिगृह्य, आलपेल्लपेद्वा ॥ १७ ॥

'नामधिज्जेण०'—नामधेयेन 'णं' एवाऽर्थे नाम्नैव एनां ब्रूयात्, कचित् कारणे यथा देवदत्ते ! इत्येवमादि, नामाऽस्मरणे स्त्रीगोत्रेण वा पुनर्ब्रूयात्, यथा काश्यपगोत्रे ! इत्येवमादि, यथाऽर्हं—यथायोग्यं वयोदेशैश्वर्यजात्याद्यपेक्षया अभिगृह्य—गुणदोषानालोच्य आलपेत्, लपेद्वा, ईषत् सकृद्वा लपनमालपनम्, अतोऽन्यथा लपनम्, तत्र वयोवृद्धा मध्यदेशे 'ईश्वरा' 'धर्मप्रिया', अन्यत्रोच्यते—'धर्मशीला' इत्यादिना वा, अन्यथा यथा न लोकोपघातः ॥ १७ ॥ अथ पुरुषमाश्रित्याऽऽह—

अज्जए पज्जए वा वि बप्पा चुल्लपिउत्ति अ ।
माउला भाइणिज्जत्ति पुत्ते नत्तुणित्ति अ ॥ १८ ॥

छा० आर्यक प्रार्यक वाऽपि, बप्प चुल्लपितः ! इति च ।
मातुल भागिनेयेति, पुत्र नप्तः ! इति च ॥ १८ ॥

'अज्जए०'—आर्यक ! प्रार्यक ! इत्यादि, आर्यकः—पिता, पितामहश्च, प्रार्यकश्चापि प्रपितामहः प्रमातामहश्च, 'बप्पो'—पितेत्यर्थः, चुल्लपिउत्ति—चुल्लपिता इति, वा पितृव्यः, मातुल ! भागिनेय ! इति, पुत्र ! नप्तः ! इति च, नप्ता—पौत्रः प्रपौत्रो वा ॥ १८ ॥

हे हो हलित्ति अण्णित्ति भट्टा सामिअ गोमिअ ।
होल गोल वसुलित्ति पुरिसं नेवमालवे ॥ १९ ॥
छा० हे भो हलेति अन्येति, भट्ट, स्वामिन् गोमिन् ।
होल गोल वसुलेति, पुरुषं नैवमालपेत् ॥ १९ ॥

'हे हो०'–हे भो ! हल इति, अन्य ! इति, भर्तः ! स्वामिन् ! गोमिन् ! होल ! गोल ! वसुल ! इति पुरुषं नैवमालपेत् ॥ १९ ॥ यथा लपेत् तथाऽऽह—

नामधिज्जेण णं बूआ पुरिसगुत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ आलविज्ज लविज्ज वा ॥ २० ॥
छा० नामधेयेन ब्रूयात्, पुरुषगोत्रेण वा पुनः ।
यथार्हमभिगृह्य, आलपेल्लपेद्वा ॥ २० ॥

'नामधिज्जेण०'–पूर्ववत्, पुरुषाभिलापेन योजना कार्या, इति विशेषः ॥ २० ॥ अथ पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गतं वाग्विधिमाह—

पंचिंदिआण पाणाणं एस इत्थी अयं पुमं ।
जाव णं न विजाणिज्जा ताव जाइत्ति आलवे ॥ २१ ॥

छा० पञ्चेन्द्रियाणां प्राणिनाम्, एषा स्त्री, अयं पुमान्।
यावन्न विजानीयात्, तावज्जातिमित्यालपेत् ॥ २१ ॥

'पंचिंदिआण०'—'पञ्चेन्द्रियाणां प्राणिनां गवादीनां च विदूरदेशेऽवस्थितानां यथा-इयं स्त्री गौः, अयं पुमान् बलीवर्दः, यावदेतद् विशेषेण न जानीयात्, तावन्मार्गप्रश्नाऽऽदौ प्रयोजन उत्पन्ने सति 'जातिमिति'—जातिमाश्रित्याऽऽलपेत्, अस्मात्पशुगोलिकात् कियद्दूरे यथा इत्येवमादि, अन्यथा लिङ्गव्यत्ययसम्भवान्मृषावादाऽऽपत्तिः, गोपालादीनामपि विपरिणामः, इत्येवमादयो दोषाः, आक्षेपपरिहारौ वृद्धविवरणादवसेयौ, तच्चेदम्—'जइ लिंगवच्चए दोसो ता कीस पुढवाइणं नपुंसगत्ते वि पुरिसित्थिणिद्देसो पयट्टइ, जहा पत्थरो, मट्टिआ, करओ, उस्सा, मुम्मुरो, जाला, वाओ, वाउली, अंबओ, अंबिलिआ, किमिओ, जलूगा, मक्कोडओ, कीडिआ, इच्चेवमादि ?' आयरिओ आह—'जणवयसच्चेण ववहारसच्चेण य एवं पयट्टइत्ति णत्थि दोसो, पंचिंदिएसु पुण ण एअमंगीकीरइ, गोवालाईण वि ण सुदिट्ठधम्मात्ति विपरिणामसंभवाओ, पुच्छिअसामायारीकहणे वा' गुणसम्भवात् ॥ २१ ॥

तहेव मणुसं पसुं पक्खिं वा वि सरीसवं।
थूले पमेइले वज्झे पायमित्ति अ णो वए ॥ २२ ॥

छा० तथैव मानुषं पशुं, पक्षिणं वाऽपि सरीसृपम्।
स्थूलः प्रमेदुरो वध्यः, पाक्य इति च नो वदेत् ॥ २२ ॥

'तहेव०'—तथैव मनुष्यं, पशुमजाऽऽदिकं, पाक्षिणं वाऽपि हंसादिकं, सरीसृपम् अजगरादिकम्, स्थूलोऽत्यन्त-

मांसलोऽयं मनुष्यादिः, तथा प्रमेदुरः—प्रकर्षेण मेदःसम्पन्नः, वध्यः—व्यापादनीयः, पाक्य इति च न वदेत्, पाक्यः—पाकप्रयोग्यः, कालप्राप्त इत्यन्ये । न वदेत्, तदप्रीतिव्यापत्त्याशङ्कादिदोषप्रसङ्गात् ॥ २२ ॥ कारणे पुनरुत्पन्ने—एवं वदेदित्याह—

परिवूढत्ति णं बूआ, बूआ उवचिअत्ति अ ।
संजाए पीणिए वा वि महाकाइत्ति आलवे ॥ २३ ॥

छा० परिवृद्ध इत्येनं ब्रूयात्, ब्रूयादुपचित इति च ।
संजातः प्रीणितो वाऽपि, महाकाय इत्यालपेत् ॥ २३ ॥

'परिवूढ०'—परिवृद्ध इत्येनं स्थूलं मनुष्यादि ब्रूयात्, तथा ब्रूयादुपचित इति, संजातः प्रीणितश्चेति, महाकाय इति चाऽऽलपेत् परिवृद्धं, पलोपचितं परिहरेदित्यादौ ॥ २३ ॥

तहेव गाओ दुज्झाओ, दम्मा गोरहगत्ति अ ।
वाहिमा रहजोगत्ति, नेवं भासिज्ज पण्णवं ॥ २४ ॥

छा० तथैव गावो दोह्याः, दम्या गोरथका इति च ।
वाह्या रथयोग्या इति, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ २४ ॥

'तहेव०'—तथैव गावो दोह्याः—दोहाऽर्हाः, दम्याः—दमनयोग्या गोरथका इति च, गोरथकाः—कल्हो-

डका:, तथा वाह्याः सामान्येन ये केचित्तानाश्रित्य रथयोग्या इति नैवं भाषेत प्रज्ञावान्, अधिकरणलाघवादिदोषात् ॥ २४ ॥ प्रयोजने त्वेवं भाषेत—इत्याह—

जुवं गवित्ति णं बूआ धेणुं रसदइत्ति अ ।
रहस्से महल्लए वा वि वए संवहणित्ति अ ॥ २५ ॥

छा० **युवा गौरिति ब्रूयात्, धेनुं रसदेति च ।**
ह्रस्वं महल्लकं वाऽपि, वदेत् संवहनमिति च ॥ २५ ॥

'जुवं०'—युवा गौरिति दम्यं गां युवेति ब्रूयात्, धेनुं—गां रसदेति ब्रूयात्, तथा ह्रस्वं महल्लकं वाऽपि-गोरथकं ह्रस्वं वाह्यं महल्लकं वदेत्, संवहनमिति रथयोग्यं संवहनं वदेत्, क्वचिद् दिगुपलक्षणादौ प्रयोजने ॥ २५ ॥

तहेव गंतुमुज्जाणं पव्वयाणि वणाणि अ ।
रुक्खा महल्ल पेहाए नेवं भासिज्ज पण्णवं ॥ २६ ॥

छा० **तथैव गत्वोद्यानं, पर्वतान्वनानि च ।**
वृक्षान्महतः प्रेक्ष्य, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ २६ ॥

'तहेव०'—तथैव गत्वोद्यानं—जनक्रीडास्थानं तथा पर्वतान् गत्वा तथा वनानि च, तत्र वृक्षान् महतो महाप्रमाणान् प्रेक्ष्य नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ २६ ॥ कथमित्याह—

अलं पासायखंभाणं तोरणाण गिहाण य ।
फलिहग्गलनावाणं अलं उदगदोणिणं ॥ २७ ॥

छा० अलं प्रासादस्तम्भयोः, तोरणानां गृहाणां च ।
परिघार्गलानावाम्, अलमुदकद्रोणीनाम् ॥ २७ ॥

'अलं०'—अलं—समर्थाः प्रासादस्तम्भयोः, अत्र एकस्तम्भः प्रासादः, स्तम्भस्तु स्तम्भ एव, तोरणानां गृहाणां च, अलं सर्वत्र योज्यम्, परिघाऽर्गलानावाम्, तत्र नगरद्वारे परिघा, गोपुरकपाटादिष्वर्गला, नौः प्रतीता, आसामलमेते वृक्षाः, उदकद्रोणीनामलम्, उदकद्रोण्योऽरहट्टजलधारिकाः ॥ २७ ॥

पीढए[1] चंगबेरे अ नंगले मइअं सिआ ।
जंतलट्ठी व नाभी वा गंडिआ व अलं सिआ ॥ २८ ॥

छा० पीठकं चङ्गबेरं च, लाङ्गलं मयिकं स्यात् ।
यन्त्रयष्टिर्वा नाभिर्वा गण्डिका वाऽलं स्यात् ॥ २८ ॥

'पीढए०'—[सुपां सुपो भवन्तीति न्यायाच्चतुर्थ्यर्थे प्रथमा] पीठकाय—काष्ठासनाय, चंगबेराय (चंगबेरः)- काष्ठपात्री, तथा लाङ्गलाय—हलाय, मयिकाय—उप्तबीजाच्छादनाय, यन्त्रयष्टये वा यन्त्रयष्टिः प्रसिद्धा, नाभये वा-

१ चतुर्थ्यर्थे प्रथमा—एवं सर्वेषु पदेषु ।

नाभिः—शकटतुम्बं—चक्रं तस्मै, गण्डिकायै वा अलं स्युरेते वृक्षा इति, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् इति वर्तते, गण्डिका—सुवर्णकाराणामधिकरणी—स्थापनी भवतीति ॥ २८ ॥

आसणं सयणं जाणं हुज्जा वा किंचुवस्सए ।
भूओवघाइणिं भासं नेवं भासिज्ज पण्णवं ॥ २९ ॥

छा० आसनं शयनं यानं, भवेद्वा किञ्चिदुपाश्रये ।
भूतोपघातिनीं भाषां नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ २९ ॥

'आसणं०'—आसनमासन्दकादि, शंयनं पर्यङ्कादि, यानं वाहनादि, भवेद्वा किञ्चिदुपाश्रये—वसतौ द्वारकपाटादि—एतेषु—वृक्षेषु, इति भूतोपघातिनीं भाषां नैवं भाषेत प्रज्ञावान् । दोषांश्चात्र तद्वनस्वामी कुप्येद् व्यन्तरादिः, सलक्षणो वा वृक्ष इति गृह्णीयात्, अनियामितभाषिणो लाघवञ्चेत्येवमादयो योज्याः ॥ २९ ॥ अत्रैव विधिमाह—

तहेव गंतुमुज्जाणं पव्वयाणि वणाणि अ ।
रुक्खा महल्ल पेहाए एवं भासिज्ज पण्णवं ॥ ३० ॥

छा० तथैव गत्वोद्यानं, पर्वतान्वनानि च ।
वृक्षान्महतः प्रेक्ष्य, एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ ३० ॥

'तहेव०'—तथैव गत्वोद्यानं पर्वतान् वनानि च, तत्र वृक्षान् महाप्रमाणान् वीक्ष्य एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ ३० ॥

जाइमंता इमे रुक्खा दीहवट्टा महालया ।
पयायसाला विडिमा वए दरिसणित्ति अ ॥ ३१ ॥

छा० **जातिमन्त इमे वृक्षाः, दीर्घवृत्ता महालयाः ।**
प्रजातशाखा विटपिनः, वदेद्दर्शनीया इति च ॥ ३१ ॥

'जाइमंता०'—जातिमन्तः—उत्तमजातयोऽशोकादयोऽनेकप्रकारा एत उपलभ्यमानस्वरूपा वृक्षाः, 'दीर्घवृत्ता महालयाः'—दीर्घा नालिकेरीप्रभृतयः, वृत्ता नन्दिवृक्षादयः, महालया वटादयः, प्रजातशाखाः—उत्पन्नडालाः, विटपिनः—प्रशाखावन्तः, वदेद् दर्शनीया इति च, एतदपि प्रयोजन उत्पन्ने विश्रमणतया वाऽऽसन्नमार्गकथनादौ वदेन्नाऽन्यदेति ॥ ३१ ॥

तहा फलाइं पक्काइं पायखज्जाइं णो वए ।
वेलोइआइं टालाइं वेहिमाइत्ति णो वए ॥ ३२ ॥

छा० **तथा फलानि पक्कानि, पाकखाद्यानि नो वदेत् ।**
वेलोचितानि टालानि, द्वैधिकानीति नो वदेत् ॥ ३२ ॥

'तहा फलाइं०'—तथा फलानि—आम्रफलादीनि पक्कानि—पाकप्राप्तानि, पाकखाद्यानि—बद्धाऽस्थीनीति, गर्तप्रक्षेपकोद्रवपलालादिना विपाच्य भक्षणयोग्यानीति नो वदेत्, तथा वेलोचितानि—पाकाऽतिशयतो ग्रहणकालोचितानि, अतःपरं न कालं विषहन्त इत्यर्थः, टालानि-अबद्धास्थीनि—अद्यापि कोमलानि, द्वैधिकानि इति पेशीसम्पा-

दनेन द्वैधीभावकरणयोग्यानि चेति नो वदेत्, दोषाः पुनरत्र—अत ऊर्द्ध्वं नाश एवाऽमीषां, न शोभनानि वा प्रका-रान्तरभोगेन—इत्यवधार्य गृहिप्रवृत्तावधिकरणादयः ॥ ३२ ॥ प्रयोजने पुनर्मार्गदर्शनादौ—एवंवदेदित्याह——

असंथडा इमे अंबा बहु निव्वट्टिमा फला ।
वइज्ज बहुसंभूआ भूअरूवित्ति वा पुणो ॥ ३३ ॥

छा० असमर्था इमे आम्राः, बहुनिर्वर्तितफलाः ।
वदेद्बहुसंभूताः, भूतरूपा इति वा पुनः ॥ ३३ ॥

'असंथडा०'——असमर्था एते आम्राः, अतिभरेण न शक्नुवन्ति फलानि धारयितुमित्यर्थः, आम्रग्रहणं प्रधानवृक्षोपलक्षणम्, एतेन पक्काऽर्थ उक्तः, बहुनिर्वर्तितफलाः—बहूनि निर्वर्तितानि बद्धाऽस्थीनि फलानि येषु ते बहुनिर्वर्तितफलाः, अनेन पाकखाद्याऽर्थ उक्तः, वदेत्—'बहुसम्भूताः'—बहूनि सम्भूतानि पाकाऽतिशयतो ग्रहण-कालोचितानि फलानि येषु ते तथा, अनेन वेलोचिताऽर्थ उक्तः, तथा भूतरूपा इति वा पुनर्वदेत्, भूतानि रूपाणि—अबद्धाऽस्थीनि कोमलफलरूपाणि येषु ते तथा, अनेन टालाद्यर्थ उपलक्षितः ॥ ३३ ॥

तहेवोसहिओ पक्काओ नीलिआओ छवीइ अ ।
लाइमा भज्जिमाउत्ति पिहुखज्जत्ति णो वए ॥ ३४ ॥

छा० तथैवौषधयः पक्वाः, नीलिकाश्छवय इति च ।
लवनीया भर्जनीया इति, पृथुकखाद्या इति नो वदेत् ॥ ३४ ॥

'तहेवो०'–तथैवौषधयः शाल्यादिरूपाः पक्का इति, नीलाश्छवय इति वा वल्लचवलकादिफललक्षणाः, तथा लवनवत्यः–लवनयोग्याः, भर्जनवत्यः–भर्जनयोग्याः, पृथुकभक्ष्या इति नो वदेत्–बालकभक्षणयोग्या इति न कथयेत् ॥ ३४ ॥ प्रयोजने पुनर्मार्गदर्शनादावेवमालपेदित्याह–

रूढा बहुसंभूआ थिरा ऊसढा वि अ ।
गब्भिआओ पसूआओ ससाराउत्ति आलवे ॥ ३५ ॥

छा० **रूढा बहुसम्भूताः, स्थिरा उत्सृता अपि च ।**
गर्भिताः प्रसूताः, ससारा इत्यालपेत् ॥ ३५ ॥

'रूढा०'–रूढाः स्मेति रूढाः–प्रादुर्भूताः, बहुसम्भूताः–निष्पन्नप्रायाः, स्थिराः–निष्पन्नाः, उत्सृता इति उपघातेभ्यो निर्गता इति वा, गर्भिताः–अनिर्गतशीर्षकाः, प्रसूताः–निर्गतशीर्षकाः, ससाराः–संजाततन्दुलाऽऽदिसाराः, इत्येवमादि लपेत् पक्काऽऽर्थाद्यर्थयोजना स्वधिया कार्या ॥ ३५ ॥ वाग्विधिप्रतिषेधाऽधिकारेऽनुवर्तमान इदमपरमाह–

तहेव संखडिं नच्चा किच्चं कज्जं ति णो वए ।
तेणगं वा वि वज्झित्ति सुतित्थित्ति अ आवगा ॥ ३६ ॥

छा० **तथैव संखडीं ज्ञात्वा, कृत्यं कार्यमिति नो वदेत् ।**
स्तेनकं वाऽपि वध्य इति, सुतीर्था इति चाऽऽपगाः ॥ ३६ ॥

'तहेव०'–तथैव संखडीं ज्ञात्वा–संखण्डयन्ते प्राणिनामायुंषि यस्यां सा संखडी तां ज्ञात्वा, करणीयेति

पित्रादिनिमित्तं कृत्यैवैषेति नो वदेत्, मिथ्यात्वोपबृंहणदोषात्, तथा स्तेनकं वापि वध्य इति नो वदेत्, तदनुमतत्वेन निश्चयादि-दोषप्रसङ्गात्, सुतीर्था इति च, 'च'—शब्दाद् दुस्तीर्था इति वा, आपगाः—नद्यः केनचित्पृष्टः सन् न वदेत्, अधिकरणविघातादिदोषप्रसङ्गात् ॥ ३६ ॥ प्रयोजन एवं वदेदित्याह—

संखडिं संखडिं बूआ पणिअट्ठित्ति तेणगं ।
बहुसमाणि तित्थाणि आवगाणं विआगरे ॥ ३७ ॥

छा० संखडीं संखडीं ब्रूयात्, पणितार्थ इति स्तेनकम् ।
बहुसमानि तीर्थानि, आपगानां व्यागृणीयात् ॥ ३७ ॥

'संखडिं०'—संखडीं संखडीं ब्रूयात् साधुकथनादौ सङ्कीर्णा संखडीत्येवमादि, पणितोऽर्थ इति स्तेनकं वदेत्, शिक्षकादिकर्मविपाकदर्शनादौ पणितेनाऽर्थोऽस्येति पणिताऽर्थः, प्राण(पण)द्यूतप्रयोजन इत्यर्थः, बहुसमानि तीर्थान्यापगानां—नदीनां व्यागृणीयात्साध्वादिविषये ॥ ३७ ॥ अत्रैवाऽधिकारे चेदमाह—

तहा नईओ पुण्णाओ कायतिज्जत्ति णो वए ।
नावाहिं तारिमाउत्ति पाणिपिज्जत्ति णो वए ॥ ३८ ॥

छा० तथा नद्यः पूर्णाः, कायतार्या इति नो वदेत् ।
नौभिस्तरणीया इति, प्राणिपेया इति नो वदेत् ॥ ३८ ॥

'तहा०'—तथा नद्यः पूर्णा भृता इति नो वदेत्, प्रवृत्तश्रमणनिवर्तनादिदोषात्, कायतरणीयाः—शरीर-

तरणयोग्या इत्येवं नो वदेत्, साधुवचनतोऽविघ्न इति प्रवर्तनादिदोषप्रसङ्गात्, तथा नौभिस्तरणयोग्या इत्येवं नो वदेत्, प्राणिपेयाः—तटस्थप्राणिपेया इति नो वदेत्, तथैव प्रवर्तनादिदोषात् ॥३८॥ साधुमार्गकथनादावेवं वदेदित्याह—

बहुवाहडा अगाहा बहुसलिलुप्पिलोदगा ।
बहुवित्थडोदगा या वि एवं भासिज्ज पण्णवं ॥ ३९ ॥

छा० बहुभृता अगाधाः, बहुसलिलोत्पीडोदकाः ।
बहुविस्तृतोदकाश्चाऽपि, एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ ३९ ॥

'बहु०'—बहुभृताः—प्रायशो भृताः, अगाधाश्च—प्रायो गम्भीराः, बहुसलीलोत्पीलोदकाः—बहुसलिलानामुत्पीलं— पश्चादुद्वलमुदकं यासां ता बहुसलिलोत्पीलोदकाः, पश्चान्मुखं वाहिताः परनद्य इत्यर्थः । बहुविस्तीर्णोदकाश्च—स्वतीरप्लावनप्रवृत्तजलाश्च, एवं भाषेत प्रज्ञावान्, न तु तदागतपृष्टो न वेद्मि—अहमिति ब्रूयात्, प्रत्यक्षमृषावादित्वेन तत्प्रद्वेषादिदोषप्रसङ्गात् ॥ ३९ ॥ वाग्विधिप्रतिषेधाऽधिकार एवेदमाह—

तहेव सावज्जं जोगं परस्सट्ठाए णिट्ठिअं ।
कीरमाणं ति वा नच्चा सावज्जं न लवे मुणी ॥ ४० ॥

छा० तथैव सावद्यं योगं, परस्यार्थाय निष्ठितम् ।
क्रियमाणमिति वा ज्ञात्वा, सावद्यं नालपेन्मुनिः ॥ ४० ॥

'तहेव०'–तथैव सावद्यं योगं–व्यापारं परस्यार्थाय–परनिमित्तं निष्ठितं, तथा क्रियमाणं वा–वर्तमानं, 'वा'–शब्दाद् भविष्यत्काले भाविनं वा ज्ञात्वा सावद्यं नालपेन्मुनिः ॥ ४० ॥ तत्र निष्ठितं नैवं ब्रूयादित्याह—

सुकडित्ति सुपक्कित्ति सुछिण्णे सुहडे मडे ।
सुणिट्ठिए सुलट्ठित्ति सावज्जं वज्जए मुणी ॥ ४१ ॥

छा० **सुकृतमिति सुपक्वमिति, सुच्छिन्नं सुहृतं मृतः(तम्) ।**
सुनिष्ठितं सुलष्टेति, सावद्यं वर्जयेन्मुनिः ॥ ४१ ॥

'सुकडित्ति०'–सुकृतमिति–सुष्ठु कृतं सभादि, सुपक्वमिति–सहस्रपाकादि, सुच्छिन्नमिति वनादि, सुहृतमिति–क्षुद्रस्य चि(वि)त्तम्, सुमृतः प्रत्यनीकः, सुरत्राऽप्यनुवर्तते, सुनिष्ठितमिति वित्ताऽभिमानिनां वित्तम्, सुलष्टेति सुन्दरी कन्या, एवं साऽवद्यं वर्जयेन्मुनिः, अनुमत्यादिदोषप्रसङ्गात्, निरवद्यं तु न वर्जयेत्, यथा–सुकृतमिति–सुकृतमनेन वैय्यावृत्यादि, सुपक्वं ब्रह्मचर्यं साधोः, सुच्छिन्नं स्नेहबन्धनमनेन, सुहृतमुपकरणम् उपसर्गे, सुमृतः पण्डितमरणेन, सुनिष्ठितं कर्म अप्रमत्तसाधोः, सुलष्टा क्रिया ते, इत्येवमादीनि असावद्यानि ब्रूयात् ॥ ४१ ॥ उक्ताऽनुक्ताऽपवादविधिमाह—

पयत्तपक्कित्ति अ पक्कमालवे ।
पयत्तछिण्णत्ति अ छिण्णमालवे ॥

पयत्तलट्ठित्ति व कम्महेउअं ।
पहारगाढित्ति व गाढमालवे ॥ ४२ ॥

छा० प्रयत्नपक्कमिति च पक्कमालपेत् ।
प्रयत्नच्छिन्नमिति च छिन्नमालपेत् ॥
प्रयत्नलष्टेति वा कर्महेतुकम् ।
प्रहारगाढमिति वा गाढमालपेत् ॥ ४२ ॥

'पयत्त०'—प्रयत्नपक्कमेतत् पक्कं सहस्रपाकादि ग्लानप्रयोजने एवमालपेत्, प्रयत्नाच्छिन्नमिति वा छिन्नमालपेत्, प्रयत्नच्छिन्नं व्रणा(वना)ऽऽदि, प्रयत्नलष्टेति वा प्रयत्नसुन्दरी कन्या दीक्षिता सती सम्यक् पालनीया, कर्महेतुकमिति सर्वमेव कृताऽऽदि कर्मनिमित्तमालपेत्, गाढप्रहारमिति वा गाढमालपेत्—गाढप्रहारं ब्रूयात् क्वचित्प्रयोजने, एवं हि तदप्रीत्यादयो दोषाः परिहृताः स्युः ॥ ४२ ॥ व्यवहारे केनाऽपि पृष्टोऽपृष्टो वा नैवं वदेदित्याह—

सव्वुक्कसं परग्घं वा अउलं णत्थि एरिसं ।
अविक्किअमवत्तव्वं अचिअत्तं चेव णो वए ॥ ४३ ॥

छा० सर्वोत्कर्षं परार्घं वा, अतुलं नास्तीदृशम् ।
अविकृतमवक्तव्यम्, अप्रीतिकरं चैव नो वदेत् ॥ ४३ ॥

'सव्वुक्कसं०'—सर्वोत्कृष्टमिदं स्वभावेन सुन्दरमित्यर्थः, पराऽर्घं वा उत्तमाऽर्घं वा महाऽर्घं क्रीतमिति भावः, अतुलं—नाऽस्तीदृशमन्यत्राऽपि क्वचित्, 'अविक्किएत्ति'—असंस्कृतं सुलभमीदृशं सर्वत्रा[1]ऽपि, अवक्तव्यम्—अनन्तगुणमेतत्, 'अचियत्तं' वा—अप्रीतिकरं चैतदिति नो वदेत्, अधिकरणाऽन्तरायाऽऽदिदोषप्रसङ्गात् ॥ ४३ ॥

सव्वमेअं वइस्सामि सव्वमेअं ति णो वए।
अणुवीअ सव्वं सव्वत्थ एवं भासिज्ज पण्णवं ॥ ४४ ॥

छा० **सर्वमेतद्वदिष्यामि, सर्वमेतादिति नो वदेत्।**
अनुविविच्य सर्वं सर्वत्र, एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ ४४ ॥

'सव्वमेअं०'—'सर्वमेतत्सन्देशाऽऽदिकं कथयेः साधोः' इति परेण सान्दिष्टे सर्वमेतद्वक्ष्यामीति नो वदेत्, सर्वस्य स्वरव्यञ्जनाद्युपेतस्य वक्तुमशक्यत्वात्, सर्वमेतादित्येवं वक्तव्यमिति नो वदेत्, सर्वस्य स्वरादियुक्तस्य वक्तुमशक्यत्वात्, (असंभवाऽभिधाने मृषावादः), अतः—'अणुवीअ'—'अनुविचिन्त्य सर्वं वाच्यं सर्वत्र—कार्येषु यथाऽसम्भवाऽभिधानादिना मृषावादो न भवत्येवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ ४४ ॥ किञ्च—

सुक्कीअं वा सुविक्कीअं अकिज्जं किज्जमेव वा।
इमं गिण्ह इमं मुंच पणिअं णो विआगरे ॥ ४५ ॥

---

१ 'अन्यत्राऽपि' इति पाठान्तरम्।

छा० सुक्रीतं वा सुविक्रीतम्, अक्रेयं क्रेयमेव वा ।
इदं गृहाणेदं मुञ्च, पणितं नो व्यागृणीयात् ॥ ४५ ॥

'सुक्कीयं०'—सुक्रीतं वेति किञ्चित् केनचित् क्रीतं दर्शितं सत् क्रीतमिति न व्यागृणीयात्, सुविक्रीतमिति न व्यागृणीयात्, अक्रेयं क्रेयमेव वा, इदं पण्यं गृहाण—महर्घ्यं भविष्यति, इदं मुञ्च समर्घ्यं भावीति पणितं—पण्यं न व्यागृणीयात्, अप्रीत्यधिकरणादिदोषप्रसङ्गात् ॥ ४५ ॥

अप्पग्घे वा महग्घे वा कए वा विक्कए वि वा ।
पणिअट्ठे समुप्पण्णे अणवज्जं विआगरे ॥ ४६ ॥

छा० अल्पार्घे वा महार्घे वा, क्रये वा विक्रयेऽपि वा ।
पणितार्थे समुत्पन्ने, अनवद्यं व्यागृणीयात् ॥ ४६ ॥

'अप्पग्घे०'—अल्पाऽर्घे वा महाऽर्घे वा, कस्मिन्नित्याह, क्रये वा विक्रयेऽपि वा, पणिताऽर्थे—पण्यवस्तुनि समुत्पन्ने केनचित्पृष्टः सन्, अनवद्यं व्यागृणीयात्, यथा—नाऽधिकारोऽत्र तपस्विनो व्यापाराऽभावात् ॥ ४६ ॥

तहेवासंजयं धीरो आस एहि करेहि वा ।
सय चिट्ठ वयाहित्ति नेवं भासिज्ज पण्णवं ॥ ४७ ॥

छा० तथैवाऽसंयतं धीरः, आस्स्वैहि कुरु वा ।
शेष्व तिष्ठ व्रजेति, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ ४७ ॥

'तहेवा०'—तथैवाऽसंयतं प्रति धीरः—संयतः—आस्स्व इहैव, एहि इतोऽत्र, कुरु वेदं सञ्चयादि, शेष्व निद्रया, तिष्ठोर्द्धस्थानेन, व्रज ग्राममिति, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ ४७ ॥

बहवे इमे असाहू लोए वुच्चंति साहुणो ।
न लवे असाहुं साहुत्ति साहुं साहुत्ति आलवे ॥ ४८ ॥

छा० **बहव इमेऽसाधवः, लोके उच्यन्ते साधवः ।**
न लपेदसाधुं साधुरिति, साधुं साधुरित्यालपेत् ॥ ४८ ॥

'बहवे०'—बहव एते उपलभ्यमानस्वरूपा आजीवकादयोऽसाधवो निर्वाणसाधकयोगाऽपेक्षया, लोकेऽत्र प्राणिसंघाते उच्यन्ते साधवः, सामान्येन तत्र नाऽऽसपेद् असाधुं साधुं, मृषावादप्रसङ्गात्, अपि तु साधुं साधुमालपेत्, न तु तमपि नाऽऽलपेत्, उपबृंहणाऽतिचारदोषप्रसङ्गात् ॥ ४८ ॥ किंविशिष्टं साधुं साधुमालपेदित्याह—

नाणदंसणसंपण्णं संजमे अ तवे रयं ।
एवंगुणसमाउत्तं संजयं साहुमालवे ॥ ४९ ॥

छा० **ज्ञानदर्शनसम्पन्नं, संयमे च तपसि रतम् ।**
एवंगुणसमायुक्तं, संयतं साधुमालपेत् ॥ ४९ ॥

'नाण०'—ज्ञानदर्शनसम्पन्नं संयमे तपसि च रतम्—एवंगुणसमायुक्तं संयतं साधुमालपेत् ॥ ४९ ॥

देवाणं मणुआणं च तिरिआणं च विग्गहे ।
अमुआणं जओ होउ मा वा होउत्ति णो वए ॥ ५० ॥

छा० देवानां मनुजानाञ्च, तिरश्चां च विग्रहे ।
अमुकेषां जयो भवतु, मा वा भवतु, इति नो वदेत् ॥ ५० ॥

'देवाणं०'—देवानां मनुजानाञ्च तिरश्चां च—महिष्यादीनां विग्रहे—संग्रामे साति 'अमुकानां (अमुकेषां) देवादीनां जयो भवतु' इति नो वदेत्, अधिकरणतत्स्वाम्यादिद्वेषदोषप्रसङ्गात् ॥ ५० ॥ किञ्च—

वाओ वुट्ठं च सीउण्हं खेमं धायं सिवं ति वा ।
कयाणु हुज्ज एआणि मा वा होउत्ति णो वए ॥ ५१ ॥

छा० वातो वृष्टं च शीतोष्णं, क्षेमं ध्रातं शिवमिति वा ।
कदानु भवेयुरेतानि, मा वा भवेयुरिति नो वदेत् ॥ ५१ ॥

'वाओ०'—वातः—मलयमारुतादिः, वृष्टं वा—वर्षणं, शीतोष्णं, क्षेमं—राजविड्वरशून्यं, ध्रातं—सुभिक्षं, शिवमिति वा—उपसर्गरहितं, कदानु भवेयुरेतानि वातादीनि, मा वा भवेयुरिति नो वदेद् घर्माद्यभिभूतः, अधिकरणादिदोषप्रसङ्गात्, वातादिषु सत्सु सत्त्वपीडाऽऽपत्तेः, तद्वचनतस्तथाऽऽसेवनेऽप्यार्तध्यानभावादिति ॥ ५१ ॥

१ 'तदुक्तेस्तथाऽभवनेऽप्यार्तध्यानात्' इति द्वितीयप्रतिस्थपाठः ।

तहेव मेहं व णहं व माणवं ।
न देव देवत्ति गिरं वइज्जा ॥
समुच्छिए उण्णए वा पओए ।
वइज्ज वा वुट्ठे बलाहइत्ति ॥ ५२ ॥

छा० तथैव मेघं वा नभो वा मानवं ।
न देव देव इति गिरं वदेत् ॥
सम्मूर्छित उन्नतो वा पयोदः ।
वदेद्वा वृष्टो बलाहक इति ॥ ५२ ॥

'तहेव०'–तथैव मेघं वा नभो वा मानवं वा आश्रित्य नो देव देव इति गिरं वदेत्, मिथ्यावादलाघवादिदोषप्रसङ्गात् । कथं वदेदित्याह– उन्नतं दृष्ट्वा 'संमूर्च्छित उन्नतो वा पयोदः', वदेद्वा–वृष्टो बलाहक इति ॥ ५२ ॥

नभ आश्रित्याह–

अंतलिक्खात्ति णं बूआ गुज्झाणुचरिअत्ति अ ।
रिद्धिमंतं नरं दिस्स रिद्धिमंतं ति आलवे ॥ ५३ ॥

छा० अन्तरिक्षमिति ब्रूयात्, गुह्यानुचरितमिति च ।
ऋद्धिमन्तं नरं दृष्ट्वा, ऋद्धिमन्तमित्यालपेत् ॥ ५३ ॥

'अंतलिक्ख०'—अन्तरिक्ष इति ब्रूयात्, गुह्याऽनुचरितमिति वा, सुरसेवितमित्यर्थः, ऋद्धिमन्तं—सम्पदुपेतं नरं दृष्ट्वा ऋद्धिमन्तमित्यालपेत् ॥ ५३ ॥

तहेव सावज्जणुमोइणी गिरा ।
ओहारिणी जा य परोवघाइणी ॥
से कोह लोह भयसा व माणवो ।
न हासमाणो वि गिरं वइज्जा ॥ ५४ ॥

छा० तथैव सावद्याऽनुमोदिनी गीः ।
अवधारिणी या च परोपघातिनी ॥
तां क्रोधाल्लोभाद्भयाद्वा मानवः ।
न हसन्नपि गिरं वदेत् ॥ ५४ ॥

'तहेव०'—तथैव सावद्याऽनुमोदिनी गीः—वाक्, यथा—सुष्ठु हतो ग्राम इति, अवधारिणी—इदमित्थमेवेति, या च परोपघातिनी, यथा—मांसमदोषाय सेव्यताम्, एवम्भूतां क्रोधाल्लोभाद् भयाद्धासाद्वा, मानप्रेमादीनामुपलक्षणमेतत्, मानवः—साधुर्न हसन्नपि गिरं वदेत्, प्रभूतकर्मबन्धहेतुत्वात् ॥ ५४ ॥ वाक्यशुद्धिफलमाह—

सवक्कसुद्धिं समुपेहिआ मुणी ।
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया ॥
मिअं अदुट्ठं अणुवीअ भासए ।
सयाणमज्झे लहइ पसंसणं ॥ ५५ ॥

छा० सद्वा(स्ववा)क्यशुद्धिं सम्प्रेक्ष्य मुनिः ।
गिरं च दुष्टां परिवर्जयेत्सदा ॥
मितमदुष्टमनुविविच्य भाषकः ।
सतां मध्ये लभते प्रशंसनम् ॥ ५५ ॥

'सवक्कसुद्धिं०'–सद्वाक्यशुद्धिं स्ववाक्यशुद्धिं सवाक्यशुद्धिं वा, सतीं–शोभनां, स्वामात्मीयां, स इति वक्ता, वाक्यशुद्धिं सम्प्रेक्ष्य मुनिः, 'गिरं तु दुष्टां परिवर्जयेत्सदा', मितामदुष्टामनुचिन्त्य भाषमाणः सन् सतां–साधूनां मध्ये लभते प्रशंसनम् ॥ ५५ ॥

भासाइ दोसे अ गुणे अ जाणिआ ।
तीसे अ दुट्ठे परिवज्जए सया ॥
छसु संजए सामणिए सया जए ।
वइज्ज बुद्धे हिअमाणुलोमिअं ॥ ५६ ॥

छा० भाषाया दोषाँश्च गुणाँश्च ज्ञात्वा ।
तस्याश्च दुष्टान्परिवर्जयेत्सदा ॥
षट्सु संयतः श्रामण्ये सदा यतः ।
वदेद्बुद्धो हितमानुलोमिकम् ॥ ५६ ॥

'भासाइ०'–अतो भाषाया दोषांश्च गुणांश्च ज्ञात्वा तस्याश्च दुष्टाया भाषायाः परिवर्जकः सदा एवम्भूतः षट्सु जीवनिकायेषु संयतः, श्रामण्ये–श्रमणभावे (सदा यतः सन्, हितं–) चरणपरिणामसुन्दरम्, आनुलोमं–मनोहारि वदेत् ॥ ५६ ॥ उपसंहरन्नाह—

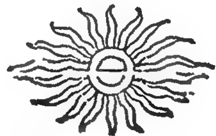
परिक्खभासी सुसमाहिइंदिए ।
चउक्कसायावगए अणिस्सिए ॥
स णिद्धुणे धुण्णमलं पुरेकडं ।
आराहए लोगमिणं तहा परं ॥ ५७ ॥ त्ति बेमि ।

छा० परीक्ष्यभाषी सुसमाहितेन्द्रियः ।
चतुष्कषायापगतोऽनिश्रितः ॥
स निर्धुनुयात्(निर्धूय) धुतमलं पुराकृतम् ।
आराधयेल्लोकमिमं तथा परम् ॥ ५७ ॥ इति ब्रवीमि ।

'परिक्ख०'—परीक्ष्यभाषी सुसमाहितेन्द्रियः, अपगतचतुष्कषायः, क्रोधादिनिरोधकर्तैतिभावः, अनिश्रितः—निश्रारहितः, स इत्थम्भूतो निर्धूय—प्रस्फोट्य धूनमलं—पापमलं पुराकृतम्, आराधयति लोकमेनं—मनुष्यलोकम्, तथा परम्—परलोकमाराधयति—निर्वाणं प्रगुणीकरोति। ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥५७॥ इति वाक्यशुद्ध्यध्ययनस्य सप्तमस्याऽवचूरिः।

॥ वक्कसुद्धि अज्झयणं सत्तमं ॥

॥ इति वाक्यशुद्ध्यध्ययनं सप्तमम् ॥



॥ अथाऽष्टमाध्ययनम् ॥

अनन्तराऽध्ययने साधुना निरवद्यवचसा वक्तव्यमित्युक्तम्, इह तु तन्निरवद्यं वच आचारे प्रणिहितस्य भवतीति तत्र यत्नवता भवितव्यमित्येतदुच्यते, उक्तञ्च—

“ पणिहाणरहिअस्सेह, निरवज्ज पि भासिअं ।
सावज्जतुल्लं विण्णेअं, अज्झत्थेणेह संवुडं ” ॥ १ ॥

इत्यनेन सम्बन्धेनाऽऽयातमिदमध्ययनम् ।

आयारप्पणिहिं लद्धुं जहा कायव्व भिक्खुणा ।
तं भे उदाहरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे ॥ १ ॥

छा० **आचारप्रणिधिं लब्ध्वा, यथा कर्तव्यं भिक्षुणा ।**
तं भवद्भ्य उदाहरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मत् ॥ १ ॥

‘आयार०’—आचारस्य प्रकृष्टो निधिः--प्रणिधिः, तं लब्ध्वा यथा येन प्रकारेण कर्तव्यं विहिताऽनुष्ठानं भिक्षुणा, तं प्रकारं भे—भवद्भ्य उदाहरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत ममेति गौतमादयः स्वशिष्यानाहुः ॥ १ ॥ तं प्रकारमाह—

पुढवी–दग–अगणि–मारुअ–तण–रुक्ख सबीअगा ।
तसा य पाणा जीवत्ति इअं[1] वुत्तं महेसिणा ॥ २ ॥

छा० पृथ्व्युदकाऽग्निमारुततृणवृक्षाः सबीजकाः ।
त्रसाश्च प्राणिनो जीवा इति, इत्युक्तं महर्षिणा ॥ २ ॥

'पुढवी०'–पृथिव्युदकाऽग्निवायुतृणवृक्षसबीजाः, त्रसाश्च प्राणिनो जीवा इत्युक्तं महर्षिणा–वर्द्धमानेन ॥२॥ यतश्चैवमतः—

तेसिं अच्छणजोएण निच्चं होअव्वअं सिआ ।
मणसा काय वक्केण एवं भवइ संजए ॥ ३ ॥

छा० तेषामक्षणयोगेन, नित्यं भवितव्यं स्यात् ।
मनसा कायेन वाक्येन, एवं भवति संयतः ॥ ३ ॥

'तेसिं०'–तेषां पृथिव्यादीनामक्षणयोगेन–अहिंसाव्यापारेण नित्यं भवितव्यं स्याद् भिक्षुणा मनसा कायेन वाक्येन, एभिः करणैरित्यर्थः, एवं वर्तमानः संयतो भवति नाऽन्यः ॥ ३ ॥ षड्जीवस्वरूपं[2] सामान्येनाऽभिधाय विशेषेणाऽऽह—

१ 'इतेः इय वाक्यारम्भे' अस्मात्सूत्रात् 'इइ' इति स्थाने 'इअ' इति भवति ।
२ 'षड्जीवनिकायाऽहिंसया संयतत्वमभिधायाऽधुना तद्गतविधीन्विधानतो विशेषेणाह' इत्यपि प्रत्यन्तरे ।

पुढवीं भित्तिं सिलं लेलुं नेव भिंदे न संलिहे ।
तिविहेण करणजोएण संजए सुसमाहिए ॥ ४ ॥

छा० पृथ्वीं भित्तिं शिलां लेष्टुं, नैव भिन्द्यान्न संलिखेत् ।
त्रिविधेन करणयोगेन, संयतः सुसमाहितः ॥ ४ ॥

'पुढवीं०'—पृथिवीं भित्तिं शिलां लेष्टुं नैव भिन्द्यात्, न संलिखेत् त्रिविधेन करणयोगेन संयतः सुसमाहितः ॥ ४ ॥

सुद्धपुढवीं न निसीए ससरक्खम्मि अ आसणे ।
पमज्जित्तु निसीइज्जा जाइत्ता जस्स उग्गहं ॥ ५ ॥

छा० शुद्धपृथ्व्यां न निषीदेत्, सरजस्के चाऽऽसने ।
प्रमार्ज्य निषीदेत्, याचित्वा यस्याऽवग्रहम् ॥ ५ ॥

'सुद्धपुढवीं०'—शुद्धपृथिव्यामशस्त्रोपहतायां न निषीदेत्, निषीदनग्रहणात् स्थानत्वग्वर्तनपरिग्रहः, सरजस्के वा (च) आसने—पीठकादौ, अचेतनायां तु प्रमृज्य तां रजोहरणेन निषीदेत्, याचयित्वा यस्याऽवग्रहम् ॥ ५ ॥
अप्काये विधिमाह—

सीओदगं न सेविज्जा सिलावुट्ठं हिमाणि अ ।
उसिणोदगं तत्तफासुअं पडिगाहिज्ज संजए ॥ ६ ॥

छा० शीतोदकं न सेवेत, शिलावृष्टं हिमानि च ।
उष्णोदकं तप्तप्राशुकं, प्रतिगृह्णीयात् संयतः ॥ ६ ॥

'सीओदगं०'—शीतोदकं—पृथिव्युद्भवं साचित्तोदकं न सेवेत, शिलावृष्टं हिमानि च—शिलाः—करकाः, वृष्ट—वर्षणम्, हिमं प्रतीतम्, यद्येवं कथमयं वर्तेत ? इत्याह—उष्णोदकं—क्वथितोदकं, तप्तप्रासुकं—त्रिदण्डोद्वृत्तं, नोष्णोदकमात्रं, परिगृह्णीयात्—वृत्त्यर्थं संयतः, एतच्च सौवीराद्युपलक्षणमिति ॥ ६ ॥

उदउल्लं अप्पणो कायं नेव पुंछे न संलिहे ।
समुप्पेह तहाभूअं णो णं संघट्टए मुणी ॥ ७ ॥

छा० उदकार्द्रमात्मनः कायं, नैव प्रोञ्छयेन्न संलिखेत् ।
समुत्प्रेक्ष्य तथाभूत, नो संघट्टयेन्मुनिः ॥ ७ ॥

'उदउल्लं०'—उदकाऽर्द्रमात्मनः कायं नैव प्रोञ्छयेद्वस्त्रतृणादिभिः, न संलिखेत्पाणिना, अपि तु संप्रेक्ष्य तथाभूतं नैनं कायं संघट्टयेत्—मुनिर्मनागपि न स्पृशेत् ॥ ७ ॥ तेजःकायविधिमाह—

इंगालं अगणिं अच्चिं अलायं वा सजोइअं ।
न उंजिज्जा न घट्टिज्जा णो णं निव्वावए मुणी ॥ ८ ॥

छा० अङ्गारमग्निमर्चिः, अलातं वा सज्योतिः ।
नोत्सिञ्चेन्न घट्टयेत्, नो निर्वापयेन्मुनिः ॥ ८ ॥

'इंगालं०'—अङ्गारं—ज्वालारहितम्, अग्निम्—अयःपिण्डाऽनुगतम्, अर्चिः—छिन्नज्वालम्, अलातं वा—उल्मुकम्, सज्योतिः--साऽग्निकमित्यर्थः, नोत्सिञ्चेत्, न घट्टयेत्, नैनं निर्वापयेन्मुनिः ॥ ८ ॥ वायुकायविधिमाह—

तालिअंटेण पत्तेण साहाविहुअणेण वा ।
न वीइज्ज अप्पणो कायं बाहिरं वा वि पुग्गलं ॥ ९ ॥

छा० तालवृन्तेन पत्रेण, शाखाविधुननेन वा ।
न व्यजेदात्मनः कायं, बाह्यं वाऽपि पुद्गलम् ॥ ९ ॥

'तालिअं०'—तालवृन्तेन--व्यजनविशेषेण, पत्रेण—पद्मिणीपत्रादिना, शाखया—वृक्षडालरूपया, विधुननेन व्यजनेन वा न व्यजेदात्मनः कायं बाह्यं वाऽपि पुद्गलमुष्णोदकादि ॥ ९ ॥ वनस्पतिकायविधिमाह—

तणरुक्खं न छिंदिज्जा फलं मूलं व कस्सइ ।
आमगं विविहं बीअं मणसा वि न पत्थए ॥ १० ॥

छा० तृणवृक्षं न छिन्द्यात्, फलं मूलं वा कस्यचित् ।
आमकं विविधं बीजं, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥ १० ॥

'तण०'—तृणवृक्षमित्येकवद्भावः, तृणानि—दर्भादीनि, वृक्षाः—कदम्बादयः, एतान् न छिन्द्यात्, फलं मूलं वा कस्यचिद्वृक्षादेर्न छिन्द्यात्, आमकम्—अशस्त्रोपहतं विविधं बीजं मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥ १० ॥

गहणेसु न चिट्ठिज्जा बीएसु हरिएसु वा ।
उदगम्मि तहा निच्चं उत्तिंगपनगेसु वा ॥ ११ ॥

छा० गहनेषु न तिष्ठेत्, बीजेषु हरितेषु वा ।
उदके तथा नित्यम्, उत्तिङ्गपणकेषु वा ॥ ११ ॥

'गहणेसु०'—गहनेषु—वननिकुञ्जेषु न तिष्ठेत्, संघट्टनादिदोषप्रसङ्गात्, बीजेषु—प्रसारितशाल्यादिषु हरितेषु—दूर्वादिषु न तिष्ठेत्, उदके तथा नित्यम्, अत्रोदकमनन्तवनस्पतिविशेषः, यथोक्तम्—"उदए अवए पणए" इत्यादि, उदकमेवाऽन्ये, तत्र नियमतो वनस्पतिभावात्, उत्तिङ्गपनकयोर्वा न तिष्ठेत्, तत्रोत्तिङ्गः—सर्पच्छत्राऽऽदिः पनकः—उल्लिवनस्पतिः ॥ ११ ॥ त्रसकायविधिमाह—

तसे पाणे न हिंसिज्जा वाया अदुव कम्मुणा ।
उवरओ सव्वभूएसु पासिज्ज विविहं जगं ॥ १२ ॥

छा० त्रसान्प्राणिनो न हिंस्यात्, वाचाऽथवा कर्मणा ।
उपरतः सर्वभूतेषु, पश्येद्विविधं जगत् ॥ १२ ॥

'तसे०'–त्रसान् प्राणिनो न हिंस्यात्, वाचाऽथवा कर्मणा–कायेन, मनसस्तदन्तर्गतत्वादग्रहणम्, उपरतः–निवृत्तो हिंसातः सर्वभूतेषु, पश्येद्विविधं जगत्कर्मपरतन्त्रं निर्वेदायेति ॥ १२ ॥ उक्तः स्थूलविधिः, सूक्ष्मविधिमाह—

अट्ठ सुहुमाइं पेहाइ जाइं जाणित्तु संजए ।
दयाहिगारी भूएसु आस चिट्ठ सएहि वा ॥ १३ ॥

छा० अष्टौ सूक्ष्माणि प्रेक्ष्य (प्रेक्ष्यया), यानि ज्ञात्वा संयतः ।
दयाधिकारी भूतेषु, आस्तां तिष्ठतु शेतां वा ॥ १३ ॥

'अट्ठ०'–अष्टौ सूक्ष्माणि वक्ष्यमाणानि प्रेक्ष्योपयोगत आसीत, तिष्ठेत्, शयीत वेतियोगः, किं विशिष्टानीत्याह–यानि ज्ञात्वा संयतो दयाऽधिकारी भूतेषु भवति ॥ १३ ॥ आह—

कयराइं अट्ठसुहुमाइं जाइं पुच्छिज्ज संजए ।
इमाइं ताइं मेहावी आयाक्खिज्ज विअक्खणो ॥ १४ ॥

छा० कतरान्यष्टसूक्ष्माणि, यानि पृच्छेत् संयतः ।
एतानि तानि मेधावी, आचक्षीत विचक्षणः ॥ १४ ॥

'कयरा०'—कतरान्यष्टौ सूक्ष्माणि यानि दयाऽधिकारित्वाऽभावभयात्पृच्छेत्संयतः ? अमूनि तान्यनन्तरं वक्ष्यमाणानि मेधावी—आचक्षीत, विचक्षण इत्यनेनैतदाह—मर्यादावर्तिना तज्ज्ञेन तत्प्ररूपणा कार्या, एवं हि श्रोतुस्तत्रोपादेयबुद्धिर्भवति, अन्यथा विपर्ययः ॥ १४ ॥

सिणेहं पुप्फसुहुमं च पाणुत्तिंगं तहेव य ।
पणगं बीअहरिअं च अंडसुहुमं च अट्ठमं ॥ १५ ॥

छा० स्नेहं पुष्पसूक्ष्मं च, प्राणोत्तिङ्गं तथैव च ।
पणकं बीजहरितं च, अण्डसूक्ष्मं चाष्टमम् ॥ १५ ॥

'सिणेहं०'—स्नेहमिति स्नेहसूक्ष्मम्—अवश्यायहिममिहिकाकरकहरतनुरूपम्, पुष्पसूक्ष्मञ्चेति—वटोदुम्बराणां पुष्पाणि, तानि तद्वर्णानि सूक्ष्माणि न लक्ष्यन्ते, 'पाणी'ति—प्राणिसूक्ष्मम्—अनुद्धरिः कुन्थुः, स हि चलन् विभाव्यते, न स्थितः, सूक्ष्मत्वात्, 'उत्तिङ्गं तथैव च'—उत्तिङ्गसूक्ष्मं—कीटिकानगरम्, तत्र कीटिकानगरेऽन्ये च सूक्ष्मसत्त्वा भवन्ति, पनकमिति पनकसूक्ष्मं, प्रायः प्रावृट्काले भूमिकाष्ठादिषु पञ्चवर्णस्तद्द्रव्यजीवः(लीनः) पनक इति । तथा बीजसूक्ष्मम्—शाल्यादिबीजस्य मुखमूले कणिका, या लोके तुषमुखमुच्यते, हरितं चेति—हरितसूक्ष्मं च, तच्चाऽत्य-

न्ताऽभिनवोद्भिन्नं पृथिवीसमानवर्णमेवेति । अण्डसूक्ष्मं चाष्टमम् इति, एतच्च मक्षिकाकीटिकागृहकोकिलब्राह्मणीकृकला-साद्यण्डमिति ॥ १५ ॥

अत्राह परः—षड्जीवनिकायिकाऽध्ययने विस्तरेण, महाऽऽचारकथायां संक्षेपेण च षड्जीवनिकायरक्षा साधूनामुक्ता, किम्पुनरत्रोच्यते?—चारित्ररहस्यं षड्जीवनिकाय-रक्षैव, अतोऽत्राऽऽदरख्यापनार्थं द्विस्त्रिरुक्तेऽपि न दोषः।

एवमेआणि जाणित्ता सव्वभावेण संजए ।
अप्पमत्तो जए निच्चं सव्विंदिअसमाहिए ॥ १६ ॥

छा० एवमेतानि ज्ञात्वा, सर्वभावेन संयतः ।
अप्रमत्तो यतेत नित्यं, सर्वेन्द्रियसमाहितः ॥ १६ ॥

'एव०'—एवमेतानि ज्ञात्वा सर्वभावेन—शक्त्यनुरूपेण—स्वरूपसंरक्षणादिना संयतः—अप्रमत्तः—निद्रादि-प्रमादरहितो यतेत नित्यं सर्वेन्द्रियसमाहितः ॥ १६ ॥

धुवं च पडिलेहिज्जा जोगसा पायकंबलं ।
सिज्जमुच्चारभूमिं च संथारं अदुवासणं ॥ १७ ॥

छा० ध्रुवं च प्रतिलेखयेत्, योगेन पात्रकम्बलम् ।
शय्यामुच्चारभूमिं च, संस्तारमथवाऽऽसनम् ॥ १७ ॥

'ध्रुवं०'–ध्रुवञ्च–नित्यञ्च प्रत्युपेक्षेत सिद्धान्तोक्तविधिना योगे सति–सति सामर्थ्ये, पात्रंकम्बलं–पात्रग्रह-णाच्छेषोपधिं शय्यां–वसतिं द्विकालम्, वर्षासु त्रिकालम्, उच्चारभूमिं, चात् कालभूमिं च, संस्तारकं–तृणमयादिरूपम्, अथवाऽऽसनं–काष्ठासनं पादप्रोञ्छनं वा प्रत्युपेक्षेत ॥ १७ ॥

उच्चारं पासवणं खेलं सिंघाण जल्लिअं ।
फासुअं पडिलेहित्ता परिट्ठाविज्ज संजए ॥ १८ ॥

छा० उच्चारं प्रस्रवणं, श्लेष्म सिङ्घाणं जल्लकम् ।
प्रासुकं प्रतिलेख्य, परिष्ठापयेत् संयतः ॥ १८ ॥

'उच्चारं०'–उच्चारं प्रस्रवणं श्लेष्म सिंघाणं जल्लम्, एतानि प्रासुकं प्रत्युपेक्ष्य, स्थण्डिलमिति शेषः, परिष्ठापयेत् संयतः ॥ १८ ॥ गोचरप्रवेशमधिकृत्याऽऽह—

पविसित्तु परागारं पाणट्ठा भोअणस्स वा ।
जयं चिट्ठे मिअं भासे न य रूवेसु मणं करे ॥ १९ ॥

छा० प्रविश्य परागारं, पानार्थं भोजनाय वा ।
यतं तिष्ठेन्मितं भाषेत, न च रूपेषु मनः कुर्यात् ॥ १९ ॥

१ 'पात्रग्रहणादलाबुदारुमयादिग्रहणम्, कम्बलादानादूर्णासूत्रमयग्रहणम्' इति प्रत्यन्तरेऽयंविशिष्टः पाठः ।

'पविसित्तु०'—प्रविश्य पराऽगारं—परगृहं पानार्थं भोजनस्य वा यतं—गवाक्षादीन्यनवलोकयन्-तिष्ठेत्, मितं भाषेत, न रूपेषु—दातृ-कान्तादिषु मनः कुर्यात् ॥ १९ ॥

बहुं सुणेइ कण्णेहिं बहुं अच्छीहिं पिच्छइ ।
न य दिट्ठं सुअं सव्वं भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥ २० ॥

छा० बहु शृणोति कर्णैः, बह्वक्षीभिः प्रेक्षते ।
न च दृष्टं श्रुतं सर्वं, भिक्षुराख्यातुमर्हति ॥ २० ॥

'बहुं०'—बहु शोभनाऽशोभनं शृणोति शब्दजातमिति शेषः, अक्षिभ्यां पश्यति रूपजातमिति, न च दृष्टं श्रुतं सर्वं स्वपरोभयाऽहितमपि भिक्षुराख्यातुमर्हति, चारित्रोपघातित्वात् ॥ २० ॥

सुअं वा जइवा दिट्ठं न लविज्जोवघाइअं ।
न य केण उवाएण गिहिजोगं समाअरे ॥ २१ ॥

छा० श्रुतं वा यदिवा दृष्टं, न लपेदौपघातिकम् ।
न च केनोपायेन, गृहियोगं समाचरेत् ॥ २१ ॥

'सुअं०'—श्रुतं वाऽन्यतो यदि वा दृष्टं स्वयमेव नाऽऽलपेत्, औपघातिकं यथा—चौरस्त्वमित्यादिरूपम्, न च केनोपायेन—उपरोधादिना गृहियोगं—बालक्रीडनगृहरक्षादिकं समाचरेत् ॥ २१ ॥

निट्ठाणं रसणिज्जूढं भद्दगं पावगं ति वा ।
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा लाभालाभं न निद्दिसे ॥ २२ ॥

छा० निष्ठानं रसनिर्व्यूढं, भद्रकं पापकमिति वा ।
पृष्टो वाऽप्यपृष्टो वा, लाभालाभौ न निर्दिशेत् ॥ २२ ॥

'निट्ठाणं०'—निष्ठानं—सर्वगुणोपेतं, रसानिर्व्यूढम्—एतद्विपरीतं कदशनम्, एतदाश्रित्याद्यं भद्रकम्, द्वितीयं पापकमिति वा, पृष्टो वाऽपि परेण, अपृष्टो वा स्वयमेव लाभमलाभं न निर्दिशेत् ॥ २२ ॥

न य भोअणम्मि गिद्धो चरे उंछं अयंपिरो ।
अफासुअं न भुंजिज्जा कीयमुद्देसिआहडं ॥ २३ ॥

छा० न च भोजने गृद्धः, चरेदुञ्छमजल्पन् ।
अप्रासुकं न भुञ्जीत, क्रीतमौद्देशिकमाहृतम् ॥ २३ ॥

'न य ०'—न च भोजने गृद्धः सन्—ईश्वरादिषु कुलेषु चरेत्, अपि तु उञ्छं—भावतो ज्ञाताऽज्ञात-मजल्पनशीलः—धर्मलाभमात्राऽभिधायी चरेत, तत्राऽपि अप्रासुकं—सचित्तमिश्रादि कथञ्चिद् गृहीतमपि न भुञ्जीत । क्रीतमौद्देशिकाऽऽहृतं प्रासुकमपि ॥ २३ ॥

संनिहिं च न कुव्विज्जा अणुमायं पि संजए ।
मुहाजीवी असंबद्धे हविज्ज जगणिस्सिए ॥ २४ ॥

छा० सान्निधिं च न कुर्यात्, अणुमात्रमपि संयतः ।
मुधाजीव्यसम्बद्धः, भवेज्जगन्निश्रितः ॥ २४ ॥

'संनिहिं०'—सन्निधिं च प्राङ्निरूपितस्वरूपं न कुर्यादणुमात्रमपि संयतः, मुधाजीवी तु पूर्ववत्, असम्बद्धः—पद्मिनीपत्रवद्गृहस्थैः, एवम्भूतः सन् जगन्निःश्रितः—चराचरसंरक्षणप्रतिबद्धो भवेत् ॥ २४ ॥

लूहवित्ती सुसंतुट्ठे अप्पिच्छे सुहरे सिआ ।
आसुरत्तं न गच्छिज्जा सुच्चाणं जिणसासणं ॥ २५ ॥

छा० रूक्षवृत्तिः सुसंतुष्टः, अल्पेच्छः सुभरः स्यात् ।
आसुरत्वं न गच्छेत्, श्रुत्वा जिनशासनम् ॥ २५ ॥

'लूहवित्ती०'—रूक्षैः—वल्लचणकादिभिर्वृत्तिरस्येति रूक्षवृत्तिः, सुसन्तुष्टो येन तेन वा, अल्पेच्छुरल्पाऽऽहारः, सुभरः स्यात्, अल्पेच्छुत्वात्, तथा आसुरत्वं न गच्छेत्—क्रोधभावं न गच्छेत् क्वचित्, 'सुच्चा'—श्रुत्वा जिनशासनं क्रोधविपाकप्रतिपादकं वीतरागवचनम् ॥ २५ ॥

१ 'क्रोधविपाकख्यापकमर्हद्वचनं श्रुत्वा' इति पाठान्तरम् ।

कण्णसुक्खेहिं सद्देहिं पेमं नाभिनिवेसए ।
दारुणं कक्कसं फासं काएण अहिआसए ॥ २६ ॥

छा० कर्णसुखेषु शब्देषु, प्रेम नाभिनिवेशयेत् ।
दारुणं कर्कशं स्पर्शं, कायेनाध्यासीत ॥ २६ ॥

'कण्णसुक्खेहिं०'—कर्णसौख्यहेतवः—कर्णसौख्याः शब्दाः—वेणुवीणादिसम्बन्धिनः, तेषु प्रेमरागं नाऽभिनिवेशयेत्, तथा दारुणम्—अनिष्टं कर्कशं—कठिनं स्पर्शमुपनतं सन्तं कायेनाऽतिसहेत, न तत्र द्वेषं कुर्यात् ॥ २६ ॥

खुहं पिवासं दुस्सिज्जं सीउण्हं अरइं भयं ।
अहिआसे अव्वहिओ देहे दुक्खं महाफलं ॥ २७ ॥

छा० क्षुधां पिपासां दुश्शय्यां, शीतोष्णमरतिं भयम् ।
अध्यासीताऽव्यथितः, देहे दुःखं महाफलम् ॥ २७ ॥

'खुहं०'—क्षुधां पिपासां दुश्शय्यां शीतोष्णमरतिं भयमतिसहेत, एतत्सर्वमव्यथितः—अदीनमनाः स्मरन् (सन्)—' देहे दुःखं महाफलं ', सञ्चिन्त्येति वाक्यशेषः ॥ २७ ॥

अत्थंगयम्मि आइच्चे प(पु)रत्था य अणुग्गए ।
आहारमइअं सव्वं मणसा वि न पत्थए ॥ २८ ॥

छा० अस्तङ्गत आदित्ये, प(पु)रस्ताच्चाऽनुद्गते ।
आहारमादिकं सर्वं, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥ २८ ॥

'अत्थं०'—अस्तङ्गत आदित्ये पुरस्ताच्चाऽनुद्गते प्रभातेऽनुद्गत इत्यर्थः, आहारात्मकं सर्वं मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥ २८ ॥ दिवाऽप्यलभ्यमाने आहारे किं कुर्यादित्याह—

अतिंतिणे अचवले अप्पभासी मिआसणे ।
हविज्ज उअरे दंते थोवं लद्धुं न खिंसए ॥ २९ ॥

छा० अतिन्तिणोऽचपलः, अल्पभाषी मिताऽशनः ।
भवेदुदरे दान्तः, स्तोकं लब्ध्वा न खिंसयेत् ॥ २९ ॥

'अतिंतिणे०'—अतिंतिणो नाम अलाभेऽपि नेषत्—यत्किञ्चिद् भाषी, अचपलः—सर्वत्र स्थिरः, अल्पभाषी—कारणेऽपि मितभाषी, मिताऽशनः—अल्पभोजी, इत्येवम्भूतो भवेत्, तथा—उदरे दान्तः—येन तेन वा तृप्तः, स्तोकं लब्ध्वा न खिंसयेत्—देयं दातारं वा न हीलयेत् ॥ २९ ॥ मदवर्जनाऽर्थमाह—

न बाहिरं परिभवे अत्ताणं न समुक्कसे ।
सुअलाभे न मज्जिज्जा जच्चा तवस्सिबुद्धिए ॥ ३० ॥

छा० न बाह्यं परिभवेत्, आत्मानं न समुत्कर्षयेत् ।
श्रुतलाभेन न माद्येत, जात्या तपस्वि-बुद्धया ॥ ३० ॥

'न बाहिरं०'—न बाह्यमात्मनोऽन्यं परिभवेत्, आत्मानं न समुत्कर्षयेत्, इत्थम्भूतोऽहमिति, श्रुतलाभाभ्यां न माद्येत, श्रुतवानहम्, लाभवानहम्, जात्या तापस्व्येन (तपस्वितया) बुद्ध्या न माद्येत इति वर्तते, उपलक्षणं चैतत्कुलबलरूपाणाम्, ततश्चाष्टविधेनाऽपि मदेन न माद्येत ॥ ३० ॥ ओघत आभोगाऽनाभोगसेवितार्थमाह—

से जाणमजाणं वा कट्टु आहम्मिअं पयं ।
संवरे खिप्पमप्पाणं बीअं तं न समाअरे ॥ ३१ ॥

छा० स जानन्नजानन्वा, कृत्वाऽधार्मिकं पदम् ।
संवृणुयात्क्षिप्रमात्मानं, द्वितीयं तं न समाचरेत् ॥ ३१ ॥

'से जाण०'—स साधुर्जानन्—अजानन् वा कृत्वाऽधार्मिकं पदं कथञ्चिद्रागदोषाभ्यां मूलोत्तरगुणविराधनामितिभावः, संवरेत् क्षिप्रमात्मानमालोचनादिना, द्वितीयं पुनस्तन्न समाचरेत् ॥ ३१ ॥ एतदेवाह—

अणायारं परक्कम्म नेव गूहे न निण्हवे ।
सुई सया विअडभावे असंसत्ते जिइंदिए ॥ ३२ ॥

छा० अनाचारं पराक्रम्य, नैव गूहयेन्न निह्नुवीत ।
शुचिः सदा विकटभावः, असंसक्तो जितेन्द्रियः ॥ ३२ ॥

'अणायारं०'–अनाचारं–सावद्ययोगं पराक्रम्य–आसेव्य गुरोः सकाशे आलोचयन् न निगूहेत किञ्चित् किञ्चित् कथनात्, न निह्नुवीत सर्वथाऽपलापात्, किंविशिष्टः सन्? शुचिरकलुषमतिः सदा विकटभावः–प्रकटभावः, असंसक्तः-गृहस्थसंसक्तिरहितः, जितेन्द्रियः ॥ ३२ ॥

अमोहं वयणं कुज्जा आयरिअस्स महप्पणो ।
तं परिगिज्झ वायाए कम्मुणा उववाअए ॥ ३३ ॥

छा० अमोघं वचनं कुर्यात्, आचार्यस्य महात्मनः ।
तत्परिगृह्य वाचा, कर्मणोपपादयेत् ॥ ३३ ॥

'अमोहं०'–अमोघम्–अवन्ध्यं वचनं कुर्याद् आचार्याणां महात्मनाम्, तद्वचनं परिगृह्य वाचा कर्मणा–क्रिययोपपादयेत्–सम्पादयेत् ॥ ३३ ॥

अधुवं जीविअं नच्चा सिद्धिमग्गं विआणिआ ।
विणिअट्टिज्ज भोएसु आउं परिमिअमप्पणो ॥ ३४ ॥

छा० अध्रुवं जीवितं ज्ञात्वा, सिद्धिमार्गं विज्ञाय ।
विनिवर्तयेद्भोगेभ्यः, आयुः परिमितमात्मनः ॥ ३४ ॥

'अधुवं०'— अध्रुवमनित्यं जीवनं ज्ञात्वा सिद्धिमार्गं—ज्ञानादिरूपं विज्ञाय विनिवर्तेत भोगेभ्यः[1], आयुः परिमितं-वर्षशतमितमात्मनो विज्ञाय निवर्तेत भोगेभ्यः ॥ ३४ ॥ उपदेशाऽधिकारे प्रक्रान्तमेव समर्थयन्नाह—

बलं थामं च पेहाए सद्धामारोग्गमप्पणो ।
खित्तं कालं च विण्णाय तहप्पाणं निजुंजए ॥ ३५ ॥

छा० बलं स्थाम च प्रेक्ष्य, श्रद्धामारोग्यमात्मनः ।
क्षेत्रं कालं च विज्ञाय, तथाऽऽत्मानं नियुञ्जीत ॥ ३५ ॥

'बलं०'[2]— ॥ ३५ ॥

जरा जाव न पीलेइ वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविंदिआ न हायंति ताव धम्मं समाअरे ॥ ३६ ॥

छा० जरा यावन्न पीडयति, व्याधिर्यावन्न वर्धते ।
यावदिन्द्रियाणि न हीयन्ते, तावद्धर्मं समाचरेत् ॥ ३६ ॥

१ 'भोगेभ्यः कर्मबन्धहेतुभ्यः' इत्यन्यत्र ।
२ 'इयं गाथा लघुबृहद्वृत्तौ नोक्ता' अवचूर्यन्तरस्पष्टीकरणम् ।

'जरा जाव०'—जरा यावन्न पीडयति व्याधिर्यावन्न वर्द्धते, यावदिन्द्रियाणि न हीयन्ते, तावदत्राऽन्तरे धर्मं समाचरेत् ॥ ३६ ॥ धर्मोपायमाह—

कोहं माणं च मायं च लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हिअमप्पणो ॥ ३७ ॥

छा० **क्रोधं मानं च मायां च, लोभं च पापवर्द्धनम् ।**
वमेच्चतुरो दोषाँस्तु, इच्छन् हितमात्मनः ॥ ३७ ॥

'कोहं०'—क्रोधं मानं च मायां च लोभं च पापवर्धनम्, नियमयेच्चतुरो दोषान्—एतानेव क्रोधादीन् हितमिच्छन्नात्मनः ॥ ३७ ॥ अवमाने त्विहलोक एवाऽपायमाह—

कोहो पीइं पणासेइ माणो विणयणासणो ।
माया मित्ताणि णासेइ लोभो सव्वविणासणो ॥ ३८ ॥

छा० **क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति, मानो विनयनाशनः ।**
माया मित्राणि नाशयति, लोभः सर्वविनाशनः ॥ ३८ ॥

'कोहो०'— क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति मानो विनयनाशनः, माया मित्राणि नाशयति लोभः सर्वविनाशनः ॥ ३८ ॥ अतः—

उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे ।
मायं चज्जवभावेण लोभं संतोसओ जिणे ॥ ३९ ॥

छा० उपशमेन हन्यात्क्रोधं, मानं मार्दवेन जयेत् ।
मायां चाऽऽर्जवभावेन, लोभं सन्तोषतो जयेत् ॥ ३९ ॥

'उवसमेण०'— उपशमेन क्षान्तिरूपेण हन्यात् क्रोधम्, मानं मार्दवेन-अनुच्छ्रिततया जयेत्, मायां च ऋजुभावेन लोभं सन्तोषतो जयेत् ॥ ३९ ॥ परलोकाऽपायमाह—

कोहो अ माणो अ अणिग्गहिआ ।
माया य लोभो अ पवड्ढमाणा ॥
चत्तारि एए कसिणा कसाया ।
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥ ४० ॥

छा० क्रोधश्च मानश्चाऽनिर्गृहीतौ ।
माया च लोभश्च प्रवर्धमानौ ॥
चत्वार एते कृष्णाः (कृत्स्नाः) कषायाः ।
सिञ्चन्ति मूलानि पुनर्भवस्य ॥ ४० ॥

'कोहो अ०'—क्रोधश्च मानश्च अनिगृहीतौ माया च लोभश्च प्रवर्द्धमानौ, चत्वार एते कृत्स्नाः—सम्पूर्णाः कषायाः सिञ्चन्ति-अशुभभावजलेन मूलानि पुनर्भवस्य—पुनर्जन्मतरोः ॥ ४० ॥ कषायनिग्रहार्थमिदं कुर्यादित्याह—

रायणिएसु विणयं पउंजे ।
धुवसीलयं सययं न हावइज्जा ॥
कुम्मुव्व अल्लीणपलीणगुत्तो ।
परक्कमिज्जा तवसंजमम्मि ॥ ४१ ॥

छा० रात्निकेषु विनयं प्रयुञ्जीत ।
ध्रुवशीलतां सततं न हापयेत् ॥
कूर्म इवाऽऽलीनप्रलीनगुप्तः ।
पराक्रामेत्तपःसंयमयोः ॥ ४१ ॥

'रायणिएसु०'—रत्नाऽधिकेषु—चिरदीक्षितेषु विनयमभ्युत्थानादिकं प्रयुञ्जीत, तथा ध्रुवशीलताम्—अष्टादशशीलाऽङ्गसहस्रपालनरूपां सन्ततं न हापयेत्, कूर्म इव—कच्छप इवाऽऽलीनप्रलीनगुप्तः—अङ्गोपाङ्गानि सम्यक् संयम्य-इत्यर्थः, पराक्रामेत्—प्रवर्तेत तपःसंयमे—तपःप्रधानसंयमे ॥ ४१ ॥

निद्दं च न बहुमण्णिज्जा सप्पहासं विवज्जए ।
मिहोकहाहिं न रमे सज्झायम्मि रओ सया ॥ ४२ ॥
छा० निद्रां च न बहुमन्येत, सप्रहासं विवर्जयेत् ।
मिथःकथासु न रमेत, स्वाध्याये रतः सदा ॥ ४२ ॥

'निद्दं०'– निद्रां च न बहुमन्येत, सप्रहासं वा–अतीवप्रहासरूपं विवर्जयेत्, मिथःकथासु–राहस्यिकीषु न रमेत, स्वाध्याये रतः सदा भवेदिति ॥ ४२ ॥

जोगं च समणधम्मंमि जुंजे अणलसो धुवं ।
जुत्तो अ समणधम्मंमि अट्ठं लहइ अणुत्तरं ॥ ४३ ॥
छा० योगं च श्रमणधर्मे, युञ्जीताऽनलसो ध्रुवम् ।
युक्तश्च श्रमणधर्मे, अर्थं लभतेऽनुत्तरम् ॥ ४३ ॥

'जोगं०'– योगं च मनोवाक्कायरूपं, श्रमणधर्मे–क्षान्त्यादिरूपे युञ्जीत, अनलसः, ध्रुवं–निश्चितम्, सामान्येन सर्वत्राऽविशेषतोऽनुप्रेक्षाकाले मनोयोगम्, अध्ययनकाले वाग्योगम्, प्रत्युपेक्षणाकाले काययोगम्, फलमाह –एवं युक्तः–व्यापृतः श्रमणधर्मेऽर्थं लभतेऽनुत्तरम् ॥ ४३ ॥ एतदेवाह–

इहलोगपारत्तहिअं जेणं गच्छइ सुग्गइं ।
बहुस्सुअं पज्जुवासिज्जा पुच्छिज्जत्थविणिच्छयं ॥ ४४ ॥

छा० इहलोकपरत्रहितं, येन गच्छति सुगतिम् ।
बहुश्रुतं पर्युपासीत, पृच्छेदर्थविनिश्चयम् ॥ ४४ ॥

'इह०'— इहलोकपरत्रहितं येनाऽर्थेन ज्ञानादिना करणभूतेन गच्छति सुगतिम् । उक्तस्वरूपसाधनोपायमाह—बहुश्रुतमागमवृद्धं पर्युपासीत—सेवेत, सेवमानश्च पृच्छेदर्थविनिश्चयम् ॥ ४४ ॥

हत्थं पायं च कायं च पणिहाय जिइंदिए ।
अलीणगुत्तो निसीए सगासे गुरुणो मुणी ॥ ४५ ॥

छा० हस्तौ पादौ च कायं च, प्रणिधाय जितेन्द्रियः ।
आलीनगुप्तो निषीदेत्, सकाशे गुरोर्मुनिः ॥ ४५ ॥

'हत्थं०'—हस्तं पादं च कायं च प्रणिधाय—सङ्कोच्य जितेन्द्रिय आसामस्त्येन लीनः—उपयुक्तः, गुप्तो गुप्तिभिर्निर्षीदेत् सकाशे गुरोर्मुनिः ॥ ४५ ॥

न पक्खओ न पुरओ नेव किच्चाण पिट्ठओ ।
न य ऊरुं समासिज्जा(त्ता) चिट्ठिज्जा गुरुणंतिए ॥ ४६ ॥

छा० न पक्षतो न पुरतः, नैव कृत्यानां पृष्ठतः ।
न च ऊरू समाश्रित्य, तिष्ठेद्गुर्वान्तिके ॥ ४६ ॥

'न पक्खओ०'—न पक्षतः—पार्श्वतः, न पुरतोऽग्रतः, नैव कृत्यानामाचार्याणां पृष्ठतो निषीदेदिति वतते, अविनयवन्दमानाऽन्तरायाऽदर्शनादिदोषात्, न चोरुं समाश्रित्य—ऊरोरुपरि ऊरुं कृत्वा तिष्ठेद् गुर्वन्तिक ॥ ४६ ॥ उक्तः कायप्रणिधिः, वाक्प्रणिधिमाह—

अपुच्छिओ न भासिज्जा भासमाणस्स अंतरा ।
पिट्ठिमंसं न खाइज्जा मायामोसं विवज्जए ॥ ४७ ॥

छा० अपृष्टो न भाषेत, भाषमाणस्याऽन्तरा ।
पृष्ठमांसं न खादेत्, मायामृषां विवर्जयेत् ॥ ४७ ॥

'अपुच्छिओ०'—अपृष्टो न भाषेत भाषमाणस्य चाऽन्तरे, तथा पृष्ठमांसं—परोक्षदोषकीर्तनरूपं न खादेत्—न भाषेत मायां मृषां विवर्जयेत् ॥ ४७ ॥

अप्पत्तिअं जेण सिआ आसु कुप्पिज्ज वा परो ।
सव्वसो तं न भासिज्जा भासं अहिअगामिणिं ॥ ४८ ॥

छा० अप्रीतिर्येन स्यात्, आशु कुप्येद्वा परः ।
सर्वशस्तां न भाषेत, भाषामहितगामिनीम् ॥ ४८ ॥

'अप्पत्तिअं०'—'अप्रीतिर्येनेति [प्राकृतत्वाद्] यया भाषितया स्यात्, आशु कुप्येद्वा नरः, सर्वशस्तां भाषां न भाषेत, अहितगामिनीम्—अहिते नरकादौ गमयतीत्येवंशीलाम् ॥ ४८ ॥ यथा भाषेत तथाऽऽह—

दिट्ठं मिअं असंदिद्धं पडिपुण्णं विअं जिअं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं भासं णिसिर अत्तवं ॥ ४९ ॥

छा० दृष्टां मितामसन्दिग्धां, प्रतिपूर्णां व्यक्तां जिताम् ।
अजल्पाकीमनुद्विग्नां, भाषां निसृजेदात्मवान् ॥ ४९ ॥

'दिट्ठं०'—दृष्टाऽर्थविषयां दृष्टां मितां—स्तोकामसन्दिग्धां—स्फुटां प्रतिपूर्णां—स्वरादिभिर्व्यक्ताम्—अलल्लां जितां—परिचिताम् अजल्पनशीलां—नोच्चैर्नाऽतिनीचैरनुद्विग्नां—नोद्वेगकारिणीम्, एवम्भूतां भाषां निसृजेत्—वदेत्, आत्मवान्—सचेतनः ॥ ४९ ॥ पुनश्च—

आयारपण्णत्तिधरं दिट्ठिवायमहिज्जगं ।
वायविक्खलिअं नच्चा न तं उवहसे मुणी ॥ ५० ॥

छा० आचारप्रज्ञप्तिधरं, दृष्टिवादमध्येतारम् ।
वाग्विस्खलितं ज्ञात्वा, न तमुपहसेन्मुनिः ॥ ५० ॥

'आयार०'—आचारप्रज्ञप्तिधरं—आचारधरः स्त्रीलिङ्गादीनि जानाति प्रज्ञप्तिधरस्तु तान्येव सविशेषणानीत्येवम्भूतं, दृष्टिवादमधीयानं—प्रकृतिप्रत्ययलोपाऽऽगमवर्णविकारकालकारकादिवेदिनं वाग्विस्खलितं ज्ञात्वा न तम्—आचारादिधरमुपहसेन्मुनिः ॥ ५० ॥

नक्खत्तं सुमिणं जोगं निमित्तं मंतभेसजं ।
गिहिणो तं न आइक्खे भूआहिगरणं पयं ॥ ५१ ॥

छा० **नक्षत्रं स्वप्नं योगं, निमित्तं मन्त्रभैषजम् ।**
गृहिणस्तन्नाऽऽचक्षीत, भूताधिकरणं पदम् ॥ ५१ ॥

'नक्खत्तं०'—नक्षत्रमश्विन्यादि यात्राद्यर्थं, स्वप्नं शुभाऽशुभफलम्, अनुभूतादि, योगं वशीकरणादिं, निमित्तमतीतादि, मन्त्रं वृश्चिकमन्त्रादि, भैषजमतीसाराद्यौषधम्, गृहिणः पृच्छतस्तन्नक्षत्रादि नाऽचक्षीत, किंविशिष्टम् ? भूताऽधिकरणं पदम्—भूतान्येकेन्द्रियादीनि संघट्टनादिना अधिक्रियन्ते—व्यापाद्यन्तेऽस्मिन्निति भूताऽधिकरणम्, ततश्च तेषां प्रश्ने एवं ब्रूयात्—'अनधिकारोऽत्र साधूनाम्' ॥ ५१ ॥

अण्णट्ठं पगडं लयणं भइज्ज सयणासणं ।
उच्चारभूमिसंपण्णं इत्थीपसुविवज्जिअं ॥ ५२ ॥

छा० **अन्यार्थं प्रकृतं लयनं, भजेत शयनाऽऽसनम् ।**
उच्चारभूमिसम्पन्नं, स्त्रीपशुविवर्जितम् ॥ ५२ ॥

'अण्णट्ठं०'—अन्यदर्थं न साध्वर्थं प्रकृतं—निर्वर्तितं लयनं—स्थानं—वसतिरूपं भजेत—सेवेत, तथा शयनाऽऽसनमिति—अन्यार्थं प्रकृतं संस्तारकपीठकादि सेवेतेत्यर्थः, उच्चार-भूमिसम्पन्नम्—उच्चार-प्रस्रवणादिभूमियुक्तं स्त्री-पशुविवर्जितम् ॥ ५२ ॥ ईदृशं लयनं सेवमानस्य धर्मकथाविधिमाह—

विवित्ता य भवे सिज्जा नारीणं न लवे कहं ।
गिहिसंथवं न कुज्जा कुज्जा साहूहिं संथवं ॥ ५३ ॥

छा० विविक्ता च भवेच्छय्या, नारीणां न लपेत्कथाम् ।
गृहिसंस्तवं न कुर्यात्, कुर्यात्साधुभिः संस्तवम् ॥ ५३ ॥

'विवित्ता०'—विविक्ता च तदन्यसाधुभी रहिता 'च'—शब्दात्तथाविधभुजङ्गप्रायैकपुरुषयुक्ता च भवेच्छय्या—वसतिः, यदि ततो नारीणां न लपेत्कथाम्, शङ्कादिदोषप्रसङ्गात्, पुंसान्तु कथयेत्, अविविक्तायां नारीणामपीति, गृहिसंस्तवं—गृहिपरिचयं न कुर्यात्, कुर्यात्साधुभिः संस्तवम् ॥ ५३ ॥ विशेषतः स्त्रीसंस्तवो न कर्तव्य एव, अत्र कारणमाह—

जहा कुक्कुडपोअस्स निच्चं कुललओ भयं ।
एवं खु बंभयारिस्स इत्थीविग्गहओ भयं ॥ ५४ ॥

छा० यथा कुक्कुटपोतस्य, सदा कुललतो भयम् ।
एवं खलु ब्रह्मचारिणः, स्त्रीविग्रहतो भयम् ॥ ५४ ॥

'जहा०'–यथा कुक्कुटपोतस्य नित्यं कुललतो भयं–मार्जाराद्भयम्, एवमेव ब्रह्मचारिणः साधोः स्त्रीविग्रहात्–स्त्रीशरीराद् भयम्, विग्रहग्रहणं मृतविग्रहादपि भयख्यापनाऽर्थम् ॥ ५४ ॥ अतः—

चित्तभित्तिं न निज्झाए नारिं वा सुअलंकिअं ।
भक्खरं पिव दट्ठूणं दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥ ५५ ॥

छा० **चित्रभित्तिं न निध्यायेत्, नारीं वा स्वलङ्कृताम् ।**
भास्करमिव दृष्ट्वा, दृष्टिं प्रतिसमाहरेत् ॥ ५५ ॥

'चित्त०'–चित्रगतां स्त्रियं न निरीक्षेत, नारीं वा सचेतनामेव स्वलङ्कृताम्, उपलक्षणमेतत्, अनलङ्कृतां वा न निरीक्षेत, कथञ्चिद्दर्शनयोगेऽपि भास्करमिव–आदित्यमिव दृष्ट्वा दृष्टिं प्रतिसमाहरेत्–द्रागेव निवर्तयेत् ॥ ५५ ॥ किंबहुना—

हत्थपायपडिच्छिण्णं कण्णनासविगप्पिअं ।
अवि वाससयं नारिं बंभयारी विवज्जए ॥ ५६ ॥

छा० **हस्तपादप्रतिच्छिन्नां, कर्णनासाविकल्पिताम् ।**
अपि वर्षशतां नारीं, ब्रह्मचारी विवर्जयेत् ॥ ५६ ॥

'हत्थ०'–हस्तपादप्रतिच्छिन्नामिति प्रतिच्छिन्नहस्तपादां कर्णनासाविकृत्तां–विकृत्तकर्णनासाम्, अपि वर्षशतिकां विकृतां नारीं ब्रह्मचारी विवर्जयेत् ॥ ५६ ॥ अपि च—

विभूसा इत्थिसंसग्गो पणीअं रसभोअणं ।
नरस्सत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा ॥ ५७ ॥

छा० विभूषा स्त्रीसंसर्गः, प्रणीतं रसभोजनम् ।
नरस्याऽऽत्मगवेषिणः, विषं तालपुटं यथा ॥ ५७ ॥

'विभूसा०'—विभूषा—नखकेशादिसत्काररूपा, स्त्रीसंसर्गः, प्रणीतरसभोजनं—गलत्स्नेहम्, एतत्सर्वमेव विभूषादि नरस्याऽऽत्मगवेषिणः—आत्महिताऽन्वेषणपरस्य विषं तालपुटं यथा ॥ ५७ ॥

अंगपच्चंगसंठाणं चारुल्लविअपेहिअं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए कामरागविवड्ढणं ॥ ५८ ॥

छा० अङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानं, चारूल्लपितप्रेक्षितम् ।
स्त्रीणां तं न निर्ध्यायेत्, कामरागविवर्द्धनम् ॥ ५८ ॥

'अंगपच्चंग०'—अङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानम्—अङ्गानि—शिरःप्रभृतीनि प्रत्यङ्गानि—नयनादीनि, एतेषां संस्थानं—विन्यासविशेषं चारु लपितप्रेक्षितं स्त्रीणामङ्गादीनि न निरीक्षेत कामरागविवर्द्धनमिति ॥ ५८ ॥

विसएसु मणुण्णेसु पेमं नाभिनिवेसए ।
अणिच्चं तेसिं विण्णाय परिणामं पोग्गलाण उ ॥ ५९ ॥

छा० विषयेषु मनोज्ञेषु, प्रेम नाभिनिवेशयेत् ।
अनित्यं तेषां विज्ञाय, परिणामं पुद्गलानां तु ॥ ५९ ॥

'विसएसु०'—विषयेषु मनोज्ञेषु प्रेमरागं नाभिनिवेशयेत्—न कुर्यात्, अमनोज्ञेषु द्वेषं न कुर्यात्, आह—उक्तमेवेदं प्राक् 'कण्णसुक्खेहिं सद्देहिं' इत्यादि, किमर्थः पुनरुपन्यासः ? इत्युच्यते—कारणविशेषाऽभिधानेन विशेषोपलम्भार्थमिति, आह च—अनित्यमेव परिणामाऽनित्यतया तेषां पुद्गलानान्तु शब्दादिविषय—सम्बन्धिनामिति योगः, विज्ञाय जिनवचनानुसारेण, किमित्याह—परिणामं—पर्यायान्तराऽऽपत्तिलक्षणम् ॥५९॥ इदमेव स्पष्टयन्नाह—

पुग्गलाण परीणामं तेसिं नच्चा जहा तहा ।
विणीयतिण्हो विहरे सीईभूएण अप्पणा ॥ ६० ॥

छा० पुद्गलानां परिणामं, तेषां ज्ञात्वा यथा तथा ।
विनीततृष्णो विहरेत्, शीतीभूतेनाऽऽत्मना ॥ ६० ॥

'पुग्गलाण०'—पुद्गलानां—शब्दादिविषयान्तर्गतानां परिणामं तेषां ज्ञात्वा, यथा मनोज्ञेतररूपतया भवन्ति तथा ज्ञात्वा, विनीततृष्णोऽपेताऽभिलाषो विहरेत्, शीतिभूतेन—क्रोधाद्यग्न्यभावात्प्रशान्तेनाऽऽत्मना ॥ ६० ॥ किञ्च—

जाइ सद्धाइ निक्खंतो परिआयट्ठाणमुत्तमं ।
तमेव अणुपालिज्जा गुणे आयरियसम्मए ॥ ६१ ॥

छा० यया श्रद्धया निष्क्रान्तः, पर्यायस्थानमुत्तमम् ।
तामेवाऽनुपालयेत्, गुणानाऽऽचार्यसम्मतान् ॥ ६१ ॥

'जाइ०'—यया श्रद्धया प्रधानगुणस्वीकरणरूपया निष्क्रान्तो गृहवासात्—पर्यायस्थानमुत्तमं प्राप्तः, तामेव श्रद्धामनुपालयेत्—प्रवर्द्धमानां कुर्यात्, क्वेत्याह गुणे—लोकोत्तररूपे—आचार्यसम्मते ॥ ६१ ॥ फलमाह—

तवं चिमं संजमजोगयं च ।
सज्झायजोगं च सया अहिट्ठए ॥
सूरुव्व सेणाइ समत्तमाउहे ।
अलमप्पणो होइ अलं परेसिं ॥ ६२ ॥

छा० तपश्चेदं संयमयोगं च ।
स्वाध्याययोगं च सदाऽधितिष्ठेत् ॥
शूर इव सेनया समस्ताऽऽ(समात्ताऽऽ)युधः ।
अलमात्मने भवत्यलं परेभ्यः ॥ ६२ ॥

'तवं०'—तपश्चेदमनशनादिरूपं संयमयोगं च—संयमव्यापारम्, स्वाध्याययोगं च—वाचनाऽदि सदाऽधिष्ठाता—तपःप्रभृतीनां कर्ता इत्यर्थः, स एवम्भूतः शूर इव सेनया चतुरङ्गरूपया—इन्द्रियकषायादिरूपया सेनया निरुद्धः

सन् समाप्तायुधः-सम्पूर्णतपःप्रभृतिखड्गाद्यायुधः, अलमात्मनो भवति संरक्षणाय, अलं परेषां च ॥ ६२ ॥ एतदेव स्पष्टयन्नाह—

सज्झाय-सज्झाणरयस्स ताइणो ।
अपावभावस्स तवे रयस्स ॥
विसुज्झइ जंसि मलं पुरेकडं ।
समीरिअं रुप्पमलं व जोइणा ॥ ६३ ॥

छा० स्वाध्याय-सद्ध्यानरतस्य त्रायिणः ।
अपापभावस्य तपसि रतस्य ॥
विशुद्ध्यते यस्मिन्(यदस्य) मलं पुराकृतम् ।
समीरितं रूप्यमलमिव ज्योतिषा ॥ ६३ ॥

'सज्झाय०'-स्वाध्याय सद्ध्यानरतस्य त्रातुरपापभावस्य-लब्ध्याद्यपेक्षारहितया शुद्धचित्तस्य तपसि रतस्य विशुद्ध्यते-अपैति यदस्य साधोर्मलं-कर्ममलं पुराकृतम्-जन्मान्तरोपात्तम्, दृष्टान्तमाह-समीरितं-प्रेरितं रूप्य-मलमिव ज्योतिषाऽग्निना ॥ ६३ ॥ ततश्च—

से तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए ।
सुएण जुत्ते अममे अकिंचणे ॥

विरायइ कम्मघणंमि अवगए ।
कसिणब्भपुडावगमे व चंदिमे ॥ ६४ ॥ त्ति बेमि ।

छा० स तादृशो दुःखसहो जितेन्द्रियः ।
श्रुतेन युक्तोऽममोऽकिञ्चनः ॥
विराजते कर्मघनेऽपगते ।
कृष्णाभ्रपुटाऽपगम इव चन्द्रमसि ॥ ६४ ॥ इति ब्रवीमि ।

'से तारिसे ०'—स तादृशः पूर्वोदितगुणयुक्तः साधुर्दुःखसहः—परीषहजेता जितेन्द्रियः, श्रुतेन युक्तः, अममः, अकिञ्चनः, विराजते कर्मघने—ज्ञानाऽवरणीयादिमेघेऽपगते सति कृत्स्नाऽभ्रपुटापगमे इव चन्द्रमा इति यथा कृत्स्ने कृष्णे वाऽभ्रपुटे अपगते चन्द्रो विराजते शरदि तद्वदसौ अपेतकर्मघनः—समासादित-केवलाऽऽलोको विराजते । इति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ ६४ ॥ इति आचारप्रणिध्यध्ययनस्याऽष्टमस्याऽवचूरिः ।

॥ आयारप्पणिहि-अज्झयणं अट्ठमं ॥

॥ इति आचारप्रणिध्यध्ययनमष्टमम् ॥



॥ अथ नवमाध्ययनम् ॥



इहानन्तराध्ययने निरवद्यं वच आचारप्रणिहितस्य भवतीति तत्र यत्नवता भवितव्यमित्येतदुक्तम्, इह-त्वाचारप्रणिहितो यथोचितविनयसम्पन्न एव भवतीत्येतदुच्यते, उक्तञ्च-

"आयारपणिहाणंमि, से सम्मं वट्टइ बुहे ।
णाणादीण विणीए जे, मोक्खट्ठा निव्विगिच्छए ॥ १ ॥

इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम्। तथा च सूत्रम्

थंभा व कोहा व मयप्पमाया ।
गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे ॥
सो चेव उ तस्स अभूइभावो ।
फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥ १ ॥

छा० स्तम्भाद्वा क्रोधाद्वा मायाप्रमादात् ।
गुरोः सकाशे विनयं न शिक्षेत ॥
स चैव तु तस्याऽभूतिभावः ।
फलमिव कीचकस्य वधाय भवति ॥ १ ॥

'थंभा०'—ज्ञात्यादिभिरुत्तमोऽहमिति स्तम्भाद्वा, अहं गुरुभिराक्रुद्ध इति क्रोधाद्वा, मायाप्रमादात्—शक्तोऽपि न शक्नोमीति मायातः, प्रमादात्—निद्रादेः, गुरोः सकाशे विनयं—ग्रहणाऽऽसेवनरूपं न शिक्षेत, स एव तु स्तम्भादिर्विनयशिक्षाविघ्नहेतुस्तस्य जडमतेरभूतिभावः—असम्पद्भावः, वधाय भवति—गुणलक्षणभावप्राणविनाशाय भवति, दृष्टान्तमाह—फलमिव कीचकस्य वधाय भवति, वंशो हि फले संजाते सति विनश्यतीत्यर्थः ॥ १ ॥ किञ्च—

जे आवि मंदित्ति गुरुं विइत्ता ।
डहरे इमे अप्पसुअत्ति नच्चा ॥
हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा ।
करंति आसायण ते गुरूणं ॥ २ ॥

छा० ये चाऽपि मन्द इति गुरुं विदित्वा ।
डहरो(अल्पवयाः)ऽयमल्पश्रुत इति ज्ञात्वा ॥
हीलयन्ति(अनाद्रियन्ते) मिथ्यात्वं प्रतिपद्यमानाः ।
कुर्वन्त्याशातनां ते गुरूणाम् ॥ २ ॥

'जे आवि०'—ये चाऽपि केचन द्रव्यसाधवो मन्द इति गुरुं विदित्वा—क्षयोपशमवैचित्र्यात् तन्त्रयुक्त्याऽऽलोचनाऽसमर्थः सत्प्रज्ञाविकल इति स्वमाचार्यं ज्ञात्वा, तथा कारणानन्तरस्थापितमप्राप्तवयसं 'डहरोऽयम्'—

अप्राप्तवया खल्वयम्, तथाऽल्पश्रुत इत्यनधीतागम इति विज्ञाय, किमित्याह—"हीलयन्ति असूयया[1] 'महाप्रज्ञस्त्वम्, बहुश्रुतस्त्वम्' इत्येवं मिथ्यात्वं प्रतिपद्यमानाः"—इति गुरुर्न हीलनीय इति तत्त्वमन्यथाऽवगच्छतः कुर्वन्त्याशातनां—लघुतापादनरूपां ते द्रव्यसाधवो गुरुणामाचार्याणां तत्स्थापनाया अबहुमानेन, एकगुर्वाशातनायां सर्वेषामाशातनेति बहुवचनम्, अथवा कुर्वन्त्याशातनाम्—सम्यग्दर्शनादिभावापन्हासरूपां, ते गुरूणां सम्बान्धिनीं, तन्निमित्तत्वात् ॥ २ ॥
अतो न कार्या हीलनेत्याह—

पगईइ मंदा वि भवंति एगे ।
डहरा वि अ जे सुअबुद्धोववेआ ॥
आयारमंता गुणसुट्ठिअप्पा ।
जे हीलिआ सिहिरिव भास कुज्जा ॥ ३ ॥

छा० प्रकृत्या मन्दा अपि भवन्त्येके ।
अल्पवयसोऽपि च ये श्रुतबोधोपपेताः ॥
आचारवन्तो गुणसुस्थितात्मानः ।
येऽनादृताः शिखीव भस्म कुर्युः ॥ ३ ॥

१ 'सूययाऽसूयया खिंसयन्ति, सूययाऽतिप्रज्ञस्त्वं वयोवृद्धो बहुश्रुत इति, असूयया वा मन्दप्रज्ञस्त्वमित्यादि' प्रत्यन्तरे ।

'पगईइ०'—प्रकृत्या—स्वभावेन मन्दा अपि—सद्बुद्धिरहिता अपि भवन्त्येके केचन वयोवृद्धा अपि, तथा डहरा अपि चाऽपरिणता अपि च वयसाऽन्येऽमन्दा भवन्तीति वाक्यशेषः। किंविशिष्टाः? इत्याह—ये श्रुतबुद्ध्युपेताः, तथा सत्प्रज्ञावन्तः श्रुतेन बुद्धिभावेन (वा) भाविनीं वृत्तिमाश्रित्य अल्पश्रुता इति, द्वयेऽप्याचारवन्तः—ज्ञानाद्याचारसमन्विताः, गुणसुस्थितात्मानः—संग्रहोपग्रहादिषु गुणेषु सुष्ठु—भावसारं स्थित आत्मा येषां ते तथाविधा न हीलनीयाः, ये हीलिताः शिखीव—अग्निरिव (इन्धनं) 'भास'—भस्मसात्कुर्युः ॥ ३ ॥ विशेषेण डहरहीलनादोषमाह—

जे आवि नागं डहरं ति नच्चा।
आसायए से अहिआय होइ ॥
एवायरिअं पि हु हीलयंतो।
निअच्छइ जाइपहं खु मंदे ॥ ४ ॥

छा० ये चाऽपि नागमल्पवयसामिति ज्ञात्वा।
आशातयेयुः सोऽहिताय भवति ॥
एवमाचार्यमप्यनाद्रियमाणः।
नियच्छति जातिपन्थानं खलु मन्दः ॥ ४ ॥

'जे आवि०'—यश्चाऽपि कश्चिदज्ञो नागं डहरमिति ज्ञात्वा आशातयति—किलिञ्चादिना कदर्थयति स

कदर्थ्यमानो नागः से—तस्य कदर्थकस्य अहिताय भवति, एवमाचार्यमपि हीलयन् जातिपथं(पन्थानं)—द्वीन्द्रियादिजातिमार्गं मन्दः—अज्ञः संसारे परिभ्रमतीति ॥ ४ ॥

आसीविसो वा वि परं सुरुट्ठो ।
किं जीवनासाउ परं नु कुज्जा ॥
आयरिअपाया पुण अप्पसण्णा ।
अबोहि आसायण णत्थि मुक्खो ॥ ५ ॥

छा० आशीविषो वाऽपि परं सुरुष्टः ।
किं जीवनाशात् परं नु कुर्यात् ॥
आचार्यपादाः पुनरप्रसन्नाः ।
अबोधिमाशातनया नाऽस्ति मोक्षः ॥ ५ ॥

'आसीविसो०'—आशीविषश्चाऽपि—सर्पोऽपि परं सुरुष्टः सन् किं जीवितनाशात्परं कुर्यात् ? आचार्यपादाः पुनरप्रसन्नाः किं कुर्वन्तीत्याह—अबोधिं—मिथ्यात्वं यतश्चैवमत आशातनया गुरोर्नाऽस्ति मोक्षः ॥ ५ ॥

जो पावगं जलिअमवक्कमिज्जा ।
आसीविसं वा वि हु कोवइज्जा ॥

जो वा विसं खायइ जीविअट्ठी ।
एसोवमासायणया गुरूणं ॥ ६ ॥

छा० य: पावकं ज्वलितमपक्राम्येत् ।
आशीविषं वाऽपि हि कोपयेत् ॥
यो वा विषं खादति जीवितार्थी ।
एषोपमाऽऽशातनाया गुरूणाम् ॥ ६ ॥

'जो पावगं०'—यः पावकं ज्वलितम् सन्तमवक्रामेत्—अवष्टभ्य तिष्ठति, आशीविषं वाऽपि (हि) कोपयेद्यो वा विषं खादति जीवितार्थी, एषा उपमा आशातनया गुरूणां सम्बन्धिन्या ॥ ६ ॥

सिआ हु से पावय णो डहिज्जा ।
आसीविसो वा कुविओ न भक्खे ॥
सिआ विसं हालहलं न मारे ।
न यावि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥ ७ ॥

छा० स्याद्धि स पावको न दहेत् ।
आशीविषो वा कुपितो न भक्षयेत् ॥

स्याद्विषं हालाहलं न मारयेत्।
न चाऽपि मोक्षो गुर्ववज्ञया(गुरुहीलनातः) ॥ ७ ॥

'सिआ०'—स्यात्कदाचिन्मन्त्रादिप्रतिबन्धादसौ पावको न दहेत्, आशीविषो वा कुपितो न भक्षयेत्, स्यात्कदाचिद्विषं हालाहलम्—अतिरौद्रं न मारयेत्, एवमेतत्कदाचिद्भवति, न चाऽपि मोक्षो गुरुहीलनया ॥ ७ ॥

जो पव्वयं सिरसा भित्तुमिच्छे।
सुत्तं च सीहं पडिबोहइज्जा ॥
जो वा दए सत्तिअग्गे पहारं।
एसोवमासायणया गुरूणं ॥ ८ ॥

छा० यः पर्वतं शिरसा भेत्तुमिच्छेत्।
सुप्तं च सिंहं प्रतिबोधयेत् ॥
यो वा ददीत शक्त्यग्रे प्रहारम्।
एषोपमाऽऽशातनाया गुरूणाम् ॥ ८ ॥

'जो पव्वयं०'—यः पर्वतं शिरसा भेत्तुमिच्छेत्, सुप्तं च सिंहं प्रतिबोधयेत्, यो वा शक्त्यग्रे प्रहारं ददाति हस्तेन, एषोपमाऽऽशातनया गुरूणाम् ॥ ८ ॥ अत्र विशेषमाह—

सिआ हु सीसेण गिरिं पि भिंदे ।
सिआ हु सीहो कुविओ न भक्खे ॥
सिआ न भिंदिज्ज व सत्तिअग्गं ।
न यावि मुक्खो गुरुहीलणाए ॥ ९ ॥

छा० स्याद्धि शीर्षेण गिरिमपि भिन्द्यात् ।
स्याद्धि सिंहः कुपितो न भक्षयेत् ॥
स्यान्न भिन्द्याद्वा शक्त्यग्रम् ।
न चाऽपि मोक्षो गुर्ववज्ञया(गुरुहीलनातः) ॥ ९ ॥

'सिआ हु०'—स्यात्कदाचित्प्रभावा[1]च्छिरसा गिरिमपि भिन्द्यात् , स्यान्मन्त्रादिप्रभावात् सिंहः कुपितो न भक्षयेत्, स्याद्देवताऽनुग्रहादेर्न भिन्द्यात्—शक्त्यग्रे प्रहारं दत्तेऽपि, एवमेतत्कदाचिद्भवति, न चाऽपि मोक्षो गुरुहीलनया ॥ ९ ॥

आयरियपाया पुण अप्पसण्णा ।
अबोहि आसायण णत्थि मुक्खो ॥

१ वासुदेवादिः (प्रभावातिशया) ।

तम्हा अणाबाहसुहाभिकंखी ।
गुरुप्पसायाभिमुहो रमिज्जा ॥ १० ॥

छा० आचार्यपादाः पुनरप्रसन्नाः ।
अबोधिमाशातनया नाऽस्ति मोक्षः ॥
तस्मादनाबाधसुखाभिकांक्षी ।
गुरुप्रसादाभिमुखो रमेत ॥ १० ॥

'आयरिय०'—पूर्वार्द्धः पूर्ववत्, यस्मादेवं तस्मादनाबाधसुखाभिकांक्षी—मोक्षसुखाभिलाषी (साधुः) गुरुप्रसादाभिमुखो रमेत—वर्तेत ॥ १० ॥ कथं रमेत ? इत्याह—

जहाहिअग्गी जलणं नमंसे ।
नाणाहुइमंतपयाभिसित्तं ॥
एवायरिअं उवचिट्ठइज्जा ।
अणंतणाणोवगओ वि संतो ॥ ११ ॥

छा० यथाऽऽहिताग्निर्ज्वलनं नमस्यति ।
नानाऽऽहुतिमन्त्रपदाभिषिक्तम् ॥

एवमाचार्यमुपतिष्ठेत ।
अनन्तज्ञानोपगतोऽपि सन् ॥ ११ ॥

'जहाहिअग्गी०'—यथाऽऽहिताग्निर्ब्राह्मणोऽनलं नमस्यति 'नाणाहुइ०'—नानाऽऽहुतिमन्त्रपदाभिषिक्तम्—(तत्र) आहुतयो घृताद्याः, मन्त्रपदानि—'अग्नये स्वाहा' इत्यादीनि, तैरभिषिक्तम्, एवमग्निमिवाचार्यमुपतिष्ठेत—सेवेत, अनन्तज्ञानोपगतोऽपि सन् ॥११॥ एतदेव स्पष्टयति—

जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे ।
तस्संतिए वेणइयं पउंजे ॥
सक्कारए सिरसा पंजलीओ ।
कायग्गिरा भो मणसा य निच्चं ॥ १२ ॥

छा० यस्यान्तिके धर्मपदानि शिक्षेत ।
तस्यान्तिके वैनयिकं प्रयुञ्जीत ॥
सत्कारयेच्छिरसा प्राञ्जलिकः ।
कायेन गिरा 'भो' मनसा च नित्यम् ॥ १२ ॥

'जस्संतिए०'—यस्याऽन्तिके धर्मपदानि शिक्षेत तस्याऽन्तिके वैनयिकं प्रयुञ्जीत, सत्कारयेदभ्युत्थाना-

दिना, शिरसा प्राञ्जलिः सन्, कायेन गिरा–'मस्तकेन वन्दे' इत्यादिरूपया, 'भो' इति शिष्याऽऽमन्त्रणम्, मनसा च नित्यं–सदैव ॥१२॥ एवं च मनसि कुर्यादित्याह–

लज्जा दया संजम बंभचेरं ।
कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं ॥
जे मे गुरू सययमणुसासयंति ।
तेऽहं गुरू सययं पूअयामि ॥ १३ ॥

छा० लज्जा–दया–संयम–ब्रह्मचर्यम् ।
कल्याणभाजो विशुद्धिस्थानम् ॥
ये मां गुरवः सततमनुशासयन्ति ।
तानहं गुरून् सततं पूजयामि ॥ १३ ॥

'लज्जा दया०'–लज्जा दया संयमो ब्रह्मचर्यम्, एतल्लज्जादि कल्याणभागिनः–मोक्षभागिनो जीवस्य विशोधिस्थानं–कर्ममलापनयनस्थानम्, अनेन ये मां गुरवः सततमनुशासयन्ति तानहं गुरून् सततं पूजयामि ॥१३॥

जहा णिसंते तवणच्चिमाली ।
पभासइ केवलभारहं तु ॥

एवायरिओ सुअसीलबुद्धिए ।
विरायइ सुरमज्झे व इंदो ॥ १४ ॥

छा० यथा निशान्ते तपनोऽर्चिर्माली ।
प्रभासते केवलभारतं तु ॥
एवमाचार्यः श्रुतशीलबुद्ध्या ।
विराजते सुरमध्य इव इन्द्रः ॥ १४ ॥

'जहा०'—यथा निशान्ते—रात्र्यवसाने, दिवस इत्यर्थः, तपन्नर्चिर्माली—सूर्यः प्रभासयते—उद्योतयति केवलं—संपूर्णं भारतं, 'तु'—शब्दादन्यच्च क्रमेण, एवं सूर्य इव आचार्यः श्रुतशीलबुद्ध्या युक्तः सन् प्रकाशयति जीवादितत्त्वान् । एवञ्च वर्तमानः साधुभिः परिवृतो विराजते सुरमध्य इव इन्द्रः ॥१४॥

जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो ।
नक्खत्त—तारागण—परिवुडप्पा ॥
खे सोहइ विमले अब्भमुक्के ।
एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे ॥ १५ ॥

छा० यथा शशी कौमुदीयोगयुक्तः ।
नक्षत्र—तारागण—परिवृतात्मा ॥

खे शोभते विमलेऽभ्रमुक्ते ।
एवं गणी शोभते भिक्षुमध्ये ॥ १५ ॥

'जहा०'—यथा शशी—चन्द्रः कौमुदीयोगयुक्तः—कार्तिकपौर्णिमास्यामुदितमित्यर्थः, नक्षत्र-तारागण-परिवृताऽऽत्मा खे—आकाशे शोभते विमलेऽभ्रमुक्ते, एवं चन्द्र इव गणी-आचार्यः शोभते भिक्षुमध्ये—साधुमध्ये ॥ १५ ॥ किञ्च—

महागरा आयरिआ महेसी ।
समाहिजोगे सुअसीलबुद्धिए ॥
संपाविउकामे अणुत्तराइं ।
आराहए तोसए धम्मकामी ॥ १६ ॥

छा० महाकरा आचार्या महर्षयः ।
समाधियोगेन श्रुतशीलबुद्ध्या ॥
सम्प्राप्तुकामोऽनुत्तराणि ।
आराधयेत्तोषयेद्धर्मकामी ॥ १६ ॥

'महागरा०'—महाकराः—ज्ञानादिभावरत्नाकरा आचार्या महैषिणः—मोक्षैषिणः 'समाधियोगश्रुतशील-बुद्धिभिः'—समाधियोगैः—ध्यानविशेषैः, श्रुतेन—द्वादशाङ्गाभ्यासेन, शीलेन—सदाचारेण, बुद्ध्या—औत्पत्तिक्यादिरूपया,

अन्ये तु व्याचक्षते—समाधियोगश्रुतशीलबुद्धीनां महाकरा इति । सम्प्राप्तुकामोऽनुत्तराणि ज्ञानादीनि (तान्) आराधयेत्, विनयकरणेन, न सकृदेव, अपि तु तोषयेत् तानेवम्भूतानाचार्यान्, धर्मकामी—साधुः ॥ १६ ॥

सुच्चाण मेहावि सुभासिआइं ।
सुस्सूसइ आयरिअ अप्पमत्तो ॥
आराहइत्ताण गुणे अणेगे ।
से पावइ सिद्धिमणुत्तरं ॥ १७ ॥ त्ति बेमि ।

छा० **श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि ।**
शुश्रूषत आचार्यमप्रमत्तः ॥
आराध्य गुणाननेकान् ।
स प्राप्नोति सिद्धिमनुत्तराम् ॥ १७ ॥ इति ब्रवीमि ।

'सुच्चाण०'—श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि—गुर्वाराधनाफलाऽभिधायीनि शुश्रूषयेदाचार्यान्, अप्रमत्तः—यतिः, य एव गुरुशुश्रूषापरः स आराध्य गुणान् अनेकान् प्राप्नोति सिद्धिमनुत्तराम् ॥१७॥ इति ब्रवीमीति पूर्ववत् । इति विनयसमाध्यध्ययनस्य नवमस्य प्रथमोद्देशाऽवचूर्णिः ।



॥ अथ द्वितीयोद्देशः ॥



विनयाऽधिकारवानेव द्वितीय उच्यते—

मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स ।
खंधाउ पच्छा समुविंति साहा ॥
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता ।
तओ सि[1] पुप्फं च फलं रसो अ ॥ १ ॥

छा० मूलात्स्कन्धप्रभवो द्रुमस्य ।
स्कन्धात्पश्चात्समुद्यान्ति शाखाः ॥
शाखाप्रशाखाभ्यो विरोहन्ति पत्राणि ।
ततस्तस्य पुष्पं च फलं रसश्च ॥ १ ॥

'मूलाउ०'—मूलात् स्कन्धप्रभवः—स्थूडोत्पत्तिर्द्रुमस्य, स्कन्धात् पश्चात्—तदनु समुपयान्ति शाखाः, शाखाभ्यः प्रशाखाः, 'विरुहंति'त्ति—विरोहन्ति—जायन्ते, तेभ्योऽपि विरोहन्ति पत्राणि, ततः से—तस्य द्रुमस्य पुष्पं च फलं च रसश्च ॥१॥ दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकयोजनामाह—

१ छान्दसत्वात् 'से' इति स्थाने 'सि'।

एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मुक्खो ।
जेण कित्तिं सुअं सिग्घं णिस्सेसं चाभिगच्छइ ॥ २ ॥

छा० एवं धर्मस्य विनयो मूलं, परमस्तस्य मोक्षः ।
येन कीर्तिं श्रुतं शीघ्रं, निःशेषं चाभिगच्छति ॥ २ ॥

'एवं धम्मस्स०'—एवं धर्मकल्पवृक्षस्य विनयो मूलं, परमः—प्रधानरसकल्पः से—तस्य विनयमूलस्य मोक्षः, स्कन्धादिकल्पानि सुराऽसुरसुखानि, येनेति [तृतीया पञ्चम्यर्थे] यतो विनयात् पत्रकल्पां कीर्तिं, पुष्पकल्पं श्रुतं, श्लाघ्यं निःशेषं—सम्पूर्णं चाऽऽधिगच्छति—प्राप्नोति ॥२॥ अविनयवतो दोषमाह—

जे अ चंडे मिए थद्धे दुव्वाई निअडी सढे ।
वुज्झइ से अविणीअप्पा कट्ठं सोअगयं जहा ॥ ३ ॥

छा० यश्च चण्डो मृगः स्तब्धः, दुर्वादी निकृती शठः ।
उह्यतेऽसावविनीतात्मा, काष्ठं श्रोतोगतं यथा ॥ ३ ॥

'जे अ०'—यश्च चण्डः—रोषणः, मृगः—मूर्खः, स्तब्धः—जात्यादिमदोन्मत्तः, दुर्वादी—अप्रियवक्ता, निकृतिमान्—मायावी, शठः—संयमयोगेष्वनादृतः, एतेभ्यो दोषेभ्यो यो विनयं करोति, 'वुज्झइ'त्ति उह्यते स संसारस्रोतसा अविनीतात्मा, किमिवेत्याह—काष्ठं स्रोतोगतं यथा ॥ ३ ॥ किञ्च—

विणयम्मि जो उवाएण चोइओ कुप्पइ नरो ।
दिव्वं सो सिरिमिज्जंतिं दंडेण पडिसेहए ॥ ४ ॥
छा० विनये य उपायेन, नोदितः कुप्यति नरः ।
दिव्यां स श्रियमायान्तीं, दण्डेन प्रतिषेधयति ॥ ४ ॥

'विणयम्मि०'—विनये य उपायेन—प्रका(एका)न्तमृदुरूपेण चोदितः—उक्तः कुप्यति नरः, दिव्यां स पुमान् श्रियमागच्छन्तीं दण्डेन प्रतिषेधयति ॥ ४ ॥ अविनयदोषमाह—

तहेव अविणीअप्पा उववज्झा हया गया ।
दीसंति दुहमेहंता आभिओगमुवट्ठिआ ॥ ५ ॥
छा० तथैवाविनीतात्मानः, उपवाह्या हया गजाः ।
दृश्यन्ते दुःखमेधयन्तः, आभियोग्यमुपास्थिताः ॥ ५ ॥

'तहेव०'—तथैव इति, तथा चैते अविनीतात्मानः—विनयरहिता अनात्मज्ञाः, उपवाह्यानां राजादिवल्लभानां एते कर्मकरा इति औपवाह्या हया गजाः, उपलक्षणमेतत्, महिषिकादीनामिति । एते किमित्याह—दृश्यन्ते अविनयदोषेण तृणादिवोढारः, दुःखमेधमानाः, अनेकार्थत्वात्, अनुभवन्तः, आभियोग्यं—कर्मकरत्वमुपस्थिताः—प्राप्ताः ॥५॥ एतेष्वेव विनयगुणमाह—

तहेव सुविणीअप्पा उववज्झा हया गया ।
दीसंति सुहमेहंता इड्ढिं पत्ता महाजसा ॥ ६ ॥

छा० तथैव सुविनीतात्मानः, उपवाह्या हया गजाः ।
दृश्यन्ते सुखमेधयन्तः, ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥ ६ ॥

'तहेव०'—तथैव सुविनीतात्मान औपवाह्या हया गजा दृश्यन्ते विनयगुणेन सुखमेधमानाः, ऋद्धिं प्राप्ताः—विशिष्टभूषणालयभोजनादिभावतः प्राप्तर्द्धयः, महायशसः—विख्यातसद्गुणाः ॥ ६ ॥ उक्तस्तिर्यञ्चमाश्रित्य विनयः, इदानीं मनुष्यानधिकृत्याह—

तहेव अविणीअप्पा लोगंसि नरनारीओ ।
दीसंति दुहमेहंता छाया ते विगलिंदिआ ॥ ७ ॥

छा० तथैवाविनीतात्मानः, लोके नरनार्यः ।
दृश्यन्ते दुःखमेधयन्त्यः, छातास्ते विकलेन्द्रियाः ॥ ७ ॥

'तहेव०'—तथैवाऽविनीतात्मानो लोकेऽस्मिन्—मनुष्यलोके नरनार्यो दृश्यन्ते दुःखमेधमानाः, छाकाः(ताः)-कशाघातव्रणाङ्कितशरीराः, विगलितेन्द्रियाः—अपनीतनासिकादीन्द्रियाः पारदारिकादय इति ॥ ७ ॥

दंडसत्थपरिजुण्णा असब्भवयणेहि अ ।
कलुणा विवण्णछंदा खुप्पिवासाइ परिगया ॥ ८ ॥

छा० दण्डशस्त्रपरिजीर्णाः, असभ्यवचनैश्च ।
करुणा व्यापन्नच्छन्दसः, क्षुत्पिपासादि-परिगताः ॥ ८ ॥

'दंडसत्थ०'—दण्डशस्त्राभ्यां परिजीर्णाः—समन्ततो दुर्बलभावमापादिताः, असभ्यवचनैश्च परिजीर्णाः, करुणाः—दीनाः, सतां करुणास्पदीभूताः, आपन्नच्छन्दसः—परायत्ततयाऽपेतस्वाभिप्रायाः, क्षुधा—बुभुक्षया पिपासया—पानेच्छया परिगताः—व्याप्ताः ॥ ८ ॥ विनयफलमाह—

तहेव सुविणीअप्पा लोगंसि नरनारीओ ।
दीसंति सुहमेहंता इड्ढिं पत्ता महाजसा ॥ ९ ॥

छा० तथैव सुविनीतात्मानः, लोके नरनार्यः ।
दृश्यन्ते सुखमेधयन्त्यः, ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥ ९ ॥

'तहेव०'—तथैव सुविनीताऽऽत्मानो लोकेऽस्मिन् नरनार्यो दृश्यन्ते सुखमेधमाना ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥ ९ ॥ देवानधिकृत्याह—

तहेव अविणीअप्पा देवा जक्खा य गुज्झगा ।
दीसंति दुहमेहंता आभिओगमुवट्ठिआ ॥ १० ॥

छा० तथैवाविनीतात्मानः, देवा यक्षाश्च गुह्यकाः ।
दृश्यन्ते दुःखमेधयन्तः, आभियोग्यमुपस्थिताः ॥ १० ॥

'तहेव०'—तथैवाऽविनीताऽऽत्मानो भवान्तरे अकृतविनया देवा यक्षाश्च व्यन्तराश्च गुह्यकाः—भवनवासिनः, ते—एते दृश्यन्ते आगमभावचक्षुषा दुःखमेधमानाः, पराऽऽज्ञाकरण—परऋद्धिदर्शनादिना, आभियोग्यमुपस्थिताः ॥ १० ॥ विनयफलमाह—

तहेव सुविणीअप्पा देवा जक्खा य गुज्झगा ।
दीसंति सुहमेहंता इड्ढिं पत्ता महाजसा ॥ ११ ॥

छा० **तथैव सुविनीतात्मानः, देवा यक्षाश्च गुह्यकाः ।**
दृश्यन्ते सुखमेधयन्तः, ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥ ११ ॥

'तहेव०'—तथैव सुविनीताऽऽत्मानो देवा यक्षाश्च गुह्यका दृश्यन्ते सुखमेधमाना ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥ ११ ॥ लौकिकविनयाऽविनयफलमुक्तम्, अधुना विशेषतो लोकोत्तरविनयफलमाह—

जे आयरिअउवज्झायाणं सुस्सूसा-वयणं-करा ।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति जलसित्ता इव पायवा ॥ १२ ॥

छा० **य आचार्योपाध्यायानां, शुश्रूषा—वचन—कराः ।**
तेषां शिक्षाः प्रवर्द्धन्ते, जलसिक्ता इव पादपाः ॥ १२ ॥

'जे आय०'—ये आचार्योपाध्याययोः शुश्रूषावचनकराः, तेषां शिक्षाः—ग्रहणाऽऽसेवनरूपाः प्रवर्द्धन्ते, जलसिक्ता इव पादपाः ॥ १२ ॥ एतच्च मनस्याधाय विनयः कार्य इत्याह—

अप्पणट्ठा परट्ठा वा सिप्पा णेउणिआणि अ ।
गिहिणो उवभोगट्ठा एहलोगस्स कारणा ॥ १३ ॥
छा० आत्मार्थं परार्थं वा, शिल्पानि नैपुण्यानि च ।
गृहिण उपभोगार्थम्, इहलोकस्य कारणात् ॥ १३ ॥

'अप्पणट्ठा०'—आत्मार्थं वा—आत्मनिमित्तं वा, अनेन मे जीविका भविष्यतीति, परार्थं वा—परनिमित्तं वा, पुत्रमहं शास्त्रं ग्राहयिष्यामि, इत्येवं शिल्पानि—कुम्भकाराक्रियादीनि नैपुण्यानि च—चित्रादिकलाकौशलानि, गृहिणोऽसंयता उपभोगार्थम्—अन्नपानादिभोगाय शिक्षन्ते इति शेषः, इहलोकस्य कारणम्—निमित्तम् ॥ १३ ॥

जेण बंधं वहं घोरं परिआवं च दारुणं ।
सिक्खमाणा निअच्छंति जुत्ता ते ललिइंदिआ ॥ १४ ॥
छा० येन बन्धं वधं घोरं, परितापं च दारुणम् ।
शिक्षमाणा नियच्छन्ति, युक्तास्ते ललितेन्द्रियाः ॥ १४ ॥

'जेण०'—येन शिल्पादिना शिक्ष्यमाणेन बन्धं—निगडादिभिः, वधं—कषादिभिः, घोरं—रौद्रं परितापं च दारुणं—निर्भर्त्सनादिवचनजनितं शिक्षमाणा गुरोः सकाशान्ने(न्निय)च्छन्ति—प्राप्नुवन्ति, युक्ताः—नियुक्ताः शिल्पादिग्रहणे ते ललितेन्द्रियाः—गर्भेश्वरराजपुत्रादयः ॥ १४ ॥

ते विमं(वि तं) गुरुं पूअंति तस्स सिप्पस्स कारणा ।
सक्कारंति नमंसंति तुट्ठा निद्देसवत्तिणो ॥ १५ ॥
छा० तेऽपीमं(पि तं) गुरुं पूजयन्ति, तस्य शिल्पस्य कारणात् ।
सत्कारयन्ति नमस्यन्ति, तुष्टा निर्देशवर्तिनः ॥ १५ ॥

'ते वि०'—तेऽपि तं गुरुं बन्धादिकारकमपि पूजयन्ति प्रणामादिना तस्य शिल्पस्येत्वरस्य कारणात्—तन्निमित्तत्वादिति भावः, सत्कारयन्ति वस्त्रादिना, नमस्यन्ति अञ्जलिप्रग्रहणादिना, दृष्ट्वा (तुष्टाः—हृष्टाः) निर्देशवर्तिनः ॥ १५ ॥ अतः—

किं पुण जे सुअग्गाही अणंतहिअकामए ।
आयरिआ जं वए भिक्खू तम्हा तं नाइवत्तए ॥ १६ ॥
किं पुनर्यः श्रुतग्राही, अनन्तहितकामकः ।
आचार्या यद्वदेयुः, भिक्षुस्तस्मात्तन्नातिवर्तयेत् ॥ १६ ॥

'किं पुण०'—किम्पुनर्यः साधुः श्रुतग्राही, अनन्ताहितकामकः-मोक्षकामी, तेन तु सुतरां गुरवः पूजनीयाः, यतश्चैवमत आचार्या यद्वदन्ति भिक्षुस्तस्मात्तदाचार्यवचनं नातिवर्तयेत्, सर्वमेव संपादयेत् ॥ १६ ॥ विनयोपायमाह—

नीअं सिज्जं गइं ठाणं नीअं च आसणाणि अ ।
नीअं च पाए वंदिज्जा नीअं कुज्जा य अंजलिं ॥ १७ ॥

छा० नीचां शय्यां गतिं स्थानं, नीचानि चाऽऽसनानि च ।
नीचं च पादौ वन्देत, नीचं कुर्याच्चाऽञ्जलिम् ॥ १७ ॥

' नीअं०'—नीचां शय्यां—संस्तारकरूपाम्, आचार्यशय्यायाः सकाशादिति योगः, नीचां गतिं—तत्पृष्ठतो नाऽतिदूरे नाऽतिद्रुतं, नीचं स्थानम्—आचार्यस्थानात्, नीचानि आसनानि—पीठकादीनि, नीचं च—अवनतोत्तमाङ्गः सन् पादावाचार्यसत्कौ वन्देत, क्वचित्प्रश्नादौ नीचं—नम्रकायं कुर्याद्वाऽञ्जलिम्, कुर्यादिति सर्वत्र क्रिया योज्या, नीचां शय्यां कुर्यादिति योगः ॥ १७ ॥ कायविनयमुक्त्वा वाग्विनयमाह—

संघट्टइत्ता काएणं तहा उवहिणामवि ।
खमेह अवराहं मे वइज्ज न पुणुत्ति अ ॥ १८ ॥

छा० सङ्घट्ट्य कायेन, तथोपधिनाऽपि ।
क्षमस्वापराधं मे, वदेन्न पुनरिति च ॥ १८ ॥

' संघट्टइत्ता०'—संघट्ट्य—स्पृष्ट्वा कायेन—देहेन, तथोपाधिनाऽपि—कल्पादिना (संघट्ट्य, मिथ्यादुष्कृतपूर्वं प्रणम्य) ' क्षमस्वाऽपराधं—दोषं मे ' इति वदेत्, न पुनरिति च—न चाऽहमेवं भूयः करिष्यामि ॥ १८ ॥ बुद्धिमान् स्वयं करोत्येवं, तदन्यः कथमित्याह—

दुग्गओ वा पओएणं चोइओ वहइ रहं ।
एवं दुब्बुद्धि किच्चाणं वुत्तो वुत्तो पकुव्वइ ॥ १९ ॥

छा० दुर्गवो वा प्रतोदेन, चोदितो वहति रथम् ।
एवं दुर्बुद्धिः कृत्यानाम्, उक्त उक्तः प्रकरोति ॥ १९ ॥

' दुग्गओ०'—दुर्गौः(दुर्गव) इव—गलिबलीवर्द इव, प्रतोदेन—आरादण्डरूपेण, चोदितः—विद्धः सन् वहति रथम्, एवं दुर्गौरिव दुर्बुद्धिः शिष्यः कृत्यानामाचार्यादीनामुक्तः पुनरभिहित इत्यर्थः, प्रकरोति—निष्पादयति, उचितकार्याणीति शेषः ॥ १९ ॥ एवं कृतान्यमूनि न शोभनानीत्यत आह—

कालं छंदोवयारं च पडिलेहित्ताण हेऊहिं ।
तेण तेण उवाएण तं तं संपडिवायए ॥ २० ॥

छा० कालं छन्दोपचारं च, प्रतिलेख्य हेतुभिः ।
तेन तेनोपायेन, तत्तत्सम्प्रतिपादयेत् ॥ २० ॥

' कालं०'—कालं शरदादि, छन्दः—तदिच्छारूपम् उपचारमाराधनाप्रकारं, ' च '—शब्दाद्देशादिपरिग्रहः, एतत्प्रत्युपेक्ष्य—ज्ञात्वा हेतुभिः--आकारेङ्गितादिभिः, तेनोपायेन—गृहस्थावर्जनादिना तत्तच्चित्तहरादिरूपमशनादि सम्प्रतिपादयेत् ॥ २० ॥

विवत्ती अविणीअस्स संपत्ती विणीअस्स य ।
जस्सेअं दुहओ णायं सिक्खं से अभिगच्छइ ॥ २१ ॥

छा० विपत्तिरविनीतस्य, सम्प्राप्तिर्विनीतस्य च ।
यस्येतदुभयतो ज्ञातं, शिक्षां सोऽभिगच्छति ॥ २१ ॥

'विवत्ती०'–विपत्तिरविनीतस्य गुणानां, सम्प्राप्तिर्विनीतस्य च गुणानाम्, एवं यस्यैतद् गुणप्राप्त्यप्राप्तिद्वयम्–'उभयतो विनयाऽविनयाभ्यां सकाशाद्भवति' इत्येवं ज्ञातं स्यात्, शिक्षां–ग्रहणाऽऽसेवनरूपां सोऽधिगच्छति–प्राप्नोति ॥ २१ ॥ आविनीतफलमाह—

जे आवि चंडे मइ–इड्ढि–गारवे ।
पिसुणे नरे साहसहीण–पेसणे ॥
अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए ।
असंविभागी न हु तस्स मुक्खो ॥ २२ ॥

छा० यश्चाऽपि चण्डो मति–ऋद्धि–गौरवः ।
पिशुनो नरः साहसहीनप्रेषणः ॥
अदृष्टधर्मा विनयेऽकोविदः ।
असंविभागी न हि तस्य मोक्षः ॥ २२ ॥

'जे आवि०'–यश्चाऽपि चण्डः–प्रव्रजितोऽपि रोषणः, ऋद्धिगौरवमतिः–ऋद्धिगारवेऽभिनिविष्टः, पिशुनः–

पृष्ठि(ष्ठ)मांसखादको नरः, साहसिकः—अकृत्यकरणपरः, हीनप्रेषणः—हीनगुर्वाज्ञाकरः, अदृष्टधर्मा—सम्यगनुपलब्धश्रुतादि-धर्मा, विनयेऽकोविदः—विनयविषयेऽपण्डितः, असंविभागी—यत्र क्वचन लाभे न संविभागवान्, नैवं तस्य एवंप्रकारस्य मोक्षः ॥ २२ ॥ उपसंहरन्नाह—

निद्देसवत्ती पुण जे गुरूणं ।
सुअत्थधम्मा विणअम्मि कोविआ ॥
तरित्तु ते ओघमिणं दुरुत्तरं ।
खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया ॥ २३ ॥ त्ति बेमि ।

छा० **निर्देशवर्तिनः पुनर्ये गुरूणाम् ।**
श्रुतार्थधर्माणो विनये कोविदाः ॥
तीर्त्वा ते ओघमिमं दुरुत्तरम् ।
क्षपयित्वा कर्म गतिमुत्तमां गताः ॥ २३ ॥ इति ब्रवीमि ।

'निद्देसवत्ती०'—निर्देशवर्तिनः—पुनराज्ञावर्तिनः, ये गुरूणां 'श्रुतार्थधर्माः' [इति प्राकृतत्वात्] श्रुत-धर्मार्थाः—गीतार्था इत्यर्थः, विनये कोविदाः, तीर्त्वा ते महासत्त्वा ओघम्—एनं प्रत्यक्षोपलभ्यं भवप्रवाहं दुरुत्तरं,

क्षपयित्वा कर्म गतिमुत्तमां—सिद्धाख्यां गताः ॥ २३ ॥ ब्रवीमीति पूर्ववत् । इति विनयसमाध्यध्ययनस्य नवमस्य द्वितीयोद्देशाऽवचूर्णिः ।



॥ अथ तृतीयोद्देशः ॥

विनीतः पूज्य इत्युपदर्शयन्नाह—

आयरिअमग्गिमिवाहिअग्गी ।
सुस्सूसमाणो पडिजागरिज्जा ॥
आलोइअं इंगिअमेव नच्चा ।
जो छंदमाराहयइ स पुज्जो ॥ १ ॥

छा० **आचार्यमग्निमिवाऽऽहिताग्निः ।**
शुश्रूषमाणः प्रतिजागर्यात् ॥
आलोकितामिङ्गितमेव ज्ञात्वा ।
यश्छन्दमाराधयति स पूज्यः ॥ १ ॥

'आयरिअ०'—आचार्यं सूत्रार्थप्रदम्, अग्निमिवाऽऽहिताग्निर्ब्राह्मणः शुश्रूषमाणः प्रतिजाग्रत्(गृयात्) यावत् तत्कृत्यसम्पादनेनोपचरेत् । आह—'यथाऽऽहिताग्निः' इत्यादिना प्रागिदमुक्तमेव, सत्यम्, किन्तु तदाचार्यमेवाङ्गीकृत्य उक्तम्, इदन्तु रत्नाधिकादिकमप्याधिकृत्योच्यते, वक्ष्यति च—'रायणिएसु विणयं' इत्यादि, प्रतिजागरणोपायमाह— आलोकितमिङ्गितं ज्ञात्वा यः साधुश्छन्दो(न्दम्)—अभिप्रायमेति (आराधयति) स पूज्यः ॥ १ ॥ एतदेवाह—

आयारमट्ठा विणयं पउंजे ।
सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं ॥
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो ।
गुरुं तु नासाययइ स पुज्जो ॥ २ ॥

छा० आचारार्थं विनयं प्रयुञ्जीत ।
शुश्रूषमाणः परिगृह्य वाक्यम् ॥
यथोपदिष्टमभिकाङ्क्षन् ।
गुरुं तु नाशातयति स पूज्यः ॥ २ ॥

'आयारमट्ठा०'—आचारार्थं—ज्ञानादिनिमित्तं विनयं प्रयुङ्क्ते, शुश्रूषन्(माणः)—श्रोतुमिच्छन् 'किमयं वक्ष्यतीति', एवं तदनु—तेनोक्ते सति परिगृह्य वाक्यमाचार्यीयं यथोपदिष्टं—यथोक्तमभिकांक्षन् विनयं प्रयुङ्क्ते, अविनयकरणेन गुरुं तु नाशातयति—न हीलयति यः स पूज्यः ॥ २ ॥

रायणिएसु विणयं पउंजे ।
डहरा वि अ जे परिआयजिट्ठा ॥
नीअत्तणे वट्टइ सच्चवाई ।
उवायवं वक्ककरे स पुज्जो ॥ ३ ॥

छा० रात्निकेषु विनयं प्रयुञ्जीत ।
अल्पवयसोऽपि च ये पर्यायज्येष्ठाः ॥
नीचत्वे वर्तते सत्यवादी ।
अवपातवान्वाक्यकरः स पूज्यः ॥ ३ ॥

'रायणिएसु०'—रत्नाधिकेषु विनयं प्रयुङ्क्ते, तथा डहरा अपि च ये वयःश्रुताभ्यां, पर्यायज्येष्ठाः—चिरप्रव्रजिताः, तेषु च विनयं प्रयुङ्क्ते, एवं यो नीचत्वे—गुणाधिकान् प्रति नीचभावे वर्तते, सत्यवादी—अविरुद्धवक्ता, तथाऽवपातवान्—वन्दनशीलो निकटवर्ती वा, यो वाक्यकरः—गुरुनिर्देशकरणशीलः स पूज्यः ॥ ३ ॥

अण्णायउंछं चरइ विसुद्धं ।
जवणट्ठया समुआणं च निच्चं ॥
अलद्धुअं णो परिदेवइज्जा ।
लद्धुं न विकत्थइ स पुज्जो ॥ ४ ॥

छा० अज्ञातोञ्छं चरति विशुद्धम् ।
यापनार्थं समुदानं च नित्यम् ॥
अलब्ध्वा न परिदेवयेत् ।
लब्ध्वा न विकत्थते स पूज्यः ॥ ४ ॥

'अण्णाय०'—अज्ञातोञ्छं परिचयाऽकरणेनाऽज्ञातः सन् भावोञ्छं गृहस्थोद्वरितादि चरति, अटित्वाऽऽनीतं भुङ्क्ते, न तु ज्ञातः तद्बहुमतामिति, विशुद्धम्—उद्गमादिदोषरहितम्, यापनार्थ—संयमदेहपालनाय समुदानञ्च—उचित-भिक्षालब्धं नित्यं न तूञ्छमपि—अत्रैकमेव(एकत्रैव)लब्धं कादाचित्कं वा, अलब्ध्वा—अप्राप्य न परिदेवयेत्—नो खेदं यायात्, लब्ध्वा—प्राप्योचितं न विकत्थते—न श्लाघां करोति यः स पूज्यः ॥ ४ ॥

संथारसिज्जासणभत्तपाणे ।
अप्पिच्छया अइलाभे वि संते ॥
जो एवमप्पाणभितोसइज्जा ।
संतोसपाहण्णरए स पुज्जो ॥ ५ ॥

छा० संस्तारशय्यासनभक्तपाने ।
अल्पेच्छताऽतिलाभेऽपि सति ॥
य एवमात्मानमभितोषयेत् ।
सन्तोषप्राधान्यरतः स पूज्यः ॥ ५ ॥

'संथार०'—संस्तारकशय्याऽऽसनभक्तपानानि एतेष्वल्पेच्छता, अतिलाभे सत्यपि य एवमात्मानमभितोषयति, सन्तोषप्राधान्यरतः—सन्तोष एव प्रधानभावे रतः स पूज्यः ॥ ५ ॥ इन्द्रियसमाधिद्वारेण पूज्यतामाह—

सक्का सहेउ आसाइ कंटया ।
अओमया उच्छहया नरेणं ॥
अणासए जो उ सहिज्ज कंटए ।
वईमए कण्णसरे स पुज्जो ॥ ६ ॥

छा० शक्याः सोढुमाशातः(आशया) कण्टकाः ।
अयोमया उत्सहमानेन नरेण ॥
अनाशयो यस्तु सहेत कण्टकान् ।
वाङ्मयाङ्कर्णशरान् स पूज्यः ॥ ६ ॥

'सक्का०'—शक्याः सोढुमाशया—'इतीदं मे भविष्यतीति प्रत्याशया' कण्टका अयोमयाः—लोहात्मकाः, उत्सहता(मानेन) नरेण—अर्थोद्यमिनेत्यर्थः । अनाशया—फलप्रत्याशया निरीहः सन् यस्तु सहेत कण्टकान् वाङ्मयान् कर्णसरान्—कर्णगामिनः स पूज्यः ॥ ६ ॥

मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया ।
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा ॥
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि ।
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ ७ ॥

छा० मुहूर्तदुःखास्तु भवन्ति कण्टकाः ।
अयोमयास्तेऽपि ततः सूद्धराः ॥
वाग्दुरुक्तानि दुरुद्धराणि ।
वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥ ७ ॥

'मुहुत्तदुक्खा०'—मुहूर्तदुःखा भवन्ति कण्टका अयोमयाः, वेधकाल एव प्रायो दुःखभावात्, तेऽपि ततः-कायात् सूद्धराः, वाग्दुरुक्तानि पुनर्दुरुद्धराणि—दुःखेनोद्ध्रियन्ते, मनोलक्ष्यवेधनात् । वैरानुबन्धीनि श्रवणप्रद्वेषादिना, इह परत्र च, अत एव महाभयानि, कुगतिपातादिभयहेतुत्वात् ॥ ७ ॥

समावयंता वयणाभिघाया ।
कण्णं—गया दुम्मणिअं जणंति ॥
धम्मुत्ति किच्चा परमग्गसूरे ।
जिइंदिए जो सहइ स पुज्जो ॥ ८ ॥

छा० समापतन्तो वचनाभिघाताः ।
कर्णं गता दौर्मनस्यं जनयन्ति ॥
धर्मेति कृत्वा परमाग्रशूरः ।
जितेन्द्रियो यः सहते स पूज्यः ॥ ८ ॥

'समावयंता०'—समापतन्तः—एकीभावेनाऽभिमुखं पतन्तः, वचनाऽभिघाताः-खरादिवचनप्रहाराः कर्णं गताः-सन्तः, दौर्मनस्यं जनयन्ति, एवम्भूतान् वचनाऽभिघातान् धर्मेति कृत्वा—सामायिकपरिणामापन्नो न त्वशक्त्यादिना, परमार्गशूरः—दानसङ्ग्रामशूरापेक्षया प्रधानशूरः, जितेन्द्रियः सन् यः सहते न तु तैर्विकारमुपदर्शयन्(येत्) स पूज्यः ॥ ८ ॥ तथा—

अवण्णवायं च परम्मुहस्स ।
पच्चक्खओ पडिणीअं च भासं ॥
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च ।
भासं न भासिज्ज सया स पुज्जो ॥ ९ ॥

छा० अवर्णवादञ्च पराङ्मुखस्य ।
प्रत्यक्षतः प्रत्यनीकां च भाषाम् ॥
अवधारिणीमप्रियकारिणीं च ।
भाषां न भाषेत सदा स पूज्यः ॥ ९ ॥

'अवण्णवायं०'—अवर्णवादं च—अश्लाघावादं च पराङ्मुखस्य, प्रत्यक्षतश्चाऽपकारिणीं भाषाम्, अवधारिणीं—निश्चयरूपाम्, अप्रीतिकारिणीं च भाषां न भाषेत सदा यः स पूज्यः ॥ ९ ॥

अलोलुए अक्कुहए अमाई ।
अपिसुणे आ वि अदीणवित्ती ॥
णो भावए णो वि अ भाविअप्पा ।
अकोउहल्ले अ सया स पुज्जो ॥ १० ॥

छा० अलोलुपोऽकुहकोऽमायी ।
अपिशुनश्चाप्यदीनवृत्तिः ॥
न भावयेन्नापि च भावितात्मा ।
अकौतूहलश्च सदा स पूज्यः ॥ १० ॥

'अलोलुए०'—अलोलुपः—आहारादिष्वलुब्धः, अकुहकः—इन्द्रजालादिरहितः, अमायी—कौटिल्यशून्यः, अपिशुनश्चाऽपि—न छेदभेदकर्ता, अदीनवृत्तिः—आहाराद्यलाभेऽपि शुद्धवृत्तिः, 'णो भावये'—नो भावयेत्, आत्मानमन्येभ्यः सकाशात्, नाऽपि च भावितात्मा—स्वयमन्यपुरतः स्वगुणवर्णनपरः, अकौतुकश्च सदा नटनर्तक्यादिषु यः स पूज्यः ॥ १० ॥

गुणेहिं साहू अगुणेहिंऽसाहू ।
गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू ॥

विआणिआ अप्पगमप्पएण ।
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥ ११ ॥

छा० गुणैः साधुरगुणैरसाधुः ।
गृहाण साधुगुणान्मुञ्चाऽसाधून् ॥
विज्ञायात्मकमात्मकेन ।
यो रागद्वेषयोः समः स पूज्यः ॥ ११ ॥

'गुणेहिं०'–गुणैरनन्तरोदितैः साधुर्भवति, अगुणैरुक्तगुणविपरीतैरसाधुः, यत एवं तस्माद् गृहाण साधुगुणान्, मुञ्चाऽसाधुगुणान्, इति शोभन उपदेशः, एवमधिकृत्य [प्राकृतशैल्या] विज्ञापयति–विविधं ज्ञापयति आत्मानमात्मना यस्तथा रागद्वेषसमः–न रागवान् न द्वेषवान् स पूज्यः ॥ ११ ॥

तहेव डहरं व महल्लगं वा ।
इत्थीं पुमं पव्वइअं गिहिं वा ॥
णो हीलए णो वि अ खिंसइज्जा ।
थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥ १२ ॥

छा० तथैवाऽल्पवयसं वा महान्तं वा ।
स्त्रियं पुमांसं प्रव्रजितं गृहिणं वा ॥

न निन्दयेन्नोऽपि च खेदयेत् ।
स्तम्भं च क्रोधं च त्यजेत्स पूज्यः ॥ १२ ॥

'तहेव०'—तथैव डहरं वा महल्लकं वा, 'वा'—शब्दान्मध्यमं वा, 'स्त्रियं पुमांसम्, उपलक्षणमेतत्, नपुंसकं वा, प्रव्राजितं गृहिणं वा, 'वा'—शब्दादन्यतैर्थिकं वा, न हीलयति, नाऽपि च खिंसयति, तत्र सूयया असूयया वा सकृद्दुष्टाऽभिधानं हीलनम्, तदेवाऽसकृत् खिंसनमिति, हीलनखिंसनयोश्च निमित्तभूतं स्तम्भं च मानं क्रोधं च रोषं त्यजति यः स पूज्यः ॥ १२ ॥

जे माणिआ सययं माणयंति ।
जत्तेण कण्णं व निवेसयंति ॥
ते माणए माणरिहे तवस्सी ।
जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो ॥ १३ ॥

छा० ये मानिताः सततं मानयन्ति ।
यत्नेन कन्यामिव निवेशयन्ति ॥
तान्मानयेन्मानार्हांस्तपस्विनः ।
जितेन्द्रियः सत्यरतः स पूज्यः ॥ १३ ॥

'जे माणिआ०'—ये मानिता अभ्युत्थानादिसत्कारैः सततं शिष्यान् मानयन्ति, श्रुतोपदेशं प्रति चो(नो)—

दनाभिः, तथा यत्नेन कन्यामिव निवेशयन्ति—यथा मातापितरः कन्यां गुणैर्वयसा च संवर्द्ध्य योग्यभर्तरि स्थापयन्ति, एवमाचार्याः शिष्यं सूत्रार्थवेदिनं दृष्ट्वा महत्याचार्यपदे स्थापयन्ति, तानेवम्भूतान् गुरून्मानयति योऽभ्युत्थानादिना मानार्हान्—मानयोग्यान् तपस्वी सन्, 'जितेन्द्रियः सत्यरतः' इति प्राधान्यख्यापनार्थं विशेषणद्वयं, स पूज्यः ॥ १३ ॥

तेसिं गुरूणं गुणसागराणं ।
सुच्चाण मेहावि सुभासिआइं ॥
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो ।
चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥ १४ ॥

छा० तेषां गुरूणां गुणसागराणाम् ।
श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि ॥
चरेन्मुनिः पञ्चरतस्त्रिगुप्तः ।
चतुष्कषायापगतः स पूज्यः ॥ १४ ॥

'तेसिं०'—तेषां गुरूणां गुणसागराणां श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि, चरति मुनिः पञ्चरतः—पञ्चमहाव्रतसक्तः, त्रिगुप्तः—मनोगुप्त्यादि(मान्), 'चतुष्कषायाऽपगतः' इति अपगतक्रोधादिकषायो यः स पूज्यः ॥ १४ ॥ फलाऽभिधानेन उपसंहरन्नाह—

गुरुमिह सययं पडिअरिअ मुणी ।
जिणमयनिउणे अभिगमकुसले ॥
धुणिअ रयमलं पुरेकडं ।
भासुरमउलं गइं गओ ॥ १५ ॥ त्ति बेमि ।

छा० गुरुमिह सततं प्रतिचर्य मुनिः ।
जिनमतनिपुणोऽभिगमकुशलः ॥
धूत्वा रजोमलं पुराकृतम् ।
भासुरामतुलां गतिं गतः ॥ १५ ॥ इति ब्रवीमि ।

'गुरुमिह०'—गुरुम् इह—मनुष्यलोके सततं परिचर्य—विधिनाऽऽराध्य मुनिः, जिनमतनिपुणः—आगमे प्रवीणः, अभिगमकुशलः—लोकप्राघूर्णकादिप्रतिपत्तिदक्षः स एवम्भूतो विधूय रजोमलं पुराकृतं कर्म क्षपयित्वा, भास्वरां—ज्ञानतेजोमयत्वादतुलाम्, अनन्यसदृशीं गतिं सिद्धिरूपां व्रजति—गच्छति तदा जन्मान्तरेण वा सुकुलं[1] प्रत्यायाति, इत्यादिना प्रकारेण । ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ १५ ॥ इति विनयसमाध्यध्ययनस्य नवमस्य तृतीयोद्देशाऽवचूर्णिः ।



१ 'सुकुलप्रजात्यादिना प्रकारेण' इति बृहद्वृत्तौ पाठः ।

॥ अथ चतुर्थोद्देशः ॥



सामान्योक्तविनयविशेषोपदर्शनार्थमाह—

सुअं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं । इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिठाणा पण्णत्ता । कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिठाणा पण्णत्ता । इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिठाणा पण्णत्ता । तंजहा—विणयसमाही, सुअसमाही, तवसमाही, आयारसमाही ।

विणए सुए अ तवे, आयारे निच्चं पंडिआ ।
अभिरामयंति अप्पाणं, जे भवंति जिइंदिआ ॥ १ ॥

छा० श्रतं मयाऽऽयुष्मन् ! तेन भगवतैवमाख्यातम् । इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनयसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि । कतराणि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनयसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि? एतानि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनयसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा–१ विनयसमाधिः, २ श्रुतसमाधिः, ३ तपःसमाधिः, ४ आचारसमाधिः ।

विनये श्रुते च तपसि, आचारे नित्यं पण्डिताः ।
अभिरामयन्त्यात्मानं, ये भवन्ति जितेन्द्रियाः ॥ १ ॥

'सुअं मे०'—'श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्' इत्येतद् यथा षड्जीवनिकायां तथा द्रष्टव्यम्, इह—प्रवचने क्षेत्रे वा, 'खलु' विशेषणार्थः, न केवलमत्र किन्त्वन्यत्राऽपि—अन्यतीर्थकृत्प्रवचनेष्वपि स्थविरैर्गणधरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनयसमाधिस्थानानि—विनयसमाधिभेदरूपाणि प्रज्ञप्तानि, भगवतः सकाशे श्रुत्वा ग्रन्थत उपरचितानि इत्यर्थः, 'कतराणि खलु तानि' ? इत्यादिना प्रश्नः, 'अमूनि खलु तानि' इत्यादिना निर्वचनम् । तद्यथेत्युदाहरणोपदर्शनार्थः[1]—विनयसमाधिः, श्रुतसमाधिः, तपःसमाधिः, आचारसमाधिः । विनये विनयाद्वा समाधिः[2], विनयेऽथ श्लोकेन संगृह्णाति—'विणए०'—विनये श्रुते तपसि आचारे च,'च'—स्य व्यवहितः सम्बन्धः, नित्यं पण्डिताः सम्यक् परमार्थवेदिनः किं कुर्वन्तीत्याह—अभिरा(र)मयन्ति—अनेकार्थत्वात्—आभिमुख्ये विनयादिषु युञ्जते आत्मानं ये भवन्ति जितेन्द्रियाः ॥ १ ॥ विनयसमाधिमभिधित्सुराह—

चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ । तंजहा—अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ १ सम्मं संपडिवज्जइ २ वेअमाराहइ ३ न य भवइ अत्तसंपग्गहिए ४ चउत्थं पयं भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो—

पेहेइ हिआणुसासणं ।
सुस्सूसइ तं च पुणो अहिट्ठिए ॥
न य माणमएण मज्जइ ।
विणयसमाहीइ आययट्ठिए ॥ २ ॥

---

१ 'उदाहरणोपन्यासार्थः' इत्यपि पाठः । २ 'तत्र समाधानं समाधिः, मनःस्वास्थ्यं, विनये विनयाद्वा समाधिर्विनयसमाधिः, एवं सर्वेष्वपि'—प्रत्यन्तरस्थः पाठः ।

छा० चतुर्विधः खलु विनयसमाधिर्भवति। तद्यथा–अनुशिष्यमाणः शुश्रूषते १ सम्यक् सम्प्रतिपद्यते २ वेदमाराधयति ३ न च भवत्यात्मसम्प्रगृहीतः ४ चतुर्थं पदं भवति। भवति चाऽत्र श्लोकः–

प्रेक्ष्यते हिताऽनुशासनम्।
शुश्रूषते तच्च पुनरधिष्ठापयति॥
न च मानमदेन माद्यति।
विनयसमाधावायतार्थिकः॥ २॥

'चउव्विहा०'–चतुर्विधः खलु विनयसमाधिर्भवति, तद्यथा–'अनुसासिज्जंतो' इत्यादि, अनुशास्यमानः शुश्रूषति–श्रोतुमिच्छति १, अनुशासनं सम्यक् सम्प्रतिपद्यते २, अनुशासनं च एवमाराधयति वेदः–श्रुतज्ञानम् ३, न च भवति आत्मसम्प्रगृहीतः–आत्मैव सम्यक् प्रकर्षेण गृहीतो येन सः, 'अहं विनीतः सुसाधु'रित्येवमादिना, तथा नात्मोत्कर्षप्रधानत्वात्, विनयादेर्न चैवम्भूतो भवतीत्यभिप्रायः ४, चतुर्थं पदं भवति, भवति चाऽत्र श्लोकः–'पेहेइ०'–प्रार्थयति हितानुशासनम्–उपदेश, शुश्रूषति–अनेकार्थत्वात्–यथाविषयमवबुध्यते, तच्चाऽवबुद्धं सत्पुनरधितिष्ठति–यथावत्करोति, न (च) कुर्वन्नपि मानमदेन–मानगर्वेण माद्यति-मदं याति, विनयसमाधौ–विनयसमाधिविषये आयतार्थिकः–मोक्षार्थी॥ २॥ अथ श्रुतसमाधिमाह––

चउव्विहा खलु सुअसमाही भवइ। तंजहा–सुअं मे भविस्सइत्ति अज्झाइअव्वं भवइ १ एगग्ग-

चित्तो भविस्सामित्ति अज्झाइअव्वं भवइ २ अप्पाणं ठावइस्सामित्ति अज्झाइअव्वं भवइ ३ ठिओ परं ठावइस्सामित्ति अज्झाइअव्वं भवइ ४ चउत्थं पयं भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो—

नाणमेगग्गचित्तो अ ठिओ ठावयइ परं ।
सुआणि अ अहिज्जित्ता रओ सुअसमाहिए ॥ ३ ॥

छा० चतुर्विधः खलु श्रुतसमाधिर्भवति । तद्यथा—श्रुतं मे भविष्यतीत्यध्येतव्यं भवति १ एकाग्रचित्तो भविष्यामीत्यध्येतव्यं भवति २ आत्मानं स्थापयिष्यामीत्यध्येतव्यं भवति ३ स्थितः परं स्थापयिष्यामीत्यध्येतव्यं भवति ४ चतुर्थं पदं भवति । भवति चाऽत्र श्लोकः—

ज्ञानमेकाग्रचित्तश्च, स्थितः स्थापयति परम् ।
श्रुतानि चाऽधीत्य, रतः श्रुतसमाधौ ॥ ३ ॥

'चउव्विहा०'—चतुर्विधः खलु श्रुतसमाधिर्भवति, तद्यथा—'श्रुतं मे भविष्यति' अनया बुद्ध्याऽध्येतव्यं भवति १, अध्ययनं कुर्वन्नेकाग्रचित्तो भविष्यामीति अध्येतव्यं भवति २, अनेनालम्बनेन—अध्ययनं कुर्वन् विदितधर्मतत्त्व आत्मानं स्थापयिष्यामि धर्मे, इत्यनेन अध्येतव्यं भवति ३, स्थितः स्वयं धर्मे परं स्थापयिष्यामि धर्मे, इत्यध्येतव्यं भवति ४, चतुर्थं पदं भवति, भवति चाऽत्र श्लोकः—'नाण०'—ज्ञानमध्ययनपरस्य भवति तत्परतया एकाग्रचित्तो भवति, स्थित इति विवेकाद्धर्मे स्थितो भवति, स्वयं धर्मे स्थितत्वात् स्थापयति च परम्, 'सुआणि'—श्रुतानि चाऽधीत्य रतो भवति श्रुतसमाधौ ॥ ३ ॥ अथ तपःसमाधिमाह—

चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ । तंजहा—णो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा १ णो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा २ णो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ३ नण्णत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ४ चउत्थं पयं भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो—

विविहगुणतवोरए निच्चं ।
भवइ निरासए निज्जरट्ठिए ॥
तवसा धुणइ पुराणपावगं ।
जुत्तो सया तवसमाहिए ॥ ४ ॥

छा० चतुर्विधः खलु तपःसमाधिर्भवति । तद्यथा—नेहलोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत् १ न परलोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत् २ न कीर्तिवर्णशब्दश्लोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत् ३ नान्यत्र निर्जरार्थात् तपोऽधितिष्ठेत् ४, चतुर्थं पदं भवति । भवति चाऽत्र श्लोकः—

विविधगुणतपोरतो नित्यम् ।
भवति निराशयो निर्जरार्थिकः ॥
तपसा धुनोति पुराणपापकम् ।
युक्तः सदा तपःसमाधिना ॥ ४ ॥

'चउव्विहा०'—चतुर्विधः खलु भवति तपःसमाधिः, तद्यथा—नेहलोकार्थं लब्ध्यादिवाञ्छया तपोऽधितिष्ठेत्—न कुर्यात्, 'धम्मिल्ल'वत् १, न परलोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत्, ब्रह्मदत्तवत् २, न कीर्तिवर्णशब्दश्लाघार्थं तपोऽधितिष्ठेत्—तत्र सर्वदिग्व्यापी साधुवादः—कीर्तिः, एकदिग्व्यापी वर्णः, अर्धदिग्व्यापी शब्दः, तत्स्थानमेव श्लाघा ३, नाऽन्यत्र निर्जरार्थम्(र्थात्) इति न कर्मनिर्जरामेकां विहाय तपोऽधितिष्ठेत्, अकामः सन् यथा कर्मनिर्जरैव फलं भवति तथाऽधितिष्ठेदित्यर्थः ४ । चतुर्थं पदं भवति, भवति चाऽत्र श्लोकः—'विविह०'—विविधगुणतपोरतो नित्यं भवति निराशः—अनिदानः, निर्जरार्थिकः—एवम्भूतस्तपसा धुनाति—अपनयति पुराणपापं—चिरन्तनकर्म युक्तः सदा तपःसमाधौ ॥ ४ ॥ साम्प्रतमाचारसमाधिमाह—

चउव्विहा खलु आयारसमाही भवइ । तंजहा—णो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा १ णो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा २ णो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा ३ नण्णत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा ४ चउत्थं पयं भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो—

जिणवयणरए अतिंतिणे ।
पडिपुण्णाययमाययट्ठिए ॥
आयारसमाहिसंवुडे ।
भवइ अ दंते भावसंधए ॥ ५ ॥

छा० चतुर्विधः खल्वाचारसमाधिर्भवति । तद्यथा—नो इहलोकार्थमाचारमधितिष्ठेत् १ नो परलोकार्थमाचारमधितिष्ठेत् २ नो कीर्तिवर्णशद्बश्लोकार्थमाचारमधितिष्ठेत् ३ नान्यत्रार्हतेभ्यो हेतुभ्य आचारमधितिष्ठेत् ४ चतुर्थं पदं भवति । भवति चाऽत्र श्लोकः—

जिनवचनरतोऽतिन्तिणः ।
प्रतिपूर्ण आयतमायतार्थिकः ॥
आचारसमाधिसंवृतः ।
भवति च दान्तो भावसन्धकः ॥ ५ ॥

'चउव्विहा०'—चतुर्विधः खलु आचारसमाधिर्भवति, तद्यथा—नेहलोकार्थी मायार्थोचाराभिधानभेदेन, पूर्ववत्, यावत्—नाऽन्यत्र अर्हतः सम्बन्धिभिर्हेतुभिरनाश्रय(व)त्वादिभिराचारं मूलगुणोत्तरगुणमयमधितिष्ठेत्, निरीहः सन् यथा मोक्षपथवर्तीति, चतुर्थं पदं भवति, भवति चाऽत्र श्लोकः—'जिण०'—जिनवचनरतः, अतिन्तिणः—न सकृत् किञ्चिदुक्तः सन् असूयया भूयो भूयो वक्ता, प्रतिपूर्णः सूत्रादिना, आयत(म्) आयतार्थिकः—अत्यन्तं मोक्षार्थी, आचारसमाधिसंवृत इति—आचारे यः समाधिस्तेन स्थगिताऽऽवस्रद्वारः सन्, भवति च दान्तः, भावसन्धकः—भावो मोक्षस्तत्सन्धकः—आत्मनो मोक्षाऽऽसन्नकारी ॥ ५ ॥ सर्वसमाधिफलमाह—

१ 'नेहलोकार्थामित्यादि चाऽऽचाराऽभिधानभेदेन' इति वृत्तौ ।
२ 'मोक्ष एव भवतीति' वृत्तौ प्रत्यन्तरे चाऽयं पाठः

अभिगमचउरो समाहिओ ।
सुविसुद्धो सुसमाहिअप्पओ ॥
विउलहिअं सुहावहं पुणो ।
कुव्वइ सो पयखेममप्पणो ॥ ६ ॥

छा० अभिगमचतुरः समाधीन् ।
सुविशुद्धः सुसमाहितात्मा ॥
विपुलहितं सुखावहं पुनः ।
करोति स पदक्षेममात्मनः ॥ ६ ॥

'अभिगम०'—अभिगम्य—विज्ञाय, आसेव्य च चतुरः समाधीन्—अनन्तरोदितान्, सुविशुद्धो मनोवाक्कायैः, सुसमाहितात्मा सप्तदशप्रकारे संयमे, विपुलसुखाहितावहमिति विपुलं—विस्तीर्णं हितं तदात्वे आयत्यां च पथ्यं—सुखमावहति—प्रापयति यत्तत्तथाविधं करोत्यसौ साधुः पदं—स्थानं क्षेमं—शिवम् आत्मनः—इत्यात्मन एव न त्वन्यस्य, ॥ ६ ॥ इत्येतेन एकान्तक्षणभङ्गव्यवच्छेदमाह—

जाइमरणाउ मुच्चइ ।
इत्थं त्थं च चयइ सव्वसो ॥

सिद्धे वा हवइ सासए ।
देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥ ७ ॥ त्ति बेमि ।

छा० जातिमरणाभ्यां मुच्यते ।
अत्रस्थं(इत्थंस्थं) च त्यजति सर्वशः ॥
सिद्धो वा भवति शाश्वतः ।
देवो वाऽऽत्म(ऽल्प)रतो महर्द्धिकः ॥ ७ ॥ इति ब्रवीमि ।

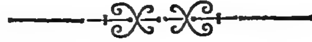
'जाइ०'—जातिमरणात्—जन्ममरणान्मुच्यते, इत्थं स्थितम्—इत्थंस्थं—नारकादि व्यपदेशबीजं वर्णसंस्थानादि त्यजति, सर्वशः—सर्वैः प्रकारैरपुनर्ग्रहणतया, एवं सिद्धो वा कर्मक्षयसिद्धो भवति शाश्वतः—अपुनरागामी, सावशेषकर्मा देवो (वा) अल्परतः, कण्डूपरिगतकण्डूयनकल्परतरहितः, महर्द्धिकः—अनुत्तरवैमानिकादिः । ब्रवीमीति पूर्ववत् । इति विनयसमाध्यध्ययनस्य नवमस्य चतुर्थोद्देशाऽवचूर्णिः ॥ ७ ॥

॥ विणयसमाहि—अज्झयणं णवमं ॥

॥ इति विनयसमाध्ययनं नवमम् ॥



॥ अथ दशमाध्ययनम् ॥



अथ सभिक्ष्वाख्यमारभ्यते, अस्यचाऽयमभिसम्बन्धः । इहानन्तराध्ययने आचारप्रणिहितो यथोचितविनय-सम्पन्नो भवत्येतदुक्तम्, इह तु एतेष्वेव नवस्वध्ययनार्थेषु यो व्यवस्थितः स सम्यग्भिक्षुरित्येतदुच्यते, इत्यनेनाऽभि-सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम् । तच्चेदम्—

निक्खम्ममाणाइ अ बुद्धवयणे ।
निच्चं चित्तसमाहिओ हविज्जा ॥
इत्थीण वसं न यावि गच्छे ।
वंतं णो पडिआयइ जे स भिक्खू ॥ १ ॥

छा० निष्क्रम्याऽऽज्ञया च बुद्धवचने ।
नित्यं चित्तसमाहितो भवेत् ॥
स्त्रीणां वशं न चाऽपि गच्छेत् ।
वान्तं न प्रत्यापिबाति यः स भिक्षुः ॥ १ ॥

'निक्खम्म०'—निष्क्राम्य—प्रव्रज्यां गृहीत्वा, आज्ञया-तीर्थकरगणधरोपदेशेन बुद्धवचने-अवगततत्त्वतीर्थकर-गणधरवचने नित्यं चित्तसमाहितः—चित्तेनाभि(ति)प्रसन्नो भवेत्, व्यतिरेकतः समाधानोपायमाह-स्त्रीणां वशं न

चाऽपि गच्छेत्, तद्वशगो हि नियमतो वान्तं प्रत्यापिबति, अतो बुद्धवचनचित्तसमाधानतः सर्वथा स्त्रीवशत्यागात्, अनेनैवोपायेनाऽन्योपायाऽभावात्, वान्तं—परित्यक्तं सद्विषयजम्बालं न प्रत्यापिबति यः स भिक्षुः, भावभिक्षुः ॥ १ ॥

पुढवीं न खणे न खणावए ।
सीओदगं न पिए न पिआवए ॥
अगणिसत्थं जहा सुनिसिअं ।
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥ २ ॥

छा० पृथ्वीं न खनेन्न खानयेत् ।
शीतोदकं न पिबेन्न पाययेत् ॥
अग्निशस्त्रं यथा सुनिशितम् ।
तन्न ज्वलेन्न ज्वलयेद्यः स भिक्षुः ॥ २ ॥

'पुढवीं०'—पृथिवीं न खनति न खानयति, [एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति न्यायात्] खनन्तमप्यन्यं नाऽनुजानाति, एवं सर्वत्र वेदितव्यम् । शीतोदकं न पिबति न पाययति, अग्निः षड्जीव-घातकः, किं (त)—वदित्याह-शस्त्रं खड्गादि यथा सुनिशितम्-उज्ज्वलितं तद्वत्, तन्न ज्वलति, न ज्वालयति यः स भिक्षुः ॥ २ ॥

अणिलेण न वीए न विआवए ।
हरिआणि न छिंदे न छिंदावए ॥

बीआणि सया विवज्जयंतो ।
सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥ ३ ॥

छा० अनिलेन न व्यजेन्न व्यजयेत् ।
हरितानि न छिन्द्यान्न छेदयेत् ॥
बीजानि सदा विवर्जयन् ।
सचित्तं नाहरेद्यः स भिक्षुः ॥ ३ ॥

'अणिलेण०'—अनिलेन-अनिलहेतुवस्त्रादिना न वीजयति (व्यजति), न वीजयते (व्यजयति) परैः, हरितानि न छिनत्ति, न छेदयति, बीजानि सदा विवर्जयन् संघट्टनादिना, सचित्तं नाहारयति यः कदाप्यपुष्टालम्बनः स भिक्षुः ॥ ३ ॥ औद्देशिकादिपरिहारेण त्रसस्थावरपरिहारमाह—

वहणं तसथावराण होइ ।
पुढवीतणकट्ठनिस्सिआणं ॥
तम्हा उद्देसिअं न भुंजे ।
णो वि पए न पयावए जे स भिक्खू ॥ ४ ॥

छा० वधनं त्रसस्थावराणां भवति ।
पृथ्वीतृणकाष्ठनिःश्रितानाम् ॥

तस्मादौद्देशिकं न भुञ्जीत ।
नाऽपि पचेन्न पाचयेद्यः स भिक्षुः ॥ ४ ॥

'वहणं०'–वधनं त्रसस्थावराणां भवति कृतौद्देशिके, किंविशिष्टानाम् ? पृथिवीतृणकाष्ठनिःसृ(श्रि)तानां तथासमारम्भात्, यस्मादेवं तस्मादौद्देशिकं न भुङ्क्ते, न केवलमेतत्, किन्तु नाऽपि स्वयं पचति, न पाचयत्यन्यैर्यः स भिक्षुः ॥ ४ ॥

रोइअणायपुत्तवयणे ।
अत्तसमे मण्णिज्ज छप्पि काए ॥
पंच य फासे महव्वयाइं ।
पंचासवसंवरे जे स भिक्खू ॥ ५ ॥

छा० रोचितज्ञातपुत्रवचनः ।
आत्मसमान्मन्येत षडपि कायान् ॥
पञ्च च स्पृशेन्महाव्रतानि ।
पञ्चास्रवसंवरो यः स भिक्षुः ॥ ५ ॥

'रोइअ०'–रोचयित्वा ज्ञातपुत्रवचनं-श्रीमहावीरवचनं प्रियं कृत्वा, आत्मसमान्मन्यते षडपि कायान्, पञ्च

च-चोऽपिशब्दार्थः-पञ्चाऽपि स्पृशति-सेवते महाव्रतानि, पञ्चास्रवसंवृतश्च, द्रव्यतोऽपि पञ्चेन्द्रियसंवृतो यः स भिक्षुः ॥ ५ ॥

चत्तारि वमे सया कसाए ।
धुवजोगी अ हविज्ज बुद्धवयणे ॥
अहणे निज्जाअरूवरयए ।
गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥ ६ ॥

छा० चतुरो वमेत्सदा कषायान् ।
ध्रुवयोगी भवेद्बुद्धवचने ॥
अधनो निर्जातरूपरजतः ।
गृहियोगं परिवर्जयेद्यः स भिक्षुः ॥ ६ ॥

'चत्तारि०'—चतुरः क्रोधादीन् वमति कषायान्, धुवयोगी च—उचितनित्ययोगवांश्च भवति, बुद्धवचन इति [तृतीयार्थे सप्तमी] तीर्थकरवचनेन करणभूतेन ध्रुवयोगी भवति यथागममेवेति भावः, अधनः—चतुष्पदादि-रहितः, निर्जातरूपरजतः—निर्गतस्वर्णरूप्यः, गृहियोगं—गृहस्थसम्बन्धं परिवर्जति यः स भिक्षुः ॥ ६ ॥

सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे ।
अत्थि हु नाणे तवे संजमे अ ॥

तवसा धुणइ पुराणपावगं ।
मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥ ७ ॥
छा० सम्यग्दृष्टिः सदाऽमूढः ।
अस्ति हि ज्ञानं तपः संयमश्च ॥
तपसा धुनोति पुराणपापकम् ।
मनोवचःकायसुसंवृतो यः स भिक्षुः ॥ ७ ॥

'सम्मादिट्ठी०'–सम्यग्दृष्टिः सदाऽमूढः–अविप्लुतः सन्नेवं मन्यते–'अस्त्येव ज्ञानं हेयोपादेयविषयमतीन्द्रियेष्वपि तपश्च बाह्याभ्यन्तरकर्ममलापनयनजलरूपं संयमश्च नवकर्मानुपादानरूपः', इत्थं च दृढभावः, तपसा धुनोति पुराणपापम्, भावसारया प्रवृत्त्या मनोवाक्कायसंवृतः, तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तो यः स भिक्षु ॥ ७ ॥

तहेव असणं पाणगं वा ।
विविहं खाइम साइमं लभित्ता ॥
होही अट्ठो सुए परे वा ।
तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू ॥ ८ ॥
छा० तथैवाऽशनं पानकं वा ।
विविधं खाद्यं स्वाद्यं लब्ध्वा ॥

भविष्यत्यर्थः श्वः परस्मिन्वा ।
तं न निदध्यान्न निधापयेद्यः स भिक्षुः ॥ ८ ॥

'तहेव०'—तथैव पूर्वर्षिविधानेन अशनं पानं वा तथा विविधमनेकप्रकारं खाद्यं स्वाद्यं लब्ध्वा—प्राप्य, किमित्याह—'भविष्यत्यर्थः—प्रयोजनमनेन श्वः' परश्वो वेति तदशनादि न निधत्ते—न स्थापयति स्वयं, तथा न वि-(नि)धापयत्यन्यैः, स्थापयन्तमन्यं नाऽनुजानाति यः सर्वथा सान्निधिपरित्यागवान् स भिक्षुः ॥ ८ ॥

तहेव असणं पाणगं वा ।
विविहं खाइम साइमं लभित्ता ॥
छंदिअ साहम्मिआण भुंजे ।
भुच्चा सज्झायरए जे स भिक्खू ॥ ९ ॥

छा० तथैवाऽशन पानकं वा ।
विविधं खाद्यं स्वाद्यं लब्ध्वा ॥
निमन्त्र्य साधर्मिकान्भुञ्जीत ।
भुक्त्वा स्वाध्यायरतो यः स भिक्षुः ॥ ९ ॥

'तहेव०'—तथैवाऽशनं पानकं वा विविधं खाद्यं स्वाद्यं च लब्ध्वा, किमित्याह—छन्दित्वा—निमन्त्र्य समान-

धार्मिकान्–साधून् भुङ्क्ते, स्वात्मतुल्यतया तद्वात्सल्यसिद्धेः, तथा भुक्त्वा स्वाध्यायरतश्च यः स भिक्षुः ॥ ९ ॥ भिक्षुलक्षणाऽधिकार एवाह—

न य वुग्गहिअं कहं कहिज्जा ।
न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते ॥
संजमे धुवजोगजुत्ते ।
उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ॥ १० ॥

छा० न च व्युद्ग्राहिकां कथां कथयेत् ।
न च कुप्येन्निभृतेन्द्रियः प्रशान्तः ॥
संयमे ध्रुवयोगयुक्तः ।
उपशान्तोऽविहेठको यः स भिक्षुः ॥ १० ॥

'न य०'–न च वैग्रहिकीं–कलहप्रतिबद्धां कथां कथयति, सद्वादकथादिष्वपि न च कुप्यति परस्य, अपि तु निभृतेन्द्रियः–अनुद्धतेन्द्रियः, प्रशान्तः–रागादिरहित एवाऽऽस्ते, तथा संयमे सप्तदशविधे ध्रुवं–सर्वकालं योगेन–मनोवाक्कायलक्षणेन युक्तो योगयुक्तः, तथा उपशान्तः–अनाकुलः–कायचापल्यादिरहितः, अविहेड(ठ)कः–न क्वचिदुचितेऽनादरवान्, क्रोधादीनां विश्लेषक इत्यन्ये, यः स भिक्षुः ॥ १० ॥ किञ्च—

जो सहइ हु गामकंटए ।
अक्कोस–पहार–तज्जणाओ अ ॥
भयभेरवसद्द-सप्पहासे ।
समसुहदुक्खसहे अ जे स भिक्खू ॥ ११ ॥

छा० यः सहते हि ग्रामकण्टकान् ।
आक्रोश-प्रहार-तर्जनाश्च ॥
भय-भैरवशब्द-सप्रहासान् ।
समसुखदुःखसहश्च यः स भिक्षुः ॥ ११ ॥

'जो सहइ०'–यः खलु सहते सम्यग् ग्रामकण्टकान्–ग्रामाः–इन्द्रियाणि, तद्दुःखहेतुत्वात्कण्टकास्तान्, आक्रोशान्–प्रहारान्, तर्जनाश्चेति, तत्राऽऽक्रोशो यकारादिभिः, तर्जना असूयादिभिः, भैरवभयाः–अत्यन्तरौद्रभयजनकाः शब्दाः सप्रहासाः, यस्मिन् स्थाने इति गम्यते, तथा तस्मिन् वेतालादिकृतार्तनादाट्टहास इत्यर्थः, अत्रोपसर्गेषु सत्सु समसुखदुःखसहः–अचलितसामायिकभावश्च यः स भिक्षुः ॥ ११ ॥ एतदेव स्पष्टयति—

पडिमं पडिवज्जिआ मसाणे ।
णो भीयए भयभेरवाइं दिस्स ॥

विविहगुणतवोरए अ निच्चं ।
न सरीरं चाभिकंखए जे स भिक्खू ॥ १२ ॥
छा० प्रतिमां प्रतिपद्य स्मशाने ।
नो बिभीयाद्भयभैरवानि दृष्ट्वा ॥
विविधगुणतपोरतश्च नित्यम् ।
न शरीरं चाभिकाङ्क्षेत्यः स भिक्षुः ॥ १२ ॥

'पडिमं०'—प्रतिमां—मासादिरूपां प्रतिपद्य स्मशाने न बिभेति भैरवभयानि दृष्ट्वा, विविधगुणतपोरतश्च नित्यं नैव शरीरमभिकांक्षते निस्पृहतया वार्त्तमानिकं भावि च य इत्थम्भूतः स भिक्षुः ॥ १२ ॥

असइं वोसट्ठचत्तदेहे ।
अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा ॥
पुढवीसमे मुणी हविज्जा ।
अणिआणे अकोउहल्ले जे स भिक्खू ॥ १३ ॥
छा० असकृद्व्युत्सृष्टत्यक्तदेहः ।
आक्रुष्टो वा हतो वा लुञ्चितो(लूषितो) वा ॥

पृथ्वीसमो मुनिर्भवेत् ।
अनिदानोऽकौतूहलो यः स भिक्षुः ॥ १३ ॥

'असइं०'—असकृत्सर्वदा व्युत्सृष्टत्यक्तदेहः—व्युत्सृष्टः प्रतिबन्धाभावात्, त्यक्तो विभूषादिकरणात्, आकृष्टो (क्रुष्टो) वा कर्कशवचनैः, हतो वा दण्डादिना, लूषितो वा खड्गादिना, भक्षितो वा श्वशृगालादिना, पृथिवीसमः सर्वसहो मुनिर्भवति, अनिदानोऽकुतूहलश्च नटादिषु यः स भिक्षुः ॥ १३ ॥ भिक्षुस्वरूपाऽधिकार एवेदमाह—

अभिभूअ काएण परीसहाइं ।
समुद्धरे जाइपहाउ अप्पयं ॥
विइत्तु जाईमरणं महब्भयं ।
तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥ १४ ॥

छा० अभिभूय कायेन परीषहान् ।
समुद्धरेज्जातिपथादात्मानम् ॥
विदित्वा जातिमरणं महद्भयम् ।
तपसि रतः श्रामण्ये यः स भिक्षुः ॥ १४ ॥

'अभिभूअ०'—अभिभूय—पराजित्य कायेन परीषहान् (न भिक्षुसिद्धान्तनीत्या) मनोवाग्भ्यामेव, काये-

नाऽनभिभवे तत्त्वतस्तदनभिभावात्, समुद्धरति जातिपथात्—संसारादात्मानं, विदित्वा जातिमरणं महद्भयं तपसि रतः, किम्भूते ? श्रामण्ये—श्रमणानां सम्बन्धिनि य एवम्भूतः स भिक्षुः ॥ १४ ॥

हत्थसंजए पायसंजए ।
वायसंजए संजइंदिए ॥
अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा ।
सुत्तत्थं च विआणइ जे स भिक्खू ॥ १५ ॥

छा० हस्तसंयतः पादसंयतः ।
वाक्संयतः संयतेन्द्रियः ॥
अध्यात्मरतः सुसमाहितात्मा ।
सूत्रार्थं च विजानाति यः स भिक्षुः ॥ १५ ॥

'हत्थसंजए०'—हस्तसंयतः, पादसंयतः, कारणं विना कूर्मवल्लीनः, वाक्संयतोऽकुशलवाङ्निरोधात्, कुशलवागुदीरणेन, संयतेन्द्रियः—निवृत्तविषयप्रसरः, अध्यात्मरतः—प्रशस्तध्यानाऽऽसक्तः, सुसमाहितात्मा—ध्यानाऽऽपादकगुणेषु, तथा सूत्रार्थञ्च विजानाति यः स भिक्षुः ॥ १५ ॥

उवहिंमि अमुच्छिए अगिद्धे ।
अण्णायउंछं पुलनिप्पुलाए ॥

कयविक्कयसंनिहिओ विरए ।
सव्वसंगावगए जे स भिक्खू ॥ १६ ॥

छा० उपधावमूर्च्छितोऽगृद्धः ।
अज्ञातोञ्छं पुलाकनिष्पुलाकः ॥
क्रयविक्रयसंनिधितो विरतः ।
सर्वसङ्गापगतो यः स भिक्षुः ॥ १६ ॥

'उवहिंमि०'—उपधौ अमूर्च्छितः, तद्विषयमोहत्यागेनाऽगृद्धः प्रतिबन्धाभावेन, अज्ञातोञ्छं चरतीति शेषः, स्तोकं—स्तोकमित्यर्थः । पुलाकनिष्पुलाक इति संयमासारतापादकदोषरहितः, क्रयविक्रयसन्निधिभ्यो विरतः, सर्वसङ्गाऽपगतश्च यः स भिक्षुः ॥ १६ ॥

अलोलभिक्खू न रसेसु गिद्धे ।
उंछं चरे जीविअणाभिकंखे ॥
इड्ढिं च सक्कारण पूअणं च ।
चयइ ट्ठिअप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥ १७ ॥

छा० अलोलभिक्षुर्न रसेषु गृद्धः ।
उञ्छं चरेज्जीवित नाऽभिकाङ्क्षेत् ॥

ऋद्धिं च सत्कारणपूजनं च ।
त्यजति स्थितात्मा अनिभो(अनीहो) यः स भिक्षुः ॥ १७ ॥

'अलोल०'—अलोलो नाऽप्राप्तप्रार्थनापरो भिक्षुः, न रसेषु गृद्धः, उञ्छं चरति (इति) पूर्ववत् । नवरं तत्रोपधिमाश्रित्योक्तम्, इह त्वाहारमित्यपौनरुक्त्यम्, तथा जीवितम्—असंयमजीवितं नाऽभिकांक्षते । ऋद्धिं च अमर्षौषध्यादिरूपां, सत्कारं वस्त्रादिना, पूजनञ्च स्तवादिना, त्यजति स्थितात्मा ज्ञानादिषु, अनिभः—अमायः, यः स भिक्षुः ॥ १७ ॥

न परं वइज्जासि अयं कुसीले ।
जेणं च कुप्पिज्ज न तं वइज्जा ॥
जाणिअ पत्तेअं पुण्णपावं ।
अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥ १८ ॥

छा० **न परं वदेदयं कुशीलः ।**
येन च कुप्येन्न तद्वदेत् ॥
ज्ञात्वा प्रत्येकं पुण्यपापम् ।
आत्मानं न समुत्कर्षयेद्यः स भिक्षुः ॥ १८ ॥

'न परं०'—न परं—स्वपक्षविनेयव्यतिरिक्तं वदत्ययं कुशीलः, तदप्रीत्यादिदोषप्रसङ्गात्, स्वपक्षविनेयं तु

शिक्षाग्रहणबुध्द्या वदत्यपि, येनाऽन्यः कश्चित्कुप्यति न तद्वक्ति, दोषसद्भावेऽपि, ज्ञात्वा प्रत्येकं पुण्यपापं नाऽन्यसम्बन्धि—अन्यस्य भवति, अग्निदाहवेदनावत्, सत्स्वपि गुणेषु नाऽऽत्मानं समुत्कर्षयति यः स भिक्षुः ॥ १८ ॥ मदप्रतिषेधार्थमाह—

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते ।
न लाभमत्ते न सुएण मत्ते ॥
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता ।
धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥ १९ ॥

छा० न जातिमत्तो न च रूपमत्तः ।
न लाभमत्तो न श्रुतेन मत्तः ॥
मदान् सर्वान्विवर्ज्य ।
धर्मध्यानरतो यः स भिक्षुः ॥ १९ ॥

'न जाइ०'—न जातिमत्तः, न च रूपमत्तः, न लाभमत्तः, न श्रुतमत्तः, मदान् सर्वान् विवर्जयन् धर्मध्यानरतो हि यः स भिक्षुः ॥ १९ ॥

पवेअए अज्जपयं महामुणी ।
धम्मे ठिओ ठावयइ परं पि ॥

निक्खम्म वज्जिज्ज कुसीललिंगं ।
न यावि हासं कुहए जे स भिक्खू ॥ २० ॥

छा० प्रवेदयेदार्यपदं महामुनिः ।
धर्मे स्थितः स्थापयति परमपि ॥
निष्क्रम्य वर्जयेत्कुशीललिङ्गम् ।
न चाऽपि हासे कुहको यः स भिक्षुः ॥ २० ॥

'पवेअए०'—प्रवेदयति—कथयत्यार्यपदं—शुद्धधर्मपदं महामुनिः (परोपकाराय), धर्मे स्थितः स्थापयति परमपि श्रोतारं, निष्क्रम्य वर्जयति कुशीललिङ्गं—सारम्भादिकुशीलचेष्टितं, न चाऽपि हास्यकुहकः—न हास्यकारि-कुहकयुक्तो यः स भिक्षुः [अनुस्वारोऽलाक्षणिकः] ॥ २० ॥ भिक्षुभावफलमाह—

तं देहवासं असुइं असासयं ।
सया चए निच्चहिअट्ठिअप्पा ॥
छिंदित्तु जाइमरणस्स बंधणं ।
उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥ २१ ॥ त्ति बेमि ।

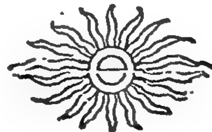
छा० तं देहवासमशुचिमशाश्वतम् ।
सदा त्यजेन्नित्यहिते स्थितात्मा ॥

छित्वा जातिमरणस्य बन्धनम् ।
उपैति भिक्षुरपुनरागमां गतिम् ॥ २१ ॥ इति ब्रवीमि ।

'तं देह०'—तं देहवासं—प्रत्यक्षोपलभ्यम् अशुचिमशाश्वतं सदा त्यजति, ममत्वाऽनुबन्धपरित्यागेन, नित्यहितास्थितात्मा—नित्यहिते—सम्यद्धर्शनादौ स्थित आत्मा यस्य स नित्यहितास्थितात्मा, छित्त्वा जातिमरणस्य—संसारस्य बन्धनं—कारणम्, उपैति भिक्षुरपुनरागमां—नित्यां गतिम्—सिद्धिगतिम् । ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ २१ ॥ इति सभिक्ष्वध्ययनस्य दशमस्याऽवचूर्णिः ।

॥ साभिक्खु—अज्झयणं दसमं ॥

॥ इति सभिक्ष्वध्ययनं दशमम् ॥



॥ अथ प्रथमा चूलिका ॥



इहानन्तराध्ययने भिक्षुगुणयुक्त एव भिक्षुरुक्तः, स चैवम्भूतोऽपि कदाचित् कर्मपरतन्त्रत्वात् कर्मणश्च बलवत्त्वात् सीदेत्, तत्स्थिरीकरणार्थं चूडाऽभिधीयते ।

इह खलु भो! पव्वइएणं उप्पण्णदुक्खेणं संजमे अरइसमावण्णचित्तेणं ओहाणुप्पेहिणा अणोहाइएणं चेव हयरस्सिगयंकुसपोअपडागाभूआइं इमाइं अट्ठारसठाणाइं सम्मं संपडिलेहिअव्वाइं भवंति। तंजहा—

हं भो! दुस्समाए दुप्पजीवी ॥ १ ॥

छा० इह खलु भो! प्रव्राजितेनोत्पन्नदुःखेन संयमेऽरतिसमापन्नचित्तेन ओघानुप्रेक्षिणाऽनौघिकेन चैव हयरश्मि–गजाङ्कुश–पोतपताकाभूतानि इमान्यष्टादशस्थानानि सम्यक् सम्प्रतिलेख्यानि भवन्ति। तद्यथा—

अहो भो! दुस्समायां दुष्प्रजीविनः ॥ १ ॥

'इह खलु०'—इह—प्रवचने, खलुरवधारणे, स च भिन्नक्रम इति दर्शयिष्यामि, 'भो' इत्यामन्त्रणे, प्रव्रजितेन साधुना, किंविशिष्टेन? उत्पन्नदुःखेन—सञ्जातशीतादिशारीरस्त्रीनिषद्यादिमानसदुःखेन, संयमेऽरतिसमापन्नचित्तेन, स एव

विशेष्यते—'अवधानोत्प्रेक्षिणा'—अवधानम्—अपसरणं, संयमादुत्प्राबल्येन प्रेक्षितुं शीलं यस्य स तथाविधः, तेन, उत्प्रव्रजितुकामेनेति भावः, अनवधावितेनैव—अनुत्प्रव्राजितेनैव, अमूनि वक्ष्यमाणलक्षणानि अष्टादशस्थानानि सम्यग्भावसारं सुष्ठु प्रेक्षितव्यानि—सुष्ठ्वालोचनीयानि भवन्तीति योगः । तान्येव विशेष्यन्ते—हयरश्मि-गजाङ्कुश-वोहित्थसितपट-तुल्यानि, एतदुक्तं स्यात्—यथा हयादीनामुन्मार्गप्रवृत्तिकामानां रश्म्यादयो नियमनहेतवः, तथैतान्यपि संयमादुन्मार्गप्रवृत्तिकामानां भव्यसत्त्वानामिति, यतश्चैवमतः सम्यक् सम्प्रेक्षितव्यानि भवन्ति, 'खलु'—शब्दोऽवधारणे, योगात्सम्यक् सम्यगेव सम्प्रत्युपेक्षितव्यान्येवेत्यर्थः, तद्यथा—'हं भो ! दुःख(ष)मायां दुष्प्रजीविनः' इति, हं भो शिष्यामन्त्रणे, दुःख(ष)मायां—अधमकालाख्यायां दुःखेन—कृच्छ्रेण प्रकर्षेण—उदारभोगापेक्षया जीवितुं शीलाः—जीविनः प्राणिन इति गम्यते १ ।

लहुस्सगा इत्तरिआ गिहीणं कामभोगा ॥ २ ॥

छा० लघुतरा इत्वरा गृहिणां कामभोगाः ॥ २ ॥

'लहुस्सगा०'—'लघवं इत्वरा गृहिणां कामभोगाः' वर्तन्ते दुःख(ष)मायां, सन्तोऽपि लघवः—तुच्छाः प्रकृत्यैव तुषमुष्टिवदसाराः, इत्वराः—अल्पकालाः, गृहिणां—गृहस्थानां कामभोगाः—मदनकामप्रधानाः शब्दादयो विषयाः, विपाककटवश्च, न देवानामिव विपरीताः, अतः किं गृहाश्रमेणेति सम्प्रत्युपेक्षितव्यम् २ ।

भुज्जो असाय(अ साइ)बहुला मणुस्सा ॥ ३ ॥

छा० भूयोऽसातबहुला मनुष्याः ॥ ३ ॥

'भुज्जो०'—भूयश्चाऽसातबहुला मनुष्याः, दुःख(ष)मायामिति वर्तते, पुनश्च स्वातिबहुलाः—मायाप्रचुराः, मनुष्या इति प्राणिनो न कदाचिद्विश्रम्भहेतवोऽमी, तद्रहितानाञ्च कीदृक् सुखं तथा तद्बन्धहेतुत्वेन च दारुणतरो बन्ध

'भुज्जो०'—भूयश्चाऽसातबहुला मनुष्याः, दुःख(ष)मायामिति वर्तते, पुनश्च स्वातिबहुलाः—मायाप्रचुराः, मनुष्या इति प्राणिनो न कदाचिद्विश्रम्भहेतवोऽमी, तद्रहितानाञ्च कीदृक् सुखं तथा तद्बन्धहेतुत्वेन च दारुणतरो बन्ध इति किं गृहाश्रमेण ? ३ ।

इमे अ मे दुक्खे न चिरकालोवट्ठाइ भविस्सइ ॥ ४ ॥

छा० **इदं च मम दुःखं न चिरकालोपस्थायि भविष्यति ॥ ४ ॥**

'इमे०'—इदं च दुःखं मे न चिरकालोपस्थायि भविष्यति ४ ।

ओमजणपुरक्कारे ॥ ५ ॥

छा० **अवमजनपुरस्कारः ॥ ५ ॥**

'ओमजण०'—ओ(अव)मजनपुरस्कारः—उत्प्रव्रजितेन तु न्यून(जघन्य)जनस्यापि स्वव्यसमगुप्तये अभ्युत्थानादि कार्यम्, अधार्मिकराजविषये वा चे(य)ष्टिप्रयोक्तुः खरकर्मणो नियमित एव । इहैवेदमधर्मफलम्, अतः किं गृहस्थाश्रमेण ? ५ । एवं सर्वत्र क्रिया योजनीया ।

वंतस्स य पडिआयणं ॥ ६ ॥

छा० **वान्तस्य च प्रत्यादानम् ॥ ६ ॥**

'वंतस्स०'—वान्तस्य प्रत्यापानं—भुक्तोज्झितपरिभोग इत्यर्थः ६ ।

अहरगइवासोवसंपया ॥ ७ ॥

छा० **अधरगतिवासोपसम्पत् ॥ ७ ॥**

'अहरगइ०'—अधरगतिवासोपसम्पत्—अधोगतिः—नरकगतिः, तस्यां वसनमधोगतिवासः, एतन्निमित्तभूतं कर्म गृह्यते, तस्योपसम्पत्—सामीप्येनाङ्गीकरणम् ७ ।

दुल्लहे खलु भो! गिहीणं धम्मे गिहिवासमज्झे वसंताणं ॥ ८ ॥

छा० **दुर्लभः खलु भो! गृहिणां धर्मो गृहवासमध्ये वसताम् ॥ ८ ॥**

'दुल्लहे०'—दुर्लभः खलु भो ! गृहिणां धर्मः, खलुरवधारणे, दुर्लभ एव प्रमादबहुलत्वात्, गृहवास(पाश)-मध्ये वसताम्, गृहशब्देन पाशकल्पाः पुत्रकलत्रादयो गृह्यन्ते ८ ।

आयंके से वहाय होइ ॥ ९ ॥ संकप्पे से वहाय होइ ॥ १० ॥

छा० **आतङ्कस्तस्य वधाय भवति ॥ ९ ॥ सङ्कल्पस्तस्य वधाय भवति ॥ १० ॥**

'आयंके०'—आतङ्कस्तस्य वधाय भवति, आतङ्कः—सद्योघाती विसूचिकादिरूपः ९ ।

'संकप्पे०'—सङ्कल्पस्तस्य वधाय भवति, सङ्कल्पः—इष्टानिष्ट(योग)वियोगप्राप्तिजो[1] मानसातङ्कस्तस्य गृहिणस्तथाचेष्टायोगात्—मिथ्याविकल्पाभ्यासेन ग्रहादिप्राप्तेर्वधाय भवति १० ।

१ 'इष्टाऽनिष्टवियोगप्राप्तिजो मानसातङ्कः' इति च पाठः ।

सोवक्केसे गिहवासे, निरुवक्केसे परिआए ॥ ११ ॥

छा० **सोपक्लेशो गृहवासः, निरुपक्लेशः पर्यायः ॥ ११ ॥**

सोवक्केसे गिहवासे, निरुवक्केसे परिआए ॥ ११ ॥

छा० सोपक्लेशो गृहवासः, निरुपक्लेशः पर्यायः ॥ ११ ॥

बंधे गिहवासे, मुक्खे परिआए ॥ १२ ॥

छा० बन्धो गृहवासः, मोक्षः पर्यायः ॥ १२ ॥

सावज्जे गिहवासे, अणवज्जे परिआए ॥ १३ ॥

छा० सावद्यो गृहवासः, अनवद्यः पर्यायः ॥ १३ ॥

'सोवक्केसे०'—सोपक्लेशो गृहवासः सहोपक्लेशैः कृषिवाणिज्यादिकैः स सोपक्लेशः ११ ।
'निरुवक्केसे०'—निरुपक्लेशः पर्यायः, एभिरेवोपक्लेशै रहितः १२ ।
'बंधे०'—बन्धो गृहवासः सदा तद्धेत्वनुष्ठानात्कोशकारकीटकवत् १३ ।
'मुक्खे०'—मोक्षः पर्यायः, अनवरतं कर्मनिगडविगमान्मुक्तवत् १४ ।
'सावज्जे०'—अत एव सावद्यो गृहवासः, सावद्यः—सपापः १५ ।
'अणवज्जे०'—अनवद्यः पर्यायः, अहिंसादिपालनात्मकत्वात् १६ ।

बहुसाहारणा गिहीणं कामभोगा ॥ १४ ॥

छा० बहुसाधारणा गृहिणां कामभोगाः ॥ १४ ॥

' बहुसाहारणा०'—बहुसाधारणा गृहिणां कामभोगा इति, बहुसाधारणाश्चौरराजकुलादिसामान्या गृहस्थानां कामभोगाः १७ (१४) ।

पत्तेअं पुण्णपावं ॥ १५ ॥

छा० **प्रत्येकं पुण्यपापम् ॥ १५ ॥**

' पत्तेअं०'—प्रत्येकं पुण्यपापमिति मातापितृपुत्रकलत्रादिनिमित्तमप्यनुष्ठितं पुण्यपापं प्रत्येकं—पृथक् पृथक्, येनानुष्ठितं तस्य कर्तुरेव तदिति भावार्थः १८ (१५) ।

एतदन्तर्गतो वृद्धाऽभिप्रायेणाऽशेषग्रन्थः, समस्तोऽत्रैव, अन्ये तु वाचककृतौ (व्याचक्षते)—' सोपक्लेशो गृहवासः,' इत्यादिषु षट्सु स्थानेषु सप्रतिपक्षेषु स्थानत्रयं गृह्यते, एवञ्च ' बहुसाधारणा गृहिणां कामभोगाः ' इति चतुर्दशं स्थानम् १४ । ' प्रत्येकं पुण्यपापमिति ' पञ्चदशम् १५ । शेषाण्यभिधीयन्ते—

अणिच्चे खलु भो ! मणुआण जीविए कुसग्गजलबिंदुचंचले ॥ १६ ॥

छा० **अनित्यं खलु भो ! मनुजानां जीवितं कुशाग्रजलबिन्दुचञ्चलम् ॥ १६ ॥**

' अणिच्चे०'—अनित्यं खलु भो ! मनुष्याणां जीवितं कुशाग्रजलबिन्दुचञ्चलम्, तदलं गृहस्थाश्रमेण १६ ।

बहुं च खलु भो ! पावं कम्मं पगडं ॥ १७ ॥

छा० **बहु च खलु भो ! पापं कर्म प्रकटम् ॥ १७ ॥**

' बहुं च०'—बहु च खलु भो ! पापं कर्म प्रकृतम्, बहु च—'च'—शब्दात्क्लिष्टञ्च, खलुशब्दोऽवधारणे,

बह्वेव पापं कर्म—चारित्रमोहनीयादि, प्रकृतं—निर्वर्तितं, मयेति गम्यते, श्रामण्यप्राप्तावप्येवं क्षुद्रबुद्धिर्भवति, अतो न किञ्चिद्गृहाश्रमेण १७ ।

बह्वेव पापं कर्म—चारित्रमोहनीयादि, प्रकृतं—निर्वर्तितं, मयेति गम्यते, श्रामण्यप्राप्तावप्येवं क्षुद्रबुद्धिर्भवति, अतो न किञ्चिद्गृहाश्रमेण १७ ।

पावाणं च खलु भो ! कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेइत्ता मुक्खो, णत्थि अवेइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता, अट्ठारसमं पयं भवइ ॥ १८ ॥ भवइ अ इत्थ सिलोगो——

छा० पापानां च खलु भो! कृतानां कर्मणां पूर्वं दुश्चीर्णानां दुष्प्रतिक्रान्तानां वेदित्वा मोक्षः, नाऽस्त्यवेदित्वा, तपसा वा शोषयित्वा, अष्टादशं पदं भवति ॥ १८ ॥ भवति चाऽत्र श्लोकः——

'पावाणं०'—पापानां च, वा पुण्यानां, खलु भो! कृतानां कर्मणां, 'खलु'—शब्दः कारिताऽनुमति विशेषणार्थः, भो! इति शिष्यामन्त्रणे, प्राक्—पूर्वमन्यजन्मसु दुश्चारितानां प्रमादकषायजदुश्चरित(जनितानि) दुश्चारितानि, कारणे कार्योपचारात्, दुश्चारितहेतूनि वा, कार्ये कारणोपचारात्, एवं दुष्पराक्रान्तानां—मिथ्यादर्शनाऽविरतिजदुष्पराक्रान्तजनितानि दुष्पराक्रान्तानि, हेतौ फलोपचारात्, दुष्पराक्रान्तहेतूपचारात्, इह च दुश्चारितानि मद्यपानाऽलीकभाषणादीनि, दुष्पराक्रान्तानि तु वधबन्धादीनि, तदमीषामेवम्भूतानां कर्मणां वेदयित्वा—अनुभूय, फलमिति वाक्यशेषः, किम्? मोक्षो भवति-प्रधानपुरुषार्थो, भवति, नास्त्यवेदयित्वा, 'तपसा वा क्षपयित्वा' इति न किञ्चिद्गृहाश्रमेणेति सम्प्रत्युपेक्षितव्यमिति, अष्टादशं पदं भवति १८ । भवति चाऽत्र श्लोकः। अत्रेत्यष्टादशस्थानार्थसम्बन्धे उक्ताऽनुक्तार्थसङ्ग्रहपर इत्यर्थः ।

जया य चयइ धम्मं अणज्जो भोगकारणा ।
से तत्थ मुच्छिए बाले आयइं नावबुज्झइ ॥ १ ॥
छा० यदा च त्यजति धर्मम्, अनार्यो भोगकारणात् ।
स तत्र मूर्च्छितो बालः, आयतिं नाऽवबुध्यते ॥ १ ॥

'जया०'—यदा चैवमप्यष्टादशसु व्यावर्तनकारणेषु सत्स्वपि जहाति—त्यजति धर्मं—चारित्रलक्षणम्, अनार्य इति—अनार्य इवानार्यः—म्लेच्छचेष्टितः, किमर्थमित्याह—भोगकारणेन—शब्दादिभोगनिमित्तम्, स धर्मत्यागी तेषु भोगेषु मूर्च्छितः—गृद्धः, बालः—अज्ञः, 'आयतिम्—आगामिकालम्, नावबुद्ध्यते—न सम्यगवगच्छतीति ॥ १ ॥

जया ओहाविओ होइ इंदो वा पडिओ छमं ।
सव्वधम्मपरिब्भट्ठो स पच्छा परितप्पइ ॥ २ ॥
छा० यदा औधिको भवति, इन्द्रो वा पतितः क्ष्माम् ।
सर्वधर्मपरिभ्रष्टः स पश्चात्परितप्यते ॥ २ ॥

'जया०'—यदाऽपसृतो भवति संयमसुखविभूतेः, उत्प्रव्रजित इत्यर्थः, इन्द्र इव पतितः—क्ष्मां गतः, स्वविभवभ्रंशेन भूमौ पतित इति भावः । सर्वधर्मपरिभ्रष्टः स पश्चान्मनाग् मोहावसाने परितप्यते—किमिदमकार्यं मयाऽनुष्ठितमित्यनुतापं करोति ॥ २ ॥

जया य वंदिमो होइ पच्छा होइ अवंदिमो ।
देवया व चुआ ठाणा स पच्छा परितप्पइ ॥ ३ ॥

जया य वंदिमो होइ पच्छा होइ अवंदिमो ।
देवया व चुआ ठाणा स पच्छा परितप्पइ ॥ ३ ॥

छा० यदा च वन्द्यो भवति, पश्चाद्भवत्यवन्द्यः ।
देवतेव च्युता स्थानात्, स पश्चात्परितप्यते ॥ ३ ॥

'जया०'—यदा च वन्द्यो भवति पश्चाद्भवत्यवन्द्यः, तदा च देवता इव काचिदिन्द्रवज्रात् स्थानच्युता सती स पश्चात् परितप्यते ॥ ३ ॥

जया य पूइमो होइ पच्छा होइ अपूइमो ।
राया व रज्जपब्भट्ठो स पच्छा परितप्पइ ॥ ४ ॥

छा० यदा च पूज्यो भवति, पश्चाद्भवत्यपूज्यः ।
राजेव राज्यप्रभ्रष्टः, स पश्चात्परितप्यते ॥ ४ ॥

'जया०'—यदा च पज्यो भवति पश्चाद्भवत्यपूज्यः, तदा राजेव राज्यप्रभ्रष्टः स महतो भोगाद्विप्रयुक्तः स पश्चात् परितप्यते ॥ ४ ॥

जया य माणिमो होइ पच्छा होइ अमाणिमो ।
सिट्ठिव्व कब्बडे छूढो स पच्छा परितप्पइ ॥ ५ ॥

छा० यदा च मान्यो भवति, पश्चाद्भवत्यमान्यः ।
श्रेष्ठी व कर्बटे क्षिप्तः, स पश्चात्परितप्यते ॥ ५ ॥

'जया०'—यदा च मान्यो भवति पश्चाद्भवत्यमान्यः, तदा श्रेष्ठीव कर्बटे—महाक्षुद्रसन्निवेशे क्षिप्तः स पश्चात् परितप्यते ॥ ५ ॥

जया य थेरओ होइ समइक्कंतजुव्वणो ।
मच्छुव्व गलं गिलित्ता स पच्छा परितप्पइ ॥ ६ ॥

छा० यदा च स्थविरो भवति, समतिक्रान्तयौवनः ।
मत्स्य इव बडिशं गिलित्वा, स पश्चात्परितप्यते ॥ ६ ॥

'जया०'—यदा च स्थविरो भवति समतिक्रान्तयौवनः, एकान्तस्थविर इति भावः, तदा विपाककटुत्वाद्भोगानां मत्स्य इव गलं—बडिशं गिलित्वा—अविगृह्य तथाविधकर्मलोहकण्टकाविद्धः सन् स पश्चात् परितप्यते ॥ ६ ॥

जया य कुकुडुंबस्स कुतत्तीहिं विहम्मइ ।
हत्थी व बंधणे बद्धो स पच्छा परितप्पइ ॥ ७ ॥

छा० यदा च कुकुटुम्बस्य, कुतप्तिभिर्विहन्यते ।
हस्तीव बन्धने बद्धः, स पश्चात्परितप्यते ॥ ७ ॥

'जया०'—यदा च कुकुटुम्बस्य कुतप्तिभिः—आत्मसन्तापकारिणीभिर्विहन्यते—विषयभोगान् प्रति विघातं नीयते, तदा हस्तीव कुकुटुम्बबन्धनबद्धः स पश्चात् परितप्यते ॥ ७ ॥

पुत्तदारपरिकिण्णो मोहसंताणसंतओ ।
पंकोसण्णो जहा णागो स पच्छा परितप्पइ ॥ ८ ॥

छा० **पुत्रदारपरिकीर्णः, मोहसन्तानसन्ततः ।**
पङ्कावसन्नो यथा नागः, स पश्चात्परितप्यते ॥ ८ ॥

'पुत्तदार०'—पुत्रदारपरिकीर्णः, मोहसन्तानसन्ततः—दर्शनादिमोहनीयकर्मप्रवाहेन व्याप्तः, पङ्काऽवसन्नो यथा नागः—कर्दमाऽवमग्नो वनगज इव, स पश्चात् परितप्यते ॥ ८ ॥

अज्ज आहं गणी हुंतो भाविअप्पा बहुस्सुओ ।
जइ हं रमंतो परिआए सामण्णे जिणदेसिए ॥ ९ ॥

छा० **अद्य चाऽहं गणी भवेयम्, भावितात्मा बहुश्रुतः ।**
यद्यहं रमेय पर्याये, श्रामण्ये जिनदेशिते ॥ ९ ॥

'अज्ज०'—अद्य—अस्मिन्दिवसे, अहमिति आत्मनिर्देशे, गणी स्याम्—आचार्यो भवेयम्, भावितात्मा बहुश्रुतः, यद्यहमरमिष्यं—रतिमकरिष्यम् पर्याये—प्रव्रज्यारूपे श्रामण्ये श्रमणानां सम्बन्धिनि—जिनदर्शिते ॥ ९ ॥ अवधानोत्प्रेक्षिणः स्थिरीकरणार्थमाह—

देवलोगसमाणो उ परिआओ महेसिणं ।
रयाणं, अरयाणं च महानरयसालिसो ॥ १० ॥

छा० देवलोकसमानस्तु, पर्यायो महर्षीणाम् ।
रतानामरतानां च, महानरकसदृशः ॥ १० ॥

'देवलोग०'—देवलोकसमानस्तु पर्यायो महर्षीणां रतानां पर्याय एवेति गम्यते, अरतानाञ्च चाद्विषयाभिलाषिणाञ्च—भगवल्लिङ्गविडम्बकानां महानरकसदृशः ॥ १० ॥ एतदुपसंहारेणैव निगमयन्नाह—

अमरोवमं जाणिअ सुक्खमुत्तमं ।
रयाण परिआइ तहारयाणं ॥
नरओवमं जाणिअ दुक्खमुत्तमं ।
रमिज्ज तम्हा परिआइ पंडिए ॥ ११ ॥

छा० अमरोपमं ज्ञात्वा सौख्यमुत्तमम् ।
रतानां पर्याये तथाऽरतानाम् ॥
नरकोपमं ज्ञात्वा दुःखमुत्तमम् ।
रमेत तस्मात्पर्याये पण्डितः ॥ ११ ॥

'अमरो०'—अमरोपमं ज्ञात्वा सौख्यमुत्तमं रतानां पर्याये, तथा अरतानाञ्च नरकोपमं ज्ञात्वा दुःखमुत्तमं

'अमरो०'—अमरोपमं ज्ञात्वा सौख्यमुत्तमं रतानां पर्याये, तथा अरतानाञ्च नरकोपमं ज्ञात्वा दुःखमुत्तमं, यस्मादेवं रताऽरतविपाकः, तस्माद्रमेत—शक्तिं(रतिं) कुर्यात्पर्याये पण्डितः ॥ ११ ॥ पर्यायच्युतस्यैहिकदोषमाह—

धम्माउ भट्ठं सिरिओ अवेअं ।
जण्णग्गिविज्झायमिवप्पतेअं ॥
हीलंति णं दुव्विहियं कुसीला ।
दाढुड्ढिअं घोरविसं व णागं ॥ १२ ॥

छा० धर्माद्भ्रष्टं श्रियोऽपेतम् ।
यज्ञाग्निं विध्यातमिवाल्पतेजसम् ॥
अनाद्रियन्ते दुर्विहितं कुशीलाः ।
दंष्ट्रोद्धृतं घोरविषमिव नागम् ॥ १२ ॥

'धम्माउ०'—धर्माद्भ्रष्टं श्रियोऽपेतं—तपोलक्ष्म्या अपगतं यज्ञाऽग्निं विध्यातमिव यागाऽवसानेऽल्पतेजसम्, 'अल्प'—शब्दोऽभावे, तेजःशून्यं—भस्मकल्पमित्यर्थः, हीलयन्ति—कदर्थयन्ति पतितस्त्वमिति पङ्क्त्यपसारणादिना, एनमुन्निष्क्रान्तं दुर्विहितं—दुष्टाऽनुष्ठायिनं कुशीलः—तत्सङ्गोचिता लोकाः, [प्राकृतत्वात्] उद्धृतदंष्ट्रम्—उत्खातदंष्ट्रं घोरविषमिव नागम् ॥ १२ ॥ एवमस्य भ्रष्टशीलस्य ओघत ऐहिकं दोषमभिधाय ऐहिकामुष्मिकमाह—

इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती ।
दुण्णामधिज्जं च पिहुज्जणंमि ॥
चुअस्स धम्माउ अहम्मसेविणो ।
संभिण्णवित्तस्स य (हि)दिट्ठओ गई ॥ १३ ॥

छा० इहैवाधर्मोऽयशोऽकीर्तिः ।
दुर्नामधेयं च पृथग्जने ॥
च्युतस्य धर्मादधर्मसेविनः ।
सम्भिन्नवित्तस्य च(नीचतो)दिष्टतो गतिः ॥ १३ ॥

'इहेव०'—इहैवाऽधर्मोऽयशोऽकीर्तिः, दुर्नामधेयञ्च, 'पुराणः पतितः' इति कुत्सितनामधेयञ्च भवति, पृथग्जने—सामान्यलोकेऽपि, आस्तां विशिष्टलोके, च्युतस्य धर्मादधर्मसेविनः साम्भिन्नवृत्तस्य च—अखण्डनीयखण्डितचारित्रस्य, अधस्ताद्गतिः—नरकेषूपपातः ॥ १३ ॥ अस्यैव विशेषप्रत्यपायमाह—

भुंजित्तु भोगाइं पसज्झचेअसा ।
तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं ॥
गइं च गच्छे अणाहिज्जिअं दुहं ।
बोही अ से णो सुलहा पुणो पुणो ॥ १४ ॥

छा० भुक्त्वा भोगान्प्रसह्यचेतसा ।

छा० भुक्त्वा भोगान्प्रसह्यचेतसा ।
तथाविधं कृत्वाऽसंयमं बहुम् ॥
गतिं च गच्छेदनभिध्यातां दुःखाम् ।
बोधिश्च तस्य नो सुलभः पुनः पुनः ॥ १४ ॥

'भुंजित्तु०'—भुक्त्वा भोगान् प्रसह्यचेतसा—धर्मनिरपेक्षतया प्रकटचित्तेन तथाविधं कृत्वाऽसंयमं—कृष्यादिरूपं बहुम्—असन्तोषात्प्रभूतं गतिं च गच्छति अनभिध्याताम्—अनिष्टामित्यर्थः, दुःखां—प्रकृत्यैवाऽसुन्दराम्, बोधिश्च—जिनधर्माऽवाप्तिः से—अस्यैव वा उन्निष्क्रान्तस्य न सुलभा (भः) पुनः प्रभूतेष्वपि जन्मसु ॥ १४ ॥ यस्मादेवं तस्मादुत्पन्नदुःखोऽप्येतदनुचिन्त्य नोत्प्रव्रजेदित्याह—

इमस्स ता नेरइअस्स जंतुणो ।
दुहोवणीअस्स किलेसवत्तिणो ॥
पलिओवमं झिज्झइ सागरोवमं ।
किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं ॥ १५ ॥

छा० अस्य तावन्नारकस्य जन्तोः ।
दुःखोपनीतस्य क्लेशवर्तिनः ॥

पल्योपमं क्षीयते सागरोपमम् ।
किमङ्ग ! पुनर्ममेदं मनोदुःखम् ॥ १५ ॥

'इमस्स०'–'अस्य तावत्' इत्यात्मन एव निर्देशः, नारकस्य जन्तोः—नरकमनुप्राप्तस्येत्यर्थः, दुःखोपनीतस्य—सामीप्येन प्राप्तदुःखस्य, क्लेशवृत्तेः—एकान्तक्लेशचेष्टितस्य सतो नरके एव पल्योपमं क्षीयते, सागरोपमं च, किमङ्ग पुनर्ममेदं संयमारतिनिष्पन्नं मनोदुःखम् ? ॥ १५ ॥

न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सइ ।
असासया भोगपिवास जंतुणो ॥
न चे सरीरेण इमेण वस्सइ ।
अवस्सइ जीविअपज्जवेण मे ॥ १६ ॥

छा० **न मे चिरं दुःखमिदं भविष्यति ।**
अशाश्वती भोगपिपासा जन्तोः ॥
न चेच्छरीरेणाऽनेनाऽपयास्यति ।
अपैष्यति जीवितपर्ययेन मे ॥ १६ ॥

'न मे०'–न मम चिरं दुःखमिदं भविष्यति, अशाश्वती भोगपिपासा जन्तोः, न चेच्छरीरेणाऽनेन अपयास्यति, वृद्धस्याऽपि सतः, तर्हि अपयास्यत्येव जीवितस्य पर्ययेण—जीवितव्यपगमेन—मरणेन ॥ १६ ॥ अस्यैव फलमाह-

जस्सेवमप्पा उ हविज्ज णिच्छिओ ।

जस्सेवमप्पा उ हविज्ज णिच्छिओ ।
चइज्ज देहं न उ धम्मसासणं ॥
तं तारिसं णो पइलंति इंदिआ ।
उवंतवाया व सुदंसणं गिरिं ॥ १७ ॥

छा० यस्यैवात्मा तु भवेन्निश्चितः ।
त्यजेद्देहं न तु धर्मशासनम् ॥
तं तादृशं नो प्रचालयन्तीन्द्रियाः ।
उत्पतद्वाता इव सुदर्शनं गिरिम् ॥ १७ ॥

'जस्सेव०'—यस्यैवमुक्तप्रकारेण आत्मैव, तुरेवकारार्थः, भवेन्निश्चितः—दृढः स त्यजेद्देहं, क्वचिद्विघ्ने आयाते सति, न तु धर्मशासनं—धर्माज्ञाम्, तं तादृशं धर्मे निश्चितं न प्रचालयन्ति—प्रकम्पयन्ति इन्द्रियाणि । निदर्शनमाह—उत्पतद्वाता इव सुदर्शनं गिरिम् ॥ १७ ॥ उपसंहरन्नाह—

इच्चेव संपस्सिअ बुद्धिमं नरो ।
आयं उवायं विविहं विआणिआ ॥
काएण वाया अदु माणसेणं ।
तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिट्ठिज्जासि ॥ १८ ॥ त्ति बेमि ।

छा० इत्येवं संदृश्य बुद्धिमान्नरः ।
आयमुपायं विविधं विज्ञाय ॥
कायेन वाचाऽथ मानसेन ।
त्रिगुप्तिगुप्तो जिनवचनमधितिष्ठेत् ॥ १८ ॥ इति ब्रवीमि ।

' इच्चेव० '—इत्येतद्(वं)दुष्प्रजीवित्वादि सम्प्रेक्ष्य बुद्धिमान् नरः, आयं—ज्ञानादिलाभम्, उपायं—तस्यैव साधनप्रकारं, विविधमनेकप्रकारं विज्ञाय, कायेन वाचाऽथ मनसा (त्रिभिरपि करणैः) त्रिगुप्तिगुप्तः सन् जिनवचनम्—अर्हदुपदेशम् अधितिष्ठेत । ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ १८ ॥ इति रतिवाक्याध्ययनाऽवचूरिः ।

॥ रइवक्का चूलिआ (चूला) पढमा ॥
॥ इति रतिवाक्या चूलिका (चूडा) प्रथमा ॥



॥ अथ .तीया चूलिक ॥

॥ अथ द्वितीया चूलिका ॥

व्याख्यातं प्रथमचूडाऽध्ययनम् । अथ द्वितीयमारभ्यते, अस्यौघत सम्बन्धः प्रतिपादित एव, विशेषतस्त्वनन्तराऽध्ययने सीदतः स्थिरीकरणमुक्तम्, इह तु विविक्तचर्योच्यते, इत्ययमाभिसम्बन्धः ।

चूलिअं तु पवक्खामि सुअं केवलिभासिअं ।
जं सुणित्तु सुपुण्णाणं धम्मे उप्पज्जए मई ॥ १ ॥

छा० चूलिकां तु प्रवक्ष्यामि, श्रुतां केवलिभाषिताम् ।
यच्छ्रुत्वा सुपुण्यानां, धर्मे उत्पद्यते मतिः ॥ १ ॥

'चूलिअं०'—चूडां तु प्रवक्ष्यामि, ' श्रुतं केवलिभाषितमि'ति इयं हि चूडा श्रुतं—श्रुतज्ञानं वर्तते, कारणे कार्योपचारात्, एतच्च केवलिभाषितम्—अनन्तरमेव केवलिना प्ररूपितामिति सफलं विशेषणम् । एवं च वृद्धवादः—कयाचिदार्यया सहिष्णुः कुरगडुकप्रायः संयतश्चातुर्मासिकादावुपवासं कारितः स तदाराधनया मृत एव । ऋषिघातकाऽहमित्युद्दिश्य सा तीर्थकरं पृच्छामीति गुणावर्जितदेवतया नीता सीमन्धरसमीपं, पृष्टो भगवान्, अदुष्टचित्ताऽघातिका इत्यभिधाय भगवतेमां चूडां ग्राहितेति, इदमेव विशेषं श्रुत्वा सुपुण्यानां धर्मे—चारित्रधर्मे—उत्पद्यते मतिः ॥ १ ॥

अणुसोअपडिए बहुजणंमि पडिसोअलद्धलक्खेणं ।
पडिसोअमेव अप्पा दायव्वो होउकामेणं ॥ २ ॥

छा० अनुस्रोतःपतिते बहुजने, प्रतिश्रोतोलब्धलक्ष्येण ।
प्रतिस्रोत एवात्मा, दातव्यो भवतुकामेन ॥ २ ॥

'अणुसोअ०'—अनुस्रोतःप्रस्थिते—नदीपूरप्रवाहपतितकाष्ठवद् विषयकुमार्गद्रव्याक्रियाऽनुकूल्येन प्रवृत्ते बहुजने प्रतिस्रोतोलब्धलक्ष्येण द्रव्यतस्तस्यामेव नद्यां कथञ्चिद्देवतानु(नि)योगात् प्रतीपस्रोतःप्राप्तलक्ष्येण भावतस्तु विषयादिवैपरीत्यात्, कथञ्चिदवाप्तसंयमलक्ष्येण प्रतिस्रोत एव दुरपाकरणीयमप्यपाकृत्य विषयादि संयमलक्ष्याऽभिमुखमेवात्मा-जीवो दातव्यः—प्रवर्तयितव्यः, भवितुकामेन—संसारसमुद्रपरिहारेण मुक्ततया भवितुकामेन साधुना ॥ २ ॥ अधिकृतमेव स्पष्टयन्नाह—

अणुसोअसुहो लोओ पडिसोओ आसवो सुविहिआणं ।
अणुसोओ संसारो पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥ ३ ॥

छा० अनुश्रोतःसुखो लोकः, प्रतिश्रोत आस्रवः सुविहितानाम् ।
अनुश्रोतः संसारः, प्रतिश्रोतस्तस्योत्तारः ॥ ३ ॥

'अणुसोअ०'—अनुस्रोतःसुखो लोकः, उदकनिम्नाऽभिसर्पणवत् प्रकृत्याऽनुकूलविषयादिसुखो लोकः कर्मगुरुत्वात्, प्रतिस्रोत एव तस्माद्विपरीत आस्रवः—इन्द्रियजयादिरूपः परमार्थपेशलः कायवाङ्मनोव्यापारः, आश्रमो वा व्रतग्रहणादिरूपः सुविहितानाम् । उभयफलमाह—अनुस्रोतः संसारः, प्रतिस्रोतस्तस्येपि [पञ्चम्यर्थे षष्ठी] तस्मात् संसारात्, उत्तारः—उत्तरणम् ॥ ३ ॥ यस्मादेवमत आह—

तम्हा आयारपरक्कमेणं संवरसमाहिबहुलेणं ।

तम्हा आयारपरक्कमेणं संवरसमाहिबहुलेणं ।
चरिआ गुणा य नियमा य हुंति साहूण दट्ठव्वा ॥ ४ ॥

छा० तस्मादाचारपराक्रमेन, संवरसमाधिबहुलेन ।
चर्या गुणाश्च नियमाश्च, भवन्ति साधुना द्रष्टव्याः ॥ ४ ॥

'तम्हा०'—तस्मादाचारपराक्रमेण—आचारे ज्ञानादौ पराक्रमः—प्रवृत्तिबलं यस्य स आचारपराक्रमः, तेन, संवरसमाधिबहुलेन—संवरे—इन्द्रियादिविषये समाधिः—अनाकुलत्वं बहुलं—प्रभूतं यस्य सः, तेन, चर्या—अनियतवासादिरूपा, गुणाश्च मूलोत्तरगुणाः, नियमाश्च—उत्तरगुणानामेव पिण्डविशुद्ध्यादीनां स्वकालाऽऽसेवननियोगा भवन्ति, साधूनामेते चर्यादयो भवन्ति द्रष्टव्याः ॥ ४ ॥ चर्यामाह—

अणिएअवासो समुआणचरिआ ।
अण्णायउंछं पइरिक्कया अ ॥
अप्पोवही कलहविवज्जणा य ।
विहारचरिआ इसिणं पसत्था ॥ ५ ॥

छा० अनिकेतवासः समुदानचर्या ।
अज्ञातोञ्छं प्रातिरिक्तता च ॥

अल्पोपधिः कलहविवर्जना च ।
विहारचर्या ऋषीणां प्रशस्ताः ॥ ५ ॥

'अणिएअ०'–अनियतवासो मासकल्पादिना, अनिकेतवासो वा–अगृहे–उद्यानादौ वासः, समुदानचर्या अनेकत्र भिक्षाचरणम्, अज्ञातोञ्छं–विशुद्धोपकरणविषयम्, 'पइरिक्कया अ',–विजनैकान्तसेविता च, अल्पोपधित्वं कलह-विवर्जना च, विहारचर्या–विहरणस्थितिः, एवम्भूता ऋषीणां प्रशस्ता ॥ ५ ॥

आइण्णओमाणविवज्जणा य ।
ओसण्णदिट्ठाहडभत्तपाणे ॥
संसट्ठकप्पेण चरिज्ज भिक्खू ।
तज्जाय–संसट्ठ जई जइज्जा ॥ ६ ॥

छा० आकीर्णाऽवमानविवर्जना च ।
अवसन्नदृष्टाहृतभक्तपाने ॥
संसृष्टकल्पेन चरेद्भिक्षुः ।
तज्जातसंसृष्टो यतिर्यतेत ॥ ६ ॥

'आइण्ण०'–आकीर्णाऽवमानविवर्जना च–आकीर्णं–संखड्यादि, अवमानं–लोकाबहुमानादि, अस्य विवर्जनम्, आकीर्णे हस्तपादादिलूषणदोषात्, उत्सन्नदृष्टाहृतं भक्तपानम्,ऋषीणां प्रशस्तमिति योगः, ' उत्सन्न '–शब्दः

प्रायो वृत्तौ वर्तते, संसृष्टकल्पेन–हस्तमात्रकादिसंसृष्टविधिना चरेद्भिक्षुः, अन्यथा पुरःकर्मादिदोषात, तज्जातिसंसृष्टे–

प्रायो वृत्तौ वर्तते, संसृष्टकल्पेन—हस्तमात्रकादिसंसृष्टविधिना चरेद्भिक्षुः, अन्यथा पुरःकर्मादिदोषात्, तज्जातिसंसृष्टे—आमगोरसादिसमानजातीयसंसृष्टे हस्तमात्रकादौ यतिर्यतेत—यत्नं कुर्यात् ॥ ६ ॥

अमज्जमंसासि अमच्छरी अ ।
अभिक्खणं निव्विगइं गया[1] अ ॥
अभिक्खणं काउसग्गकारी ।
सज्झायजोगे पयओ हविज्जा ॥ ७ ॥

छा० अमद्यमांसाश्यमत्सरी च ।
अभीक्ष्णं निर्विकृतिं गतश्च ॥
अभीक्ष्णं कायोत्सर्गकारी ।
स्वाध्याययोगे प्रयतो भवेत् ॥ ७ ॥

'अमज्ज०'—अमद्यमांसाशी भवेत्, अमत्सरी च भवेत्, अभीक्ष्णं—पुनः पुनः पुष्टकारणाऽभावे विर्विकृतिकश्च—निर्गतविकृतिपरिभोगश्च भवेत्, अभीक्ष्णं गमनाऽगमनादिषु विकृतिपरिभोगे च कायोत्सर्गकारी भवेत्, स्वाध्याययोगे—वाचनादौ प्रयतः—अतिशयप्रयत्नवान् भवेत् ॥ ७ ॥

न पडिण्णविज्जा सयणासणाइं ।
सिज्जं णिसिज्जं तह भत्तपाणं ॥

---

१ 'गया' इति स्थाने 'गओ' इति रूपं व्याकरणदृष्ट्या शुद्धं स्यात् ।

गामे कुले वा नगरे व देसे ।
ममत्तभावं न कहंचि कुज्जा ॥ ८ ॥

छा० न प्रतिज्ञापयेच्छयनासनानि ।
शय्यां निषद्यां तथा भक्तपानम् ॥
ग्रामे कुले वा नगरे वा देशे ।
ममत्वभावं न क्वचित्कुर्यात् ॥ ८ ॥

'न पडि०'—न प्रतिज्ञापयेत्—मास(सादि)कल्पसमाप्तौ गच्छन् 'भूयो ममैतानि दातव्यानि' इति न प्रतिज्ञां कारयेद् गृहस्थं, किमाश्रित्येत्याह—'शयनाऽऽसने शय्यां निषद्यां तथा भक्तपानं'—शय्या—वसतिः, निषद्या—स्वाध्यायभूमिः, ग्रामे कुले—श्रावककुलादौ नगरे देशे वा ममत्वभावं—ममेदमिति न क्वचिदुपकरणादिष्वपि कुर्यात् ॥८॥

गिहिणो वेआवडिअं न कुज्जा ।
अभिवायणं वंदण—पूअणं वा ॥
असंकिलिट्ठेहि समं वसिज्जा ।
मुणीचरित्तस्स जओ न हाणी ॥ ९ ॥

छा० गृहिणो वैयावृत्यं न कुर्यात् ।
अभिवादनं वन्दन—पूजनं वा ॥
असंक्लिष्टैः समं वसेत् ।

असंक्लिष्टैः समं वसेत् ।
मुनिश्चारित्रस्य यतो न हानिः ॥ ९ ॥

'गिहिणो०'—गृहिणो वैयावृत्यं न कुर्यात्, अभिवादनं—वाङ्नमस्काररूपं, वन्दनं—कायप्रणामलक्षणं, पूजनं वा वस्त्रादिभिः, समभ्यर्चनं वा गृहिणो न कुर्यात्, असंक्लिष्टैः—गृहिवैयावृत्यादिकरणसंक्लेशरहितैः साधुभिः समं वसेन्मुनिः, चारित्रस्य यतः—येभ्यः सकाशान्न हानिः ॥ ९ ॥ विशेषमाह—

न या लभिज्जा निउणं सहायं ।
गुणाहियं वा गुणओ समं वा ॥
एगो वि पावाइं विवज्जयंतो ।
विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ १० ॥

छा० **न वा लभेत निपुणं सहायम् ।**
गुणाधिकं वा गुणतः समं वा ॥
एकोऽपि पापानि विवर्जयन् ।
विहरेत्कामेष्वसज्जन् ॥ १० ॥

'न या०'—न यदि लभेत निपुणं सखायं, किंविशिष्टम् ? गुणाऽधिकं वा—ज्ञानादिगुणोत्कृष्टं वा, गुणतः समं वा—[तृतीयार्थे पञ्चमी] गुणैस्तुल्यं वा, 'वा'—शब्दाद्धीनमपि, जात्यं—काञ्चनकल्पं, विनीतं वा, एकोऽपि

१ 'अभिवादनं वाङ्नमस्कारक्रिया, वन्दनं गुणस्तुतिः' इति प्रत्यन्तरे ।

पापानि विवर्जयन् विहरेत्—उचितविहारेण, कामेषु असज्जमानः—सङ्गमगच्छन्, एकोऽपि विहरेत्, न तु पार्श्वस्थादि-पापमित्रसङ्गं कुर्यात् ॥ १० ॥ विहारकालमानमाह—

संवच्छरं वा वि परं पमाणं ।
बीअं च वासं न तहिं वसिज्जा ॥
सुत्तस्स मग्गेण चरिज्ज भिक्खू ।
सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ॥ ११ ॥

छा० संवत्सरं वाऽपि परं प्रमाणम् ।
द्वितीये च वर्षे न तत्र वसेत् ॥
सूत्रस्य मार्गेण चरेद्भिक्षुः ।
सूत्रस्यार्थो यथाऽऽज्ञापयति ॥ ११ ॥

'संवच्छरं•'—संवत्सरं वाऽपि—'संवत्सर'-शब्देन वर्षासु चातुर्मासिको ज्येष्ठावग्रह उच्यते, तमपि—'अपि'-शब्दान्मासमपि परं प्रमाणम्, वर्षाऋतुबद्धयोर्द्वितीयञ्च वर्षं, 'च'-शब्दस्य व्यवहितोऽपन्यासः, द्वितीयं वर्षं च—

१ 'संवत्सरशब्देन चातुर्मासिको ज्येष्ठावग्रहोऽपिशब्दादृतुबद्धकाले मासकल्पः, एकत्रोत्कृष्टप्रमाणं निवासकालमानमेतत्। द्वितीयं वर्षणं—वर्षाकालं न तत्र वसेत् । यत्रैको वर्षाकालः कृतः, तत्र द्वितीयतृतीयौ परिहृत्य चतुर्थः कल्पः कृतः, वर्षा विना मासद्वयं विमुच्य अन्यः पुनः कल्पते '...इति प्रत्यन्तरस्था स्पष्टतरा व्याख्या ।

वर्षासु, 'च'-शब्दान्मासं च, ऋतुबद्धे न तत्र क्षेत्रे वसेत्, किं बहूक्तेन ? सूत्रस्य मार्गेण चरेद्भिक्षुः, सूत्रस्यार्थः

वर्षासु, 'च'-शब्दान्मासं च, ऋतुबद्धे न तत्र क्षेत्रे वसेत्, किं बहूक्तेन ? सूत्रस्य मार्गेण चरेद्भिक्षुः, सूत्रस्यार्थः पारमार्थिकोत्सर्गापवादगर्भो यथाऽऽज्ञापयति–नियुङ्क्ते तथा वर्तेत नाऽन्यथा ॥ ११ ॥ सीदनगुणोपायमाह—

जो पुव्वरत्तावररत्तकाले ।
संपेहए अप्पगमप्पगेणं ॥
किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं ।
किं सक्कणिज्जं न समाअरामि ॥ १२ ॥

छा० यः पूर्वरात्रापररात्रकाले ।
सम्प्रेक्षते आत्मकमात्मकेन ॥
किं मया कृतं किं च मे कृत्यशेषम् ।
किं शकनीयं न समाचरामि ॥ १२ ॥

'जो०'–यः साधुः पूर्वरात्राऽपररात्रकाले–प्रथमचरमप्रहर इत्यर्थः, सम्प्रेक्षते सूत्रोपयोगनीत्या आत्मानमात्मनैव, कथमित्याह–किं मे कृतमिति [तृतीयार्थे षष्ठी] किं मया कृतं कृत्यं तपश्चरणादि ? किं मम कृत्यशेषं–कर्तव्यशेषमुचितम् ? किं च शक्यं वैयावृत्यादि न समाचरामि ? ॥ १२ ॥

किं मे परो पासइ किं व अप्पा ।
किं वा हं खलिअं न विवज्जयामि ॥

इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो ।
अणागयं णो पडिबंध कुज्जा ॥ १३ ॥

छा० किं मम परः पश्यति किं वाऽत्मा ।
किं वा स्खलितमहं न विवर्जयामि ॥
इत्येवं सम्यगनुपश्यन् ।
अनागतं नो प्रतिबन्धं कुर्यात् ॥ १३ ॥

'किं मे०'—किं मम परः पश्यति स्खलितम् ? किं वाऽऽत्मा क्वाचिन्मनाक् संवेगापन्नः ? किं वाऽहमोघत एव स्खलितं न विवर्जयामि ? इत्येवं सम्यगनुपश्यन्, अनागतं न प्रतिबन्धं कुर्यात् ॥ १३ ॥

जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं ।
काएण वाया अदु माणसेणं ॥
तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा ।
आइण्णओ खिप्पमिवक्खलीणं ॥ १४ ॥

छा० यत्रैव पश्येत्किञ्चिद्दुष्प्रयुक्तम् ।
कायेन वाचाऽथ मानसेन ॥
तत्रैव धीरः प्रतिसंहरेत् ।
आकीर्णकः क्षिप्रमिव खलिनम् ॥ १४ ॥

'जत्थेव०'—यत्रैव पश्येत्, यत्रैव पश्यति, उक्तवत्परात्मदर्शनद्वारेण क्वचित्संयमस्थानावसरे धर्मोपधि-

'जत्थेव०'—यत्रैव पश्येत्, यत्रैव पश्यति, उक्तवत्परात्मदर्शनद्वारेण क्वचित्संयमस्थानावसरे धर्मोपधिप्रत्युपेक्षणादिदुष्प्रयुक्तं—दुर्व्यवस्थितमात्मानमिति गम्यते, कायेन वाचाऽथ मानसेन, 'तत्थेव' इत्यादि, तत्रैव तस्मिन्नेव संयमस्थानावसरे धीरः—बुद्धिमान् प्रतिसंहरेदात्मानं—सम्यग्विधिं प्रतिपद्यत इत्यर्थः। निदर्शनमाह—आकीर्णः—जवादिभिर्गुणैः, जात्योऽश्व इति गम्यते, क्षिप्रमिव खलीनं प्रतिपद्यते, तथा साधुरप्युन्मार्गान्निवृत्य सन्मार्गे याति ॥ १४ ॥

जस्सेरिसा जोग जिइंदिअस्स ।
धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्चं ॥
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी ।
सो जीवइ संजमजीविएणं ॥ १५ ॥

छा० यस्येदृशा योगा जितेन्द्रियस्य ।
धृतिमतः सत्पुरुषस्य नित्यम् ॥
तमाहुर्लोके प्रतिबुद्धजीविनम् ।
स जीवति संयमजीवितेन ॥ १५ ॥

'जस्सेरिसा०'—यस्य साधोरीदृशाः—स्वाहितालोचनप्रवृत्तिरूपा योगाः—मनोवाक्कायव्यापाराः, जितेन्द्रियस्य धृतिमतः सत्पुरुषस्य नित्यं, तमाहुर्लोके प्रतिबुद्धजीविनं—प्रमादनिद्रारहितजीवितशीलम्, स एवं गुणयुक्तः सन्-जीवति संयमजीवितेन ॥ १५ ॥ उपसंहरन्नुपदेशसर्वस्वमाह—

अप्पा हु खलु सययं रक्खियव्वो ।
सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं ॥
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ ।
सुरक्खिओ सव्वदुहाणमुच्चइ ॥ १६ ॥ त्ति बेमि ।

छा० आत्मा खलु सततं रक्षितव्यः ।
सर्वेन्द्रियैः सुसमाहितैः ॥
अराक्षितो जातिपथमुपैति ।
सुरक्षितः सर्वदुःखेभ्यो मुच्यते ॥ १६ ॥ इति ब्रवीमि ।

'अप्पा०'–'आत्मा खलु' इति 'खलु'-शब्दो विशेषणार्थः शक्तौ सत्यां परोऽपि सततं रक्षितव्यः पारलौकिकापायेभ्यः सर्वेन्द्रियैः–स्पर्शनादिभिः सुसमाहितैः, अराक्षितः सन् जातिपन्थानं–संसारमुपैति, सुरक्षितः सर्वदुःखेभ्यो विमुच्यते । ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ १६ ॥ इति विविक्तचर्या चूलिकाऽवचूरिः ।

॥ विवित्तचरिआ चूलिआ (चूला) बीआ ।

॥ इति विविक्तचर्या चूलिका (चूडा) द्वितीया ॥



श्रीदशवैकालिक सूत्रकी सौभाग्यचन्द्रिका हिन्दी टीका।

॥ प्रथम अध्ययन ॥



मङ्गलाचरण—

सुखसाधन सुषमा सुमति, सिद्धि-सफलता-हेतु।
जिनगुरुवाणीको समझि, नमूं भवोदधि-सेतु ॥ १ ॥
दयासिन्धु गुरुदेवसे, ज्ञानबिन्दु अपनाय।
दशवैकालिक सूत्रका, लिखूं अर्थ अनपाय ॥ २ ॥

दुर्गतिमें पडते हुए आत्माको बचाकर सुगतिमें स्थापन करनेवाली क्रिया धर्म है, जो कि अहिंसा, संयम और तपरूप है; सदा एकरूपसे विघ्नविनाशक और इष्टसाधक होनेसे यह उत्कृष्ट मङ्गल है। उपरोक्तधर्ममें जिसका मन सदा लगा रहता है उसको देव भी नमस्कार करते हैं, फिर चक्रवर्ती आदि मनुष्योंका तो कहनाही क्या ? ॥ १ ॥

धर्म देहके आश्रित है और देह आहारपर अवलम्बित है, इसलिये पूर्वोक्त धर्मके आराधकको आहार किस प्रकार लेना चाहिये इसकी विधि बताते हैं—

जिस प्रकार वृक्षके फूलोंपर भौंरा मर्यादापूर्वक थोडे २ रसको पीता है, किन्तु फूलोंको कष्ट नहीं पहुंचाता, और वह अपनी आत्माको तृप्त करलेता है ॥ २ ॥

इसीप्रकार जो ये ढाईद्वीप-रूप लोकमें श्रमण-तपस्या प्रधान जीवनवाले, मुक्त-(धनकनकादि) बाह्य

और (मिथ्यात्त्व वगैरह) आभ्यन्तर ग्रंथरहित शान्तिकी साधना करनेवाले साधु ह, वे भी फूलोंपर भ्रमरकी तरह गृहस्थसे दिये गए अचित्त और आधाकर्मादि दोषसे रहित आहारकी एषणा-खोज-में तत्पर रहते हैं ॥ ३ ॥

पूर्वोक्त आहारकी विधिको सुनकर शिष्य कहता है—हम सब इस तरह वृत्ति-जीविका चलायेंगे कि जिससे किसीको भी दुःख नहीं हो। इस प्रतिज्ञाके अनुसार साधु फूलोंपर भौंरोंकी तरह गृहस्थके द्वारा अपने लिये किये हुए आहारमेंसे निर्दोष भिक्षा लेनेको गृहस्थके घरोंमें जाते हैं ॥ ४ ॥

उपसंहार करते हुए कहते हैं—मधुकर याने भ्रमरके समान जो मुनि जाति कुल आदिमें अनिश्रित-मोह-रहित होते हैं, वे बुद्ध-तत्त्वके जानकार हैं, इसलिये अनेक घरोंसे अन्तप्रान्तादि कल्पानुसार जो भी पिण्ड-आहार मिले उससे संतुष्ट और दान्त-जितेन्द्रिय होते हैं अर्थात् जिस प्रकार भ्रमरकी उपमासे एषणामें प्रयत्नशील होते हैं उसी प्रकार त्रस स्थावर जीवोंके हितार्थ ईर्या आदि समितिमें भी यत्न करते हैं, इससे वे साधु कहलाते हैं ॥ ५ ॥ गुरु (सुधर्मस्वामी)-ऐसा मैं कहता हूँ। इति।

॥ द्रुमपुष्पिका नामका प्रथम अध्ययन समाप्त ॥



॥ अध्ययन दूसरा ॥



अब श्रामण्यपूर्विका नामक दूसरे अध्ययनकी व्याख्या करते हैं-इसका पहले अध्ययनसे सम्बन्ध बताते हैं—प्रथम अध्ययनमें धर्मकी महिमा और धर्मिओंके विशुद्ध आहारकी विधि कही, जो कि इस जिन-शासनमेंही मिलती है। अब दूसरे अध्ययनमें पूर्वोक्त शुद्ध मार्ग स्वीकार करनेपर किसी नवदीक्षित साधुको अधीरतासे मोह पैदा न हो इसलिये धैर्यवान् बननेका उपदेश करते हैं—

जो इच्छाओंको नहीं हटाता वह अशुभभावनारूप संकल्पके अधीन बना हुआ पद १ पर दुःखी होता है, इससे वह श्रामण्य-साधुपन-को कैसे पालेगा ? ॥ १ ॥

द्रव्यक्रिया करता हुआ भी साधु नहीं होता इस बातको कहते हैं—

चीनांशुक वगैरे वस्त्र, धूप, पुष्पादि सुगन्धि, अलङ्कार-आभूषण, तथा स्त्रियाँ और सुंदर व कोमल शय्या इन सबको अच्छंद-परवशपनसे जो नहीं भोगते हैं वे त्यागी नहीं कहलाते ॥ २ ॥

अब सच्चे त्यागीका स्वरूप कहते हैं-जोही साधु कान्त-सुंदर और प्रिय-खुदको पसंद ऐसे मिलने योग्य भोगोंको शुभ भावनाओंसे अलग करते हैं अर्थात् उनसे विरत रहते हैं और प्राप्त-मिले हुए भोगोंको स्वाधीन होकर भी छोडते हैं, वेही त्यागी कहे जाते हैं॥ ३ ॥

उपरोक्त त्यागीके चित्तमें कदाचित् चंचलता आजाय तो उसके हटानेका उपाय कहते हैं—

इसप्रकार समबुद्धिसे संयममार्गमें चलते हुए उस त्यागी साधुका भी अगर संयमसे मन बाहर चला जाय अर्थात् कर्मगतिकी विचित्रतासे भुक्तभोगीको पूर्वका स्मरण होकर व अभुक्तभोगीको कुतूहलरूपसे स्त्री

आदि भोगकी इच्छा हो तो वह साधु ऐसा सोचे कि "वह स्त्री मेरी नहीं और मैं भी उसका नहीं"; इस तरह संसारके सम्बन्ध झूंठे और अनित्य हैं, ऐसा सोचकर उस भोगकी ओरसे मोहको हटा ले ॥ ४ ॥

मनोनिग्रहका अन्तरंग उपाय बताकर अब बहिरंग कहते हैं—

हे मुनि ! आतापना आदि तपका आराधन कर तथा सुकुमारपनको छोड क्योंकि सुकुमार आत्माएं प्रायः थोडासा कष्ट पाकरही संयमसे गिर जाते हैं, इस लिए यह हेय है। इस प्रकार शब्द रूप आदि कामों-(वासनाओं)को लांघ अर्थात् दूर कर, ऐसा किया तो निश्चय दुःख दूर हुआ समझ, क्योंकि इच्छामूलकही दुःख है। तथा कामके आश्रयभूत द्वेषका छेदन कर और राग-सांसारिक मोह-को अलग कर। इस तरह करनेसे तू संसारमें 'पूर्ण' सुखी होगा ॥ ५ ॥

फिर संयमगृहसे मन बाहर नहीं निकले इसके लिये मुनि क्या विचार करे इस बातको सूत्रकार उदाहरणसे दिखाते हैं—जिसै धूमकेतु-अग्नि-में प्रवेश करना प्राणिमात्रको दुःखरूप है उस जाज्वल्यमान आगमें अगंधन जातिके सर्प उछल पडते हैं किन्तु वान्त-छोडे हुए विषको फिरसे लेना नहीं चाहते। "इस प्रकार जब पशुभी अपनी मर्यादा व मानके लिये प्राण गमा देते हैं लेकिन वान्तको ग्रहण न करनेरूप मर्यादा नहीं छोडते तब क्या जिनवचनोंके जानकार होकर तुम परिणाममें दुःखद ऐसे वान्त विषयोंको फिरसे ग्रहण करोगे? क्या पशुसे भी गये गुजरे हो जिससे ऐसा करते हो!" ॥ ६ ॥

अरे यशस्कामिन्-यशको चाहनेवाला क्षत्रिय! जिसलिये तू असंयमजीवन अर्थात् भोगमय जीवनके वास्ते छोडे हुए भोगोंको अपनाना चाहता है इसलिये तुझे धिक्कार हो। अरे! इस मलिन जीवनकी अपेक्षा तो मर्यादाहीन ऐसे तेरा मरणही अच्छा होता ॥ ७ ॥

१. उपरोक्त प्रकरण उत्तराध्ययन सूत्रके २२ वें अध्ययनमें आया हुआ रथनेमिको राजीमतीके उपालम्भरूप अध्ययनका अन्तिम भाग है।

कुलाभिमानको जगाती हुई राजीमती कहती है—

मैं भोगराज–उग्रसेन–की लडकी हूँ और तू अंधकवृष्णि–समुद्रविजय–का पुत्र है। ऐसे प्रधान कुलोंमें अपन गंधन जातिके सर्पकी तरह कुलकलंकी नहीं होजावें इसलिये निभृत-स्थिरचित्त होकर संयमका पालन कर ॥ ८ ॥

चित्तकी चंचलता नहीं मिटानेपर दोष कहते हैं—

ऐसा नहीं करके अगर तू जिन २ स्त्रियोंको देखेगा उनसे कामभोगकी इच्छा करेगा तो अनेक स्त्रियोंको देखकर वायुसे कंपित जडवाले हड वृक्षके समान तू भी चंचल चित्तवाला बनेगा अर्थात् संयममार्गमें स्थिर–चित्त नहीं होनेसे प्रमाद–रूप वायुसे प्रेरित होकर संसारसागरमें इधर उधर भटकेगा ॥ ९ ॥

इस प्रकार–उस साध्वी राजीमतीके पूर्वोक्त सुभाषित वचनोंको सुनकर अंकुशसे जैसे हाथी स्थानपर आजाता है वैसे वह रथनेमि चारित्रधर्ममें स्थिर हो गया ॥ १० ॥

अध्ययनका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

संबुद्ध-सम्यग्दृष्टि–विषयोंके स्वभावको अच्छीतरह जाननेवाले, पंडित, प्रविचक्षण–चारित्रके परिणामवाले विद्वान् पुरुष ऐसाही करते हैं याने भोगभावनाको हटाते हैं, और जैसे वह पुरुषोत्तम रथनेमि भोगभावनाको हटाकर संयममें स्थिर हुवा वैसे पंडितपुरुष भोगोंसे निवृत्त होते हैं ॥ ११ ॥ गुरु—ऐसा मैं कहता हूँ। इति।

॥ श्रामण्यपूर्विका नामका दूसरा अध्ययन समाप्त ॥



॥ तृतीय अध्ययन ॥



दूसरे अध्ययनके बाद अब क्षुल्लिकाचारकथा नामक तृतीय अध्ययनकी व्याख्या करते हैं, पूर्वापरसम्बन्ध इसप्रकार है—

दूसरे अध्ययनमें धर्मको स्वीकार करनेपर नवदीक्षितको अधीरतासे संमोह पैदा न हो इसलिय धैर्यवान् होना कहा, वह धैर्य भी आचारमेंही करना योग्य है, अनाचारसें नहीं। इस सम्बन्धसे तीसरे अध्ययनमें अनाचारका वर्णन करते हैं—

जो साधु शास्त्रकथित विधिसे पूर्वोक्त संयममें स्थित तथा अनेक प्रकारके बाह्य आभ्यन्तर ग्रन्थस मुक्त हैं, उन स्वपरके रक्षक निर्ग्रन्थ महात्माओंके अनाचीर्ण-नहीं करनेयोग्य कर्म ये हैं ॥ १ ॥ जैसे—

औद्देशिक-साधुके उद्देशसे बना हुआ १, क्रीतकृत-खरीदा हुआ २, नियाग-नित्य आमन्त्रित आहार ३, अभ्याहृत-अपने गाँव आदिसे साधुके लिये सामने लाया हुआ ४, इन चार दोषोंसे युक्त आहार वगैरे लेना अनाचीर्ण है। रात्रिभोजन चार भङ्गयुक्त करना ५, और स्नान करना ६, कर्पूर आदि सुगंधि द्रव्य ७, और पुष्प-सम्बन्धी माला आदि धारण करना ८, तथा वीजन-पंखा आदिसे हवा लेना ९ ॥ २ ॥ इन अनाचीर्णोंमें आरंभ प्रवर्तन आदि दोष स्वयं समझ लेने चाहिए।

फिर—सन्निधि-घृत आदि पदार्थोंका संचय करना याने रात्रिमें रखना १०, गृहिमात्र-गृहस्थके बरतनोंको काममें लेना याने उसमें भोजन आदिको करना ११, राजपिंड-राजाके खाने योग्य आहार आदि लेना १२, किमिच्छक-जहां पूछकर इच्छानुसार आहार वगैरह दिये जांय जैसे दान-शाला आदि, वहांका आहार लेना १३, संबाधन-अस्थि मांस आदिके सुखनिमित्त चार प्रकारका मर्दन १४, और अंगुली वगैरहसे शोभार्थ दंत-

धावन करना १५, संप्रच्छना-गृहस्थसम्बन्धी सावद्य प्रश्न या शोभाके लिये 'मैं कैसा हूँ' ऐसा पूछना १६, और काच वगैरहमें देहको देखना १७ ॥ ३ ॥

उपरोक्त सान्निधि आदि अनाचीर्णोंमें परिग्रह प्राणातिपात आदि दोष समझने चाहिए। इसी प्रकार—

अष्टापद-जुआविशेष या गृहस्थको भविष्य आदि बतानेरूप अर्थपद कहना या सिखाना १८, और नालिका-पाशा वगैरहसे जुआ खलना १९, गर्मी वगैरहसे रक्षाके लिये छत्र धारण करना, यह स्वपरके लिये अनर्थकारक है २०, रोग-व्याधिका प्रतिकार करना २१, और पैरोंमें जूता वगैरह पहनना २२, तथा अग्निका आरंभ करना २३ ॥ ४ ॥

ऐसेही-शय्यातरके[1] घरका आहार आदि लेना २४, और आसन्दी-छोटा खाट या कुर्शी आदि आसन-विशेष जो बूना हुआ हो २५, तथा पर्यंक-पलंग, इनपर बैठना सोना आदि क्रियाएं करना २६, विनाकारण गृहस्थके घरमें या घरके बीचमें बैठना २७, और उद्वर्तन-मैल हटानेके लिये शरीरपर पीठी वगैरहका उवटण करना २८ ॥ ५ ॥ इसी प्रकार—

गृहस्थसे आहार आसन आदि मंगानेरूप सेवा कराना तथा आसन आदि देते हुए उसकी सेवा करना २९, और जाति कुल शिल्प आदि बताकर आहार मिलानेरूप जो आजीविका चलाना वह अनाचीर्ण है ३०, तप्तानिर्वृत-पूर्ण निर्जीव नहीं बने हुए 'मिश्र या सचित्त' जलका उपभोग करना ३१, तथा भूख आदिकी आतुरतासे पूर्वके भुक्त भोगोंको याद करना या दोषातुरको आश्रय देना ३२ ॥ ६ ॥ फिर अनाचीर्णकोही कहते हैं—

मूलक-मूला ३३, शृंगवेर-अदरख ३४, और इक्षुखंड-ऊस ३५, अशस्त्रपरिणत (अचित्त नहीं बने हुए)

---

१. निवासके लिये मुनिओंको घर देनेवाला गृहस्थ शय्यातर कहाता है।

इन सबको लेना, तथा सचित्त कन्द-वज्रकन्द आदि ३६, और मूल-सट्टामूल आदि ३७, कच्चे फल एवं कच्चे बीज ३८, इनको ग्रहण करना अनाचीर्ण है ॥ ७ ॥

सौवर्चल-संचल लवण या सज्जी ३९, सैंधव-सेंधालवण जो कि पर्वतके एक भागमें पैदा होता है ४०, सादा याने सांभरमें होनेवाला लोण ४१, और रोमालोण-कच्चा रोमकक्षार ४२, सामुद्र-समुद्रसे निकलनेवाला ४३, तथा पांशुक्षार-ऊसर भूमिसे बननेवाला लोण ४४, कालोलोण-कृष्ण लवण पर्वतीय प्रदेशमें होनेवाला ४५, ये सब लोण कच्चे हों तो इनका लेना अनाचीर्ण है। अग्नि आदिके प्रयोगसे निर्जीव बने हुएकी हालतमें ग्राह्य हैं ॥ ८ ॥

शरीर व वस्त्र आदिको सुगंधित करनेके लिये धूप देना ४६, और दवा वगैरह खाकर वमन करना ४७, वस्तिकर्म-अधिष्ठानमें स्नेहदान याने इनीमा वगैरह लेना ४८, विरेचन-जुलाब लेना ४९, अजन-नेत्रमें काजल आदि आंजना ५०, और दंतवन-दंतकाष्ठसे दांतुन करना ५१, अभ्यंग-शरीरपर तेलसे अभ्यंग करना और देहकी शोभा बढाना ५२। इनमें हिंसा व ममताकी वृद्धि आदि दोषके कारण अनाचीर्णपन है, इसलिये मुनि महाव्रतमें प्रत्यक्षरूपसे अबाधक ऐसे वमन आदि कर्मोंकोभी निष्कारण नहीं करते ॥ ९ ॥

संयम और तपमें लगे रहनेवाले तथा वायुकी तरह अप्रतिबद्ध विहारी ऐसे त्यागी महात्माओंके लिये ऊपर कहे हुए औद्देशिक पिंड आदि ये सब कर्म अनाचीर्ण-नहीं करनेयोग्य हैं ॥ १० ॥ क्योंकि—

वे निर्ग्रन्थ महात्मा हिंसा, मृषा आदि पांच आस्रवोंके सम्यग् ज्ञाता व त्यागी हैं, अतएव त्रिगुप्त-मन, वाणी, व शरीरको काबूमें रखनेवाले और छहों कायके जीवोंमें संयमवाले हैं, पांच इंद्रियोंके निग्रह करनेवाले व धीर-

१. जो कालालोण लेनेमें आता है वह कृत्रिम होनेसे अचित्त है।

बुद्धिमान् हैं, तथा मोक्षके लिये ऋजु याने सरल मार्ग ऐसे संयमको उपादेयरूपसे देखनेवाले होते हैं, इसलिये इन अनाचीर्णोंमें उनकी प्रवृत्ति नहीं होती है ॥ ११ ॥

फिर उन साधुओंकी विशेषता दिखाते हैं—

जो ज्ञानध्यानमें प्रयत्नशील व समाधिसंपन्न साधु हैं वे उष्णकालमें सूर्यके तापमें आतापन करते हैं और शीतकालमें कम वस्त्र रखकर या वस्त्रको अलग कर शीत सहते हैं, इसीप्रकार वर्षाकालमें हलनचलनको कम कर देहका गोपन याने संयमन किये हुए रहते हैं ॥ १२ ॥

वे साधु किस उद्देशसे क्रिया करते हैं? इस बातको दिखाते हैं—

कर्मनिर्जराके लिये जो कष्ट सहे जांय वे परीषह कहाते हैं, अनुकूल[1] प्रतिकूल भेदसे उन परीषहरूप शत्रुओंका जिन्होंने दमन किया है, तथा जो मोहसे अलग और जितेन्द्रिय–शब्द रूपादिमें रागद्वेषरहित हैं, वे इस प्रकारके महात्मा सर्वथा शारीरिक मानसिक दुःखोंका क्षय करनेके लिये संयममें प्रवृत्ति करते हैं ॥ १३ ॥

पूर्वोक्त क्रियाका फल बताते हुए उपसंहार करते हैं—

इसप्रकार अनाचीर्णत्यागरूप दुष्कर त्यागको करके और कठिनाईसे सहनेयोग्य परीषह व तपको सहकर कई महात्मा कर्मके बाकी रहनेसे देवलोकमें जाते हैं, तथा कई कर्मरजसे सर्वथा रहित होनेके कारण सिद्ध होते हैं याने सब दुःखोंका नाश करते हैं ॥ १४ ॥

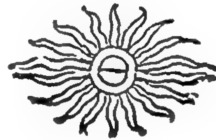
जो देवलोकमें गये हैं वे भी वहांसे मनुष्यलोकमें आकर संयम और तपस्यासे पूर्वके अवशेष कर्मोंको

---

१. स्तुतिवन्दन आदि मनके अनुकूल कष्ट अनुकूल परीषह और ताडना, तर्जना, गाली आदि मनके विपरीत कष्ट प्रतिकूल परीषह कहाते हैं।

नष्ट कर देते हैं, और कर्मोंको खपा कर सिद्धिमार्ग-मोक्षमार्ग-को पाये हुए त्रायी-स्वपरके रक्षक वे साधु सर्वथा दुःखरहित शुद्ध आत्मरमणतारूप सिद्धिपदको पाते हैं ॥ १५ ॥ सुधर्मा-ऐसा मैं कहता हूँ। इति।

॥ क्षुल्लिकाचारकथा नामका तीसरा अध्ययन समाप्त ॥



॥ अध्ययन चौथा ॥

तीसरे अध्ययनके बाद अब षड्जीवनिका नामक चतुर्थ अध्ययनकी व्याख्या करते हैं, पूर्वापर सम्बन्ध इसप्रकार है—तृतीय अध्ययनमें आचारमें धैर्य रखनेका उपदेश देते हुए अनाचारका वर्णन किया; इस चतुर्थ अध्ययनमें आचार प्रायः षड्जीवनिकायविषयक है, इस बातको कहते हैं—इस अध्ययनके मुख्य वर्णनीय विषय पांच हैं—जीवाजीवस्वरूपविचार १, चारित्रधर्म २, षट्कायिकजीवयतना ३, उपदेश ४, और धर्मफल ५, उपरोक्त पांच अधिकारोंमेंसे गुरुशिष्यके संवादद्वारा प्रथम अधिकारमें जीवस्वरूपका वर्णन करते हैं—

हे आयुष्मन्! जम्बू! मैंने उस भगवानसे कहा हुआ इसप्रकार सुना है—इस प्रवचनमें षड्जीवनिका नामक छःप्रकारके जीवोंके वर्णन करनेवाले अध्ययनको केवलज्ञानसे जानकर श्रमण भगवान् काश्यपगोत्री महावीरने कहा है, और युक्तिओंसे अच्छीतरह समझाया है। वैसे धर्मप्रज्ञप्ति अध्ययनका पढना मेरे लिये हितकर है।

शिष्य कहता है—जिस धर्मप्रज्ञप्ति अध्ययनको काश्यपगोत्री श्रमण भगवान् महावीरने पूर्णज्ञानसे जानकर अच्छीतरह कहा व समझाया है, वह षड्जीवनिका नामक अध्ययन नियमसे कौनसा है? धर्मकी प्ररूपणा करनेवाले उस अध्ययनका पढना मेरे लिये श्रेय-हितकर है अतः कहिये।

शिष्यकी उपरोक्त प्रश्नपद्धतिसे यह बात जाहिर होती है कि-विनीत शिष्यको सभी कार्योंमें गुरुसे पूछना चाहिए।

गुरु फरमाते हैं—काश्यपगोत्री श्रमण भगवान् महावीरने जिसे केवलज्ञानसे समझा और युक्तिपूर्वक समझाया वह षड्जीवनिका नामक अध्ययन निश्चयसे यह है। इस धर्मप्ररूपक अध्ययनका पठन पाठन मेरे लिये श्रेय है।

इससे यह प्रगट होता है कि गुणवान् शिष्यके लिये गुरुको भी विशिष्ट उपदेश देना चाहिये।

प्रथमजीवस्वरूपाधिकार—

गुरु कहते हैं—सुनो, वह इसप्रकार है—पृथ्वीकायिक १, अप्कायिक २, तेजःकायिक ३, वायुकायिक ४, वनस्पतिकायिक ५, और त्रसकायिक-चलनेफिरनेवाले जीव ६। छह प्रकारके जीवोंके नाम कहके स्वरूप कहते हैं—

(पृथ्वी-काठिन्य आदि लक्षणवाले मिट्टी पत्थर आदि पार्थिव पदार्थोंमें पृथ्वीके रूपसें रहनेवाले जीव पृथ्वीकायिक कहाते हैं। वैसे अप्-शैत्य व द्रवत्व गुणवाला, जो जीव जलरूप शरीरवाले हैं वे अप्कायिक हैं। और अग्नि-उष्णता आदि लक्षणवालाही जिनका शरीर हैं वे तेजःकायिक होते हैं। इसी प्रकार-वायुरूप शरीरवाले वायुकायिक, और वनस्पति तृण लता आदि रूपवाले जीव वनस्पतिकायिक समझने चाहिए। सिवाय इनके जो जीव चलने फिरने व भय पाकर भगनेवाले हैं वे त्रसकायिक कहे जाते हैं।

सभी जीवोंका आधार होनेसे पहले पृथ्वीकाय और तदाश्रित अप्कायका निर्देश किया गया, पानीका विरोधी होनेसे बाद तेज-अग्निका ग्रहण किया, अग्निका वर्धक होनेसे फिर वायुका और वायु शाखा आदिके हिलनेसे जाना जाता है अतएव वनस्पतिका ग्रहण किया गया है। वनस्पति त्रस जीवोंका विशेष उपकारक है, वास्ते वनस्पतिके बाद त्रसकायका निर्देश किया गया है।) इनके सजीवत्वको स्पष्टरूपसे सूत्रकारही कहते हैं—

पृथ्वी-भूमि-सम्बन्धी वस्तुएँ चेतनावाली कही गई हैं, उसमें अनेक जीव हैं और वे सव जुदे २ हैं। यदि पृथ्वीको इस प्रकार जीवपिण्ड माना जाय, तव फिर बैठने ऊठने व मलनिवारण आदि क्रियाएँ करनेसे जरूर उन जीवोंकी हिंसा होगी, फिर यह साधुधर्म पालना कैसे सम्भव होगा? इसका उत्तर कहते हैं—शीत और आतप (ठंढी व धूप) आदि शस्त्रोंसे आहत होनेके कारण निर्जीव वनी हुई भूमिको छोडकर पृथ्वी

१. शस्त्र दो प्रकारके हैं—स्वकाय-शस्त्र और परकाय-शस्त्र। काली मिट्टी लाल पीली आदि मिट्टीके लिये स्वकाय अर्थात् अपनी कायका शस्त्र है, मिट्टी क्षार आदि जल अग्निके लिये अथवा जल अग्नि आदि जो मिट्टीके जीवोंके लिये शस्त्र है वह परकाय-शस्त्र है, अर्थात् दूसरी कायके लिये शस्त्र होता है।

चेतनावाली है।

जल—सभी प्रकारका पानी चेतनावाला है, शीत आतप आदि दूसरी वस्तुओंके संयोगसे निर्जीव बने हुए जलके सिवाय अन्य जलमें अनेक जीव जुदे जुदे रहते हैं। खुदी हुई भूमिमें स्वाभाविक पैदा हुए दर्दुरकी तरह।

तेज—इलेक्ट्रिक आदि सभी तरहकी अग्नि चेतनावाली है, इन्धन आदि आहारसे बढनेके कारण बालकके समान अग्नि भी सजीव है। मिट्टी पानी आदिसे बुझी हुई अग्निके सिवाय यह अग्नि भी अनेक जीव-वाली है जो जीव अपनी जुदी २ सत्ता रखते हैं।

वायु—चेतनावाला कहा गया है, बिना प्रेरणाके गतिमान् होनेसे वायु चित्तवान्-चेतनावाला है। निर्जीव बने हुए वायुके सिवाय इसमें भी जुदी २ सत्तावाले अनेक जीव हैं।

वनस्पतिकाय-ये भी चेतनावाले हैं, अनुकूल प्रतिकूल संयोग पाकर बढने घटनेसे वृक्षादि वनस्पति भी सचेतन हैं। अग्नि आदि बाहरी शस्त्रोंसे निर्जीव बने हुएके सिवाय बीजवाला या कच्चा फल, फूल, बीज, वृक्ष लता आदि जुदी २ सत्ता रखनेवाले अनेक जीवोंका यह वनस्पतिकाय आश्रय है।

वनस्पतिकायकाही विशेष वर्णन करते हैं-जैसे अग्रबीज-कोरण्ट आदि अग्रभागमें बीजवाले, मूलबीज-उत्पलकन्दादि जिनकी जडमें बीज हो अर्थात् जो जडके रोपनेसे लगते हों, पर्वबीज-इक्षु-ऊस आदि जिनकी पर्व-गांठोंमें बीज हो, स्कन्धबीज-सल्लकी आदि जिनके स्कन्धमें बीज हो, बीजरुह-बीजसे पैदा होनेवाले गेहूं आदि धान्य, संमूर्च्छिम-जाने हुए बीजोंके विना भी वर्षा आदिके जलके संयोगसे पैदा होनेवाले तृण, डाभ

१. लवण आदि पृथ्वीके विकारोंमें सजातीय अङ्कुरोत्पत्ति होनेसे पृथ्वी चेतनावाली है।

२. वैज्ञानिक भी इसके सजीवपनको यंत्रके सहयोगसे प्रत्यक्ष दिखा रहे हैं।

वगैरह संमूर्च्छिम कहे जाते हैं, इसतरह तृण, लता आदि तथा बीजसे युक्त वनस्पति चेतनावाले कहे जाते हैं। लौकिकदर्शनवालोंने भी इस सिद्धान्तको माना है, जैसे—

" अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः " । मनुस्मृति अ० १.

अर्थात् ये वनस्पतिकायिक जीव सुखदुःखका अनुभव रखते हैं इसलिये अन्तःसंज्ञावाले हैं। अग्नि, जल आदि शस्त्रोंसे जो निर्जीव नहीं बने हैं, वैसे 'फल, फूल, बीज आदि' वनस्पतिकाय जुदी २ सत्ता धरानेवाले अनेक जीववाले हैं।

अब त्रसकायको कहते हैं—फिर जो ये अनेक प्रकारके त्रस प्राणी हैं वे भी बहुत हैं, जैसे—अण्डोंसे उत्पन्न होनेवाले अण्डज पक्षी आदि, पोतेसे लिपटे हुए पैदा होनेवाले पोतज हाथी चर्मजलौका आदि, जरयुक्त पैदा होनेवाले जरायुज गोमाहिषी मनुष्य आदि, रसके विगडनेसे या रसमें पैदा होनेवाले जीव रसज, पसीनेसे पैदा होनेवाले जीव स्वेदज यूका मत्कुण आदि, गर्भके विना एकसाथ सैकडों पैदा होनेवाले जीव संमूर्च्छनज कहे जाते हैं जैसे-कीट पतङ्ग आदि, भूमिको भेदकर पैदा होनेवाले जीव उद्भिज्ज, व शय्या आदिमें थोडेसे समयमेंही उपपातरूपसे पैदा होनेवाले देवनारक औपपातिक कहाते हैं। त्रस जीवोंके खास लक्षण ये हैं-जिन किन्हीं प्राणिओंका सामने आना, पीछे जाना, देहका संकोच व विकाश करना, बोलना, इधर उधर फिरना, दुःखसे घबराना, भागना, और आने-जाने-रूप आगति-गतिको जानना आदि, और (इनमें) जो कीट, पतंग, व जो कुन्थु, पिपीलिका-किडियां आदि हैं वे सब दो इन्द्रियवाले जीव, सब तीन इन्द्रियवाले जीव, सब चार इन्द्रियवाले जीव, सब पांच इन्द्रियवाले जीव, पंचेन्द्रिय जीवोंकोही विशेष रूपसे कहते हैं—सब तिर्यञ्च योनिवाले, सब नारक योनिवाले, सब मनुष्य योनिवाले, सब देव योनिवाले, ये सब जीव सुखके चाहनेवाले हैं यह निश्चित बात है। यह छट्ठा जीवसमूह त्रसकाय ऐसा कहाजाता है।

दूसरे अधिकारमें चारित्रधर्मका वर्णन करते हैं—

इन छः प्रकारके जीवसमूहोंपर स्वयं हिंसारूप दण्डका विधान करे नहीं, दूसरोंसे हिंसा करावे नहीं, हिंसा करनेवाले दूसरेको भी अच्छा समझे नहीं (अनुमोदना देवे नहीं)। पूर्वोक्त आज्ञाको स्वीकार करता हुआ शिष्य कहता है—जीवनपर्यन्त तीन करण तीन योगसे अर्थात् मन वचन कायासे करूं नहीं, कराऊं नहीं, और करते हुए दूसरेकी भी अनुमोदना करूं नहीं। हे पूज्य! पहले किये हुए उन पापोंका प्रतिक्रमण करता हूँ, अर्थात् उन पापोंमें पीछे हटता हूँ, आत्मसाक्षीसे निन्दा करता हूँ, व गुरुसाक्षीसे गर्हा करता हूँ, आत्माको पापसे अलग करता हूँ।

महाव्रतोंका स्वरूप कहते हैं—

हे पूज्य! प्रथम महाव्रत जो प्राणातिपात-हिंसाकी निवृत्तिरूप है उसमें हे पूज्य! सर्वथा जीवहिंसाका त्याग करता हूँ। कौन जीव? जैसे—सूक्ष्म या बादर-स्थूल शरीरवाले त्रस अथवा स्थावर जीव, इन जीवोंके प्राणोंका आतिपात-नाश करूं नहीं, दूसरोंसे प्राणातिपात कराऊं नहीं, प्राणोंका आतिपात करनेवाले दूसरेको भी भला समझूं नहीं, जीवनपर्यन्त तीन करण तीन योगसे अर्थात् मन वचन कायाके योगसे, करण-करूं नहीं, कराऊं नहीं, करते हुए दूसरेको भी भला जानूं नहीं। पहले किये हुए पापोंसे हे पूज्य! प्रतिक्रमण करता हूँ, पापकारी आत्माकी निन्दा करता हूँ, गुरुके समक्षमें गर्हा करता हूँ, आत्माको उस पापसे अलग करता हूँ। हे पूज्य! पहले महाव्रतमें उपस्थित हुआ हूँ, आजसे सब प्रकारकी हिंसासे मेरी निवृत्ति है॥ १॥

हे पूज्य! अब दूसरे महाव्रतमें, जहां कि मृषावादसे निवृत्ति होती है, हे पूज्य! सब प्रकारके मृषावाद-झूंठको छोडता हूँ, वह क्रोधसे या लोभसे तथा भयसे अथवा हास्यसे, स्वयं झूंठ बोलूं नहीं, दूसरोंसे झूंठ बोलावूं नहीं, मृषावाद बोलनेवाले दूसरेको भी भला समझूं नहीं, जीवनपर्यन्त तीन करण तीन योगसे, मन वचन और शरीर इन तीनोंके योगसे, करण-करूं नहीं, कराऊं नहीं, करनेवाले दूसरेको भी भला जानूं नहीं। हे पूज्य! पहले

बोले हुए इन अनेक तरहके झूंठोंका प्रतिक्रमण करता हूँ, पापकारी आत्माकी निन्दा करता हूँ, गुरुके समीपमें विशेष निन्दा करता हूँ, आत्माको पापसे अलग करता हूँ। हे पूज्य! मैं दूसर महाव्रतमें उपस्थित हुआ हूँ, इस समयसे सब प्रकारके मृषावादसे मेरी निवृत्ति है ॥ २ ॥

अब अदत्तादान-विना दी हुई चीजोंको लेनेस विरमण-त्यागरूप अन्य तीसरे व्रतमें हे पूज्य! सब प्रकारके अदत्तादानको छोडता हूँ, वह जैसे—गांवमें अथवा नगरमें या वनमें, थोडा या वहुत, छोटा अथवा वडा, अचेतन या सचेतन, इत्यादि अदत्त-विना दिये पदार्थोंको स्वयं लेऊं नहीं, दूसरोंको लेनेमें लगाऊं नहीं, अदत्त लेनेवाले दूसरेको भी भला जानूं नहीं, यावज्जीवन तीन करण तीन योगसे, मन वचन कायाके योगसे, और करना, करवाना व अनुमोदनारूप करणसे अर्थात् करूं नहीं, कराऊं नहीं, और करते हुए दूसरेको भी भला जानूं नहीं। हे गुरुदेव! किये हुए इन पापोंका प्रतिक्रमण करता हूँ, अपनी साक्षीसे निन्दा और गुरुसाक्षीसे उन पापोंकी गर्हा करता हूँ, तथा आत्माको इन पापोंसे दूर करता हूँ। इस प्रकार हे पूज्य! मैं तीसरे महाव्रतमें उपस्थित हुआ हूँ, अतः सब प्रकारके अदत्तादानरूप इस पापसे मेरी निवृत्ति है ॥ ३ ॥

अब मैथुनविरमणरूप चौथे महाव्रतमें हे भगवन्! मैं सब प्रकारके मैथुनको छोडता हूँ, जैसे कि—वह मैथुन दिव्य-देवसम्बन्धी हो, या मनुष्यसम्बन्धी हो, अथवा पशुसम्बन्धी हो, उन सब मैथुनोंको स्वयं सेवूं नहीं, दूसरोंसे सेवन कराऊं नहीं, सेवन करनेवाले दूसरेको भी भला जानूं नहीं, यावज्जीवन तीन करण व तीन योगसे, मन वाणी और शरीरके योगसे, करण-करूं नहीं, कराऊं नही, करते हुए दूसरेको भी भला जानूं नहीं। हे भगवन्! पहले किये हुए इन पापोंसे अलग होता हूँ, इस प्रकार पापकारी आत्माकी निन्दा करता हूँ, और गुरुकी साक्षीसे गर्हा करता हूँ, तथा आत्माको इन पापोंसे दूर करता हूँ। हे पूज्य! मैं चौथे महाव्रतमें उपस्थित हुआ हूँ, अब मेरी सब प्रकारके मैथुनसे निवृत्ति है ॥ ४ ॥

हे भगवन्! परिग्रहसे[1] विरमणरूप अन्य पांचवें महाव्रतमें हे पूज्य! सब प्रकारके परिग्रहको छोडता हूँ, जैसे–थोडा या बहुत, छोटा या बडा, सचेतन अथवा अचेतन. इत्यादि परिग्रहको स्वयं ग्रहण करूं नहीं, दूसरोंसे ग्रहण कराऊं नहीं, ग्रहण करते हुए दूसरेको भी भला जानूं नहीं, जीवनपर्यन्त मन वचन कायाके इन तीन योगसे व तीन करणसे–करूं नहीं, कराऊं नहीं, करते हुए दूसरेको भी भला जानूं नहीं। हे भगवन्! उसका प्रतिक्रमण करता हूँ, और निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ तथा आत्माको पापसे अलग करता हूँ। हे भदन्त! मैं पांचवें महाव्रतमें उपस्थित हुआ हूँ, अब सब प्रकारके परिग्रहसे मेरी निवृत्ति है॥ ५॥

अब हे भगवन्! रात्रिभोजनविरमणरूप इस छट्ठे व्रतमें हे पूज्य! मैं सब प्रकारके रात्रिभोजनको छोडता हूँ, जैसे—अशन–अन्न आदि, वा पान–पीनेके जल आदि, तथा खाद्य–खजूर आदि, अथवा स्वाद्य–मुँह साफ करनेके पान आदि, इनमेंसे किसीको रात्रिमें स्वयं भोगूं नहीं, दूसरोंसे रात्रिमें भोगाऊं नहीं, रात्रिमें अशनादि भोगनेवाले दूसरेको भी भला जानू नहीं, जीवनपर्यन्त मन वचन कायाके तीन योगसे, तीन करणसे–करूं नहीं, कराऊं नहीं, करते हुए दूसरेको भी भला जानूं नहीं। हे पूज्य! उसका प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा और गर्हा करता हूँ, पापकारी आत्माको वोसराता हूँ। हे भगवन्! मैं छट्ठे व्रतमें उपस्थित हुआ हूँ, इसलिये अब सब प्रकारके रात्रिभोजनसे विरमण करता हूँ॥ ६॥

इसप्रकार छट्ठे रात्रिभोजनाविरमणसहित इन पांच महाव्रतोंको आत्महितके लिये अंगीकार करके व्यवहार करता हूँ अर्थात् रहता हूँ।

अब तृतीय अधिकारमें छहकायिक जीवोंकी यतना कहते हैं—

१ पृथ्वीकायकी यतना—जो साधु या साध्वी संयत–१७ प्रकारके संयम रखनेवाला, और विरत–अनेक प्रकारके तपमें रत रहनेवाला है, तथा कर्मबन्धके कारणोंको रोकनेके साथ कर्मोंको मन्द करनेवाला है,

1. ममतासे चीजोंके संग्रह करनेको परिग्रह कहते हैं।

वह दिनमें अथवा रात्रिमें, अकेला या सभामें रहा हुआ, सोया हुआ या जगा हुआ, पृथ्वीकायके जीवोंकी हिंसा हो ऐसे कार्यको नहीं करे, जैसे—भूमिको या भित्तिको तथा शिला या पत्थरको, सचित्त धूल लगे हुए शरीरको, तथा वैसे वस्त्रको, हाथोंसे या पैरोंसे, तथा काष्ठसे या लकडीके टुकडेसे, अंगुलिसे या लोह आदिकी शलाकासे, अथवा शलाकासमूहसे, पूर्वोक्त सचित्त भूमिपर रेखा खींचे नहीं, विशेष रीतिसे अनेकवार लिखे नहीं, उनका परस्पर एकका दूसरेसे संघर्ष करे नहीं, तथा उसका भेदन करे नहीं, ऐसेही सचित्त पृथ्वी पर दूसरोंसे लिखावे नहीं, विलेखन करावे नहीं, परस्पर संघर्ष और भेदन करावे नहीं, लिखते हुए या विलेखन करते हुए या संघर्ष करते हुए अथवा भेदन करते हुए दूसरेको भी भला जाने नहीं। शिष्य स्वीकार करके कहता है—जीवनपर्यन्त तीन करण तीन योगसे अर्थात् मन वचन शरीरके योगसे, करण-करूं नहीं, कराऊं नहीं, करते हुए दूसरेको भी भला जानूं नहीं। हे पूज्य ! पहले किये हुए उस पापका प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा और गर्हा करता हूँ, आत्माको उस पापसे अलग करता हूँ ॥ १ ॥

२ अप्कायकी यतना—

संयम और अनेक प्रकारके तपमें रमण करनेवाला कर्मबन्धको रोकने व मन्द करनेवाला वह साधु अथवा साध्वी, दिनमें या रात्रिमें, अकेला या सभामें रहकर, सोया हुआ अथवा जगा हुआ, जलके जीवोंकी हिंसा नहीं करे, जैसे—कूए आदिका पानी, ओस-रातमें वरसनेवाला सूक्ष्म पानी, हिम-घनीभूत ओसका पानी अर्थात् वर्फ, महिका-कुहेसा-(धूअर), करक-ओलेका पानी, हरतनु-तृणके अगले भागपर बिन्दुरूपसे जमा हुआ पानी, शुद्धोदक-वर्षाका पानी, तथा पानीसे भीजे (गलते) हुए देह या गलते हुए वस्त्र इनमेंसे किसीको अथवा पानीके स्नेहवाले देह या वैसे वस्त्रको स्पर्श करे नहीं, वारंवार स्पर्श करे नहीं, दावे (निचोरे) नहीं, वारंवार दावे नहीं, झारे नहीं, वारंवार झारे नहीं, सुखावे नहीं, वारंवार या अधिक सुखावे नहीं, दूसरोंसे ये क्रियाएं करवावे नहीं, स्पर्श करते हुए, वारंवार स्पर्श करते हुए, दबाते हुए या वारंवार दबाते हुए, झारते हुए या वारंवार झारते हुए, सुखाते हुए या

वारंवार सुखाते हुए ऐसे दूसरेको भी भला जाने नहीं। (शिष्य)—उपरोक्त पानीके जीवोंकी विराधना जीवन-पर्यन्त मन वचन कायाके तीन योगसे, और तीन करणसे करूं नहीं, करवाऊं नहीं, करते हुए दूसरेको भी भला जानूं नहीं। पूर्वकृत उस पापका हे पूज्य! प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा और गर्हा करता हूँ, आत्माको पापसे अलग करता हूँ ॥ २ ॥

३ अग्निकायकी यतना—

संयत, विरत, पापकर्मको रोकने व मन्द करनेवाला वह साधु या साध्वी, दिनमें अथवा रात्रिमें, अकेला या अनेक मिलकर, सोया हुआ या जगा हुआ, अग्निका आरम्भ नहीं करे, जैसे—अङ्गार, मुर्मुर, अर्चि अथवा ज्वाला या तृणके अग्रभागमें जलनेवाली अग्नि, तथा शुद्ध अग्नि-लोहके गोलेमें जलनेवाली धूंआ व ज्वालारहित अग्नि, उल्का-बिजली आदि। (लकडीकी ज्वालारहित अग्निको अङ्गार कहते हैं। जिसमें अग्निकण विरल हैं ऐसे भस्मको मुर्मुर कहते हैं। जडसे टूटी हुई ज्वालाको अर्चि कहते हैं, जडसे जुटी हुई ज्वालाको ज्वाला कहते हैं। तृणके अग्रभागमें लगी हुई अग्निको अलात कहते हैं। तथा इन्धनरहित अग्निको शुद्ध अग्नि कहते हैं। बिजली जैसी आगको उल्का कहते हैं।) इन भेद-प्रभेदसहित अग्निको इन्धन आदिसे बढावे नहीं, संघट्टन करे नहीं, हवासे उत्तेजित करे नहीं, तथा जल आदिसे बुझावे नहीं, एवं अन्यसे सिञ्चन (वर्द्धन), संघट्टन, उत्तेजन-बुझाना (आदि) करावे नहीं तथा बढाते हुए, संघट्टन करते हुए, उत्तेजित करते हुए और बुझाते हुए ऐसे दूसरे-को भला जाने नहीं। शिष्य—जीवनपर्यन्त मन वचन कायाके तीन योगसे, और करना, करवाना और करते हुए दूसरेको भला जाननेरूप तीन करणसे, अग्निकायके जीवोंकी हिंसाको त्यागता हूँ। हे पूज्य! उस पापका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्मसाक्षिक उस पापकी निन्दा करता हूँ, और गुरुसाक्षिक गर्हा करता हूँ, पापकारी आत्माको वोसराता हूँ ॥ ३ ॥

४ वायुकायकें जीवोंकी यतना—

संयत, विरत, पापकर्मको रोकने व मन्द करनेवाला ऐसा जो साधु या साध्वी है, वह दिनमें या रात्रिमें, अकेला वा अनेक मिलकर, सोया हुआ या जगा हुआ वायुकायिक जीवोंका आरम्भ नहीं करे, जैसे—सितसे अर्थात् चामरसे, विधवन-पंखेसे, तालवृन्त-तालपत्रके पंखेसे या पत्र-पत्तेसे अथवा पत्रभङ्ग-पत्तेके टुकडे-से, शाखासे या शाखाके टुकडेसे, पिहुण-मयूरके पंखोंसे, अथवा मयूरपिच्छोंसे, वस्त्रसे या वस्त्रके एक भागसे, हाथसे या मुखसे, अपने शरीरको या बाहरी किसी वस्तुको फूंके नहीं, हवा करे नहीं, तथा दूसरोंसे फूंकावे व हवा करावे नहीं, फूंकते हुए या वीजते हुए ऐसे दूसरेको भी भला जाने नहीं। शिष्य स्वीकारकर कहता है—जीवनपर्यन्त मन वचन कायाके तीन योगसे, तथा करना करवाना व करते हुएको भला जाननेरूप तीन करणसे, वायुकायिक जीवोंको हिंसा करूं नहीं, कराऊं नहीं, और करते हुए दूसरे को भला जानूं नहीं। हे पूज्य! किये हुए उस पापका प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्माकी साक्षीमें इसकी निन्दा करता हूँ और गुरुकी साक्षीमें गर्हा करता हूँ, एवं पापकारी आत्माको छोडता हूँ ॥ ४ ॥

५ वनस्पतिकायकी यतना—

संयत, विरत, पापकर्मको रोकनेके साथ मन्द करनेवाला ऐसा जो साधु या साध्वी, वह दिनमें या रात्रिमें, अकेला या अनेकोंके साथ, सोया हुआ या जगा हुआ, वनस्पतिकायिक जीवोंकी हिंसा करे नहीं, जैसे—बीजोंपर या बीजपर पडी हुई वस्तुओंपर, रूढ-अङ्कुरोंपर अथवा अङ्कुरोंके ऊपर पडे हुए पदार्थोंपर, जात-पत्र आदिसे युक्त पोधोंपर, या पोधोंपर प्रतिष्ठित-रहे हुए पदार्थोंपर, दूर्वादि हरितपर या हरितप्रतिष्ठितपर, छिन्न-तत्काल वृक्षसे काटे हुए फल फूल पत्र शाखा आदि, जो अभी गीले होनेसे निर्जीव नहीं बने हैं, उनपर, तथा उनके आश्रित अन्य पदार्थोंपर, ऐसेही किसी अण्ड आदि सचित्तपर या कीट-घुण आदि लगे हुए काष्ठोंपर, चले नहीं, खडा रहे नहीं, तथा बैठे नहीं, व लेटे नहीं, ऐसेही दूसरोंको चलावे नहीं, खडा करे नहीं, बैठावे नहीं व लेटावे नहीं,

तथा उनपर चलते हुए, खडे रहते हुए, बैठते हुए व सोते हुए दूसरेको भला भी जाने नहीं। शिष्य—जीवनपर्यन्त मन वाणी व शरीर इन तीन योगसे, करना करवाना और करते हुएको भला जानना इन तीनों करणसे, उपरोक्त जीवोंकी हिंसा करूं नहीं, कराऊं नहीं तथा करते हुए दूसरेको भला भी जानूं नहीं। हे गुरुदेव ! किए हुए उस पापका प्रतिक्रमण करता हूँ, आत्माकी साक्षीमें उस पापकी निन्दा करता हूँ और गुरुकी साक्षीसे गर्हा करता हूँ, तथा पापकारी आत्माको छोडता हूँ ॥ ५ ॥

६ त्रसकायकी यतना—

संयत, विरत, पापकर्मको रोकने व मन्द करनेवाला साधु या साध्वी, दिनमें या रात्रिमें, अकेला या अनेकोंके साथ, सोया हुआ या जगा हुआ, त्रसकाय जीवोंकी हिंसा नहीं करे, जैसे—कीट, पतङ्ग, कुन्थु-सूक्ष्म जीवविशेष तथा कीडी आदि इनको हाथोंपर या पैरोंपर, तथा भुजाओंपर या ऊरु-जङ्घाओंपर अथवा पेटपर, तथा मस्तकपर, वस्त्रोंपर या पात्रपर तथा कम्बलपर अथवा पादप्रोञ्छनपर या रजोहरण-ओघेपर, तथा गुंच्छक पूंजनीपर, उन्दक-पात्रविशेषपर, ऐसेही कारणिकरूपसे ली गई लाठी व दंडेपर, तथा पीठ-छोटे पाटपर, या फलक-काष्ठके बडे पाटियेपर, अथवा शय्यापर, व संस्तारकपर तथा इस तरहके किसी अन्य 'जैसे कि—मुखवस्त्रिका पुस्तक आदि' वैसे उपकरणपर पूर्वोक्त कीट आदि हों तो उनको विधिपूर्वक यतनासेही सम्यक् देख २ कर, रजोहरणसे पूंज २ कर एकान्तमें छोड दे, किन्तु उन जीवोंको परस्पर मिलाकर किसी प्रकार आघात नहीं पहुंचावे ॥ ६ ॥

चतुर्थाधिकारमें अब उपदेश करते हैं—

अयतनासे-सावधानी छोडकर चलता हुआ जीव प्राणीभूत-त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, इससे पापकर्मका बन्ध होता है, और वह बांधा गया पाप उस पापकर्ताके लिये कटु फल देता है ॥ १ ॥

१. पात्रोंको पोंछनेवाले वस्त्रको भी 'गोच्छग' कहते हैं।

अयत-असावधानीसे अथवा सूत्रोंकी आज्ञाके विपरीत ठहरता-खडा रहता हुआ भी मनुष्य त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, इससे वह पापकर्मको बांधता है, जो बांधा हुआ पापकर्म उसको परिणाममें दुःख देता है ॥ २ ॥

इसी प्रकार—अयतनासे बैठता हुआ मनुष्य त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, ऐसा करता हुआ वह पापकर्मको बांधता है, वह पापकर्म उसको अन्तमें दुःख देनेवाला होता है ॥ ३ ॥

ऐसेही दिनमें या रातमें अयतनासे या अधिक सोता हुआ मनुष्य त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, उससे वह पापकर्मको बांधता है, वह पापकर्म परिणाममें उसको दुःख देता है ॥ ४ ॥

अयतनासे वा विना प्रयोजनके चंचलतासे खाता हुआ मनुष्य त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, उससे वह पापकर्मको बांधता है, जो उसके लिये परिणाममें दुःखदायी होता है ॥ ५ ॥

वैसेही—भाषासमितिको छोडकर अयतनासे बोलता हुआ मनुष्य त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, जिससे वह पापकर्मको बांधता है, जो पाप उसको अन्तमें दुःखदायी होता है ॥ ६ ॥

शिष्य पूछता है—जब चलना, ठहरना, बैठना, सोना, खाना और बोलना उपरोक्त सभी कार्यमें हिंसा होती है तो फिर कैसे चले? कैसे ठहरे? कैसे बैठे व कैसे सोवे? तथा किस तरह खाता और बोलता हुआ जीव पापकर्मको नहीं बांधता है? ॥ ७ ॥

आचार्य उत्तर देते हैं—यतनासे ईर्यासमितिके साथ चले, यतनासे हाथपैरोंको इधर उधर नहीं फेंकता हुआ संयमपूर्वक ठहरे, तथा बैठे, और यतनासे सोवे, ऐसेही यतनासे खाता हुआ, तथा भाषासमितिके साथ बोलता हुआ मनुष्य पापकर्मको नहीं बांधता है ॥ ८ ॥

इसी बातको स्पष्ट करते हैं—

इसी बातको स्पष्ट करते हैं—

जो जीव सब प्राणिओंको अपने समान समझता है, तथा हिंसा आदि आस्रवोंको रोकनेसे निरास्रवी और दान्त-जितेन्द्रिय है तथा आगमोक्त विधिसे-पृथ्वी आदि जीवोंको सुखदुःखमें अपने समान अच्छीतरह देखता है, उसको पापकर्मका बन्ध नहीं होता है ॥ ९ ॥

अगर दया पालनेसेही साधुताकी सिद्धि होती है तो फिर ज्ञानकी क्या आवश्यकता है? नवदीक्षित-साधुओंके मनमें ऐसी शङ्का न होवे इसलिये जीवदयारूप क्रियामें ज्ञानकी भी आवश्यकता बताते हैं—पहले ज्ञान फिर दया-जीवरक्षाप्रधान संयम, इसतरह ज्ञानपूर्वक क्रियाको स्वीकारकर सब साधु रहते हैं; सर्वत्र अन्धतुल्य होनेसे अज्ञानी क्या करेगा? और जानकारीके अभावसे वह पुण्य पाप क्या समझेगा? ॥ १० ॥

ज्ञानप्राप्तिका उपाय कहते हैं—शास्त्रको सुनकर कल्याणरूप दयाको जानता है और असंयमस्वरूप पापको भी सुनकर जानता है, संयम असंयम दोनोंके स्वरूपको सुनकर जाने और जानकर जो श्रेयस्कर-हितकर हो उसको ग्रहण करे ॥ ११ ॥

क्योंकि—जो पृथ्वीकाय आदि जीवोंको नहीं जानता तथा अजीवोंको भी नहीं जानता है वह जीव व अजीवोंको नहीं जानता हुआ उनकी रक्षाके लिये संयमको कैसे जानेगा? ॥ १२ ॥

इस लिये ज्ञानप्राप्ति करे, ज्ञानपूर्वक क्रियासे लाभ—जो जीवोंको जानता है और अजीवोंको भी जानता है, इस तरह जीव अजीवोंको जानता हुआ वह साधुही संयमको जानेगा ॥ १३ ॥

पंचम अधिकारमें ज्ञानपूर्वक क्रियाका फल कहते हैं—जब जीव अजीव इन दोनोंको जानता है, तब सब प्रकारके जीवोंकी विविध गतिको भी जानता है ॥ १४ ॥

जब सब प्रकारके जीवोंकी अनेक प्रकारकी गतिको जानता है, तब पुण्य तथा पाप, बन्ध और मोक्षको भी जानता है ॥ १५ ॥

॥ २३ ॥

॥ २४ ॥

जब पुण्य पाप तथा बन्ध मोक्षको जानता है, तब मोहकी मन्दतासे जो दिव्य-देवसम्बन्धी व मनुष्य-सम्बन्धी भोग हैं उनको दुःखरूप होनेसे असार समझता है ॥ १६ ॥

जब दिव्य और मनुष्यसम्बन्धी शब्दादि भोगोंको निस्सार समझकर घृणाकी नजरसे देखता है, तब आभ्यन्तर-क्रोध मान आदि व बाहरी-धनधान्य आदिके संयोगको छोड देता है ॥ १७ ॥

जब आभ्यन्तर बाह्य याने भीतरी बाहरी संयोगोंको त्यागता है, तब द्रव्य भाव इन दो भेदोंसे मुण्ड होकर अनगारता-साधुपनको धारण करता है ॥ १८ ॥

जब द्रव्यभावसे मुण्ड होकर साधुताको धारण करता है तब हिंसा आदिसे पृथक् होकर उत्तम संवर-धर्मका पालन करता है ॥ १९ ॥

जब संवररूप उत्तम धर्मका पालन करता है, तब पूर्वके मिथ्यादृष्टिपनसे आत्मामें लगी हुई कर्मरज को अलग करता है ॥ २० ॥

जब मिथ्यादृष्टिपनसे लगी हुई कर्मरजको दूर कर लेता है, तब सर्वत्रग याने सब पदार्थोंको जाननेवाले पूर्ण ज्ञान और दर्शनको पाता है ॥ २१ ॥

जब सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण दर्शनको पा लेता है, तब वह जिन याने रागद्वेषका विजेता, केवली-पूर्णज्ञानी होकर लोक और अलोकको जानता है ॥ २२ ॥

जब वह पूर्णज्ञानी जिन लोक और अलोकको जानता है, तब उचित समयपर योगको अर्थात् मन वचन और शरीरकी प्रवृत्तिको रोककर 'शैलेशी'-पर्वतकी तरह स्थिर दशाको प्राप्त करलेता है ॥ २३ ॥

जब योगको रोककर शैलेशी दशाको प्राप्त करलेता है, तब (पांच ह्रस्व अक्षरोंको उच्चारण करने जितने थोडे समयमें) सर्वथा कर्मोंको क्षयकर कर्मरजसे रहित होता हुआ वह महापुरुष सिद्धिगतिमें जाता है ॥ २४ ॥

॥ २४ ॥

जब कर्मोंको क्षयकर सर्वथा कर्मरहित बना हुआ आत्मा सिद्धिगतिको जाता है, तब लोक (ऊंचा, नीचा, मध्यरूप त्रिलोकी) के मस्तकपर स्थित शाश्वत-सदा एकरूपसे रहनेवाला सिद्ध हो जाता है ॥ २५ ॥

यह धर्मका फल जिसके लिये दुर्लभ है उसको कहते हैं—

जो साधु अक्सर सुखका लोलुपी और साता-सुखके लिये आकुल (लालायित) रहता हो, और अमर्यादित सोता हो, तथा शरीरकी शोभाके लिये अधिकतासे जलकी अयतना करनेवाला अर्थात् बारंबार अंगको धोनेवाला हो, ऐसे साधुके लिये सुगति दुर्लभ होती है॥ २६ ॥

अब सहजरीतिसे सुगति पानेवालेको कहते हैं—

जो तपोगुणकी प्रधानतावाला व ऋजुमति अर्थात् सरल बुद्धिवाला हो और क्षमाप्रधान संयममें लगा रहनेवाला हो, तथा भूख, प्यास आदिके परीषहोंको जीतनेवाला हो, वैसे साधुके लिये सुगति सुलभ होती है ॥ २७ ॥

पिछली अवस्था(वृद्धावस्था)में या एकवार पतित होकर दुबारा भी संयममें लगकर वे जल्दी देव-लोकमें जाते हैं, जिनको कि संयम और तप तथा क्षमा व ब्रह्मचर्य प्रिय है ॥ २८ ॥

उपसंहार करते हुए कहते हैं—दुर्लभ चारित्रधर्मको पाकर सदा यत्नवाला सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वोक्त इन छह प्रकारके जीवोंकी मन, वाणी व शरीरसे प्रमादपूर्वक विराधना याने हिंसा नहीं करे ॥ २९ ॥ गुरु-ऐसा मैं कहता हूँ। इति।

॥ षड्जीवनिका नामका चौथा अध्ययन समाप्त ॥



॥ २५ ॥

१. वृत्तिकारने इस गाथाका व्याख्यान नहीं किया है।

॥ पांचवाँ अध्ययन ॥

उद्देश पहला।



चतुर्थ अध्ययनके बाद अब पिण्डैषणा नामक पंचम अध्ययनकी व्याख्या करत हैं, पूर्वापरसम्बन्ध इस प्रकार है—चौथे अध्ययनमें छःकायिक जीवोंकी रक्षाकी प्रधानतावाले ऐसे साधुके आचारका वर्णन रात्रिभोजन-विरमण और पांच महाव्रतोंके रूपसे किया गया है, वह आचार शरीरके स्वस्थ रहनेपरही पाला जा सकता है और भोजनके विना प्रायः शरीर स्वस्थ नहीं रह सकता, अतः धर्मकायकी पालनाके लिये वह आहार कैसा व किस विधिसे लेना ? इस बातका वर्णन प्रस्तुत अध्ययनमें किया जायगा, इस सम्बन्धसे आये हुए इस अध्ययनका यह आदि सूत्र है—

भिक्षाकालके आनेपर साधु जल्दीबाजी और आहार व शब्दादि विषयोंमें आसक्ति नहीं करता हुआ आगे कही जानेवाली विधिसे आहारपानीकी गवेषणा-खोज करे ॥ १ ॥ गोचरी आदिमें जाते हुए साधुको चलनेकी विधि कहते हैं—

पहले कहे गुणोंसे युक्त जो साधु गांवमें या नगरमें गोचराग्र अर्थात् मुख्यभिक्षामें गया हुआ है, वह आगेकी विधिसे उद्वेगरहित होकर धीरे २ शान्त व स्थिर चित्तसे चले ॥ २ ॥ विशेषविधि कहते हैं— गोचरी आदिमें जाता हुआ साधु शरीरप्रमाण भूमिको आगे देखता हुआ तथा मार्गमें बीज, हरित, द्वीन्द्रियादि जीव, सचित्त पानी और मिट्टी इत्यादि सजीव पदार्थ हों तो उनको बचाता हुआ चले ॥ ३ ॥

इसी प्रकार चलते हुए साधुको मार्गमें यदि खड्डेवाली जगह या ऊंची नीची होनेसे विषमभूमि तथा

स्थाणु-सूखे वृक्षका ठूंठ वा विजल याने कीचड आदि बाधक पदार्थ हों तो उनको छोड दे अर्थात् उनसे दूर होकर जावे। ऐसेही खड्डे व कीचड आदिको पार करनेके लिये संक्रमण भी बनाया हो तो दूसरे मार्गके होते हुए साधु उस हिलती हुई छोटी पुलिया आदिसे नहीं जावे ॥ ४ ॥

अवपात-संक्रमण आदिसे जानेमें दोष बताते हैं—अवपात आदि पूर्वोक्त स्थानोंमें गिरता हुआ या फिसलता हुआ वह साधु द्वीन्द्रिय आदि प्राणिओं याने जीवोंकी व एकेन्द्रियरूप भूतोंकी अर्थात् त्रस या स्थावरोंकी हिंसा करेगा, साथही अपने देहको भी हानि पहुंचावेगा ॥ ५ ॥

इसलिये जो साधु समाधिभावको रखनेवाला है, वह दूसरे मार्गके होते हुए ऐसे हिंसाके हेतुभूत मार्गसे नहीं जावे, यदि दूसरा मार्ग नहीं हो तो यतनासेही उस मार्गसे जावे ॥ ६ ॥

विशेषरूपसे पृथ्वीकायकी यतना कहते हैं—कोयला, क्षार-भस्म, भूसा और गोबर इन सबोंकी मार्गमें ढेरिएँ लगी (पडी) हों तो सचित्त धूलिसे भरे हुए पैरोंसे साधु उनको नहीं लांघे ॥ ७ ॥

अप्काय आदिकी यतना—इसीप्रकार वर्षा बरसते रहनेपर व धूअर-धुंध पडते साधु नहीं चले, तथा महावात अर्थात् आंधी बहते हुए या पतङ्ग आदि तिर्यक् संपातिम जीवोंके अधिक हो जानेपर भी साधु भिक्षाके लिये नहीं जावे ॥ ८ ॥

ब्रह्मचर्यको अपने वशमें करनेवाले याने भंग करनेवाले ऐसे वेश्याके घरके पास साधु नहीं जावे, क्योंकि वहाँ जानेसे जितेन्द्रिय ब्रह्मचारीके चित्तमें विकार हो जानेकी संभावना है ॥ ९ ॥ फिर—

इस तरहके अयोग्य स्थानमें वारंवार जाते हुए साधुके व्रतोंकी अधिक संसर्गसे पीडा-विराधना होती है, और अधिक संसर्गके कारण उसके द्रव्यचारित्रमें भी शङ्का होने लगती है ॥ १० ॥

इसलिये इस दोषको दुर्गतिवर्द्धक जानकर जो एकान्तमें रहनेवाला या मोक्षार्थी साधु है वह वेश्याके निवासको दूरसे छोड दे अर्थात् उधर नहीं जावे ॥ ११ ॥

चलनेकी ही विशेष विधि कहते हैं—(प्रथमव्रतकी विराधनाके वाद अन्य व्रतोंको छोडकर चतुर्थव्रतकी विराधनाका वर्णन करना इसकी प्रधानता वतानेके लिये है। जिसलिये चतुर्थव्रतका भङ्ग अन्य व्रतोंके विराधनाका कारण वन जाता है, इसलिये इसमें प्रधानता है।) यदि कुत्ता, नवप्रसूता-हालहीमें व्याई गौ, मारनेवाला बैल, मत्त घोडा व हाथी, तथा वालकोंके खेलनेका स्थान, कलह व युद्धकी जगह ये सव चलते हुए साधुओंके मार्गमें आजाँय तो इन सवोंको साधु दूरसे छोडके चले ॥ १२ ॥ फिर—

साधु द्रव्यभावसे अधिक ऊंचा (द्रव्यसे ऊंचा शिर कर आकाशको देखता हुआ और भावसे जाति आदिके मानसेयुक्त) होके नहीं चले, इसी प्रकार अधिक नीचा होके भी नहीं चले, जैसे—द्रव्यसे अङ्गोंको विशेष नमाकर और भावसे दीन वना हुआ नहीं चले, किन्तु हर्ष और आकुलतारहित अपने २ विषयमें इन्द्रियोंको दमनकर मुनि चले, (इस आज्ञामें मर्म यह है कि मनकी सहायतासे इन्द्रियाँ कुमार्गोंमें जीवको वरवश खींच लेती हैं, ऐसे मनोनिग्रह करनेवाले विरलेही हैं जो सुन्दर रूप, मधुर स्वर, मोहक गन्धके लिये लालायित नहीं होते हों, ऐसी स्वाभाविक प्रवृत्ति होनेसे इसका निषेध किया गया है) ॥ १३ ॥

ऐसेही—गोचरीमें गया हुआ साधु जल्दी २ या वोलता हुआ नहीं चले। तथा सदा हंसता हुआ भी द्रव्यभावभेदसे भिन्न ऊंच व नीच कुलोंमें नहीं जावे। (द्रव्यकी अपेक्षासे सुन्दर भवन व उच्च प्रासाद आदिमें रहनेवाला और भावकी अपेक्षासे ऊंची जातिवाला ऊंचा कुल है, ऐसेही द्रव्यभावकी अपेक्षासे अवचहीनकुल, जैसे—कुटी-झोपडी आदिमें रहनेवाला द्रव्यसे हीनकुल, और हीन जातिके कारण भावसे हीनकुल कहा जाता है।) इस निषेधका हेतु उभयविराधना और लोकोपघात आदि है॥ १४ ॥

१. यहाँ नीचकुल ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र इत्यादि जातियोंकी परस्पर अपेक्षासे लिया गया है। अतएव इससे सवतरहके नीचकुल याने लोकनिन्दितमें भी गोचरीके लिये साधुको जाना चाहिये ऐसा नहीं समझें।

फिर—गोचरी आदिमें चलता हुआ साधु आलोक-खिरकी, झरोखे आदि, भित्ति, तथा द्वार, और चोरसे खोदी गई सन्धि, और जल रखनेकी जगह इन सबको नहीं देखे, क्योंकि इन पूर्वोक्त चीजोंको देखना शङ्का-जनक है इसलिये इन शङ्कास्थानोंको मुनि देखना छोड दे ॥ १५ ॥

इसी प्रकार—राजा-चक्रवर्ती आदि, गृहपति-नगरसेठ आदि और कोतवाल वगैरहके गुप्तविचार करनेके स्थानोंको क्लेशकारक जानकर साधु दूरसे छोड दे अर्थात् उधर नहीं जावे ॥ १६ ॥

कैसे कुलमें भिक्षाको जाना तथा कैसे घरमें नहीं जाना ? इस बातको कहते हैं—लोकोंमें निन्दित या निषिद्ध-टाले हुए ऐसे कुलमें मुनि भिक्षाके लिये नहीं जावे, तथा 'मेरे घरमें कोई नहीं आवे' ऐसे मना करने-वालेके कुलमें भी नहीं जावे। जहाँ जानेसे अप्रीति हो लेकिन किसी कारणसे मना नहीं करता वहाँ नहीं जावे, किन्तु जहाँ जानेसे लोगोंको प्रसन्नता हो वहाँ जावे ॥ १७ ॥

द्वार बन्द हो तो क्या करना ? इसकी विधि बताते हैं—सन आदिके बने हुए चिक, टाट या वस्त्रके पर्देसे दरवाजा ढका हो तो विना गृहस्थकी आज्ञा लिए खुद उस पर्देको नहीं हटावे, ऐसेही ऊपर नीचे किये हुए कपाटको भी स्वयं नहीं खोले, कारणसे इजाजत लेकर खोले ॥ १८ ॥

भिक्षामें प्रवेश करता हुआ मुनि मलमूत्रकी बाधा नहीं रक्खे, अगर भूलसे मल आदिका निवारण नहीं किया हो या करनेपर भी दुबारा गोचरीमें गये हुएको बाधा हो ही जाय तो निर्जीव जगह जानकर गृहस्थकी आज्ञा मांगकर वहाँ बाधा दूर कर लेवे ॥ १९ ॥

मुनिको कैसे घरमें भिक्षार्थ नहीं जाना यह दिखाते हैं—

जिस घरका दरवाजा नीचा हो व जहाँ अधिक अन्धकार हो ऐसे घर याने कोठेको मुनि छोड दे, क्योंकि वहाँ आंखका व्यापार नहीं होनेसे कीट आदि सूक्ष्म जीव बराबर नहीं देखे जासकते । इसलिये दयाप्रधान वृत्तिवाले मुनि ऐसी जगह भिक्षा आदिको नहीं जावे ॥ २० ॥

२९ ॥

फिर—जिस घरमें सचित्त फूल व बीज वगैरह बिखरे हों, तथा तत्कालही लीपा पोता गया होनेसे जो गीला हो ऐसे घरको भी साधु देखकर छोड देवे ॥ २१ ॥

इसीप्रकार—घरके दरवाजेपर बकरा, बच्चा, कुत्ता, अथवा बछड़ा आदि हो तो उन सबोंको लांघकर या हटाकर साधु उस घरमें प्रवेश नहीं करे ॥ २२ ॥

पूर्वोक्त दोषरहित घरमें जाकर जैसा व्यवहार करे वह दिखाते हैं—गृहस्थके घरमें गया हुआ साधु किसी भी वस्तुको तल्लीन होकर नहीं देखे, तथा भिक्षा लेनेके स्थानके सिवाय लम्बे-दूरतक दृष्टि भी नहीं देवे, ऐसेही आंखें फार २ कर नहीं देखे, तथा भिक्षा नहीं मिलनेकी हालतमें भी दीनतासूचक वचनको नहीं बोलता हुआ घरसे पीछा फिर जावे ॥ २३ ॥

इसी प्रकार—गोचरीमें गया हुआ साधु गृहस्थके यहाँ मर्यादित स्थानसे आगे नहीं जावे, किन्तु उस कुलकी मर्यादित भूमिको जानकर उतनीही भूमिमें जावे ॥ २४ ॥

वहाँ किस प्रकार ठहरे ? इस बातको दो गाथाओंसे कहते हैं—

उपरोक्त भूमिमेंही विचक्षण साधु ठहरनेके लिये भूभागको अच्छी तरह देखे, तथा स्नान और मल-स्थानका अवलोकन नहीं करे अर्थात् उस बाजू नहीं देखे ॥ २५ ॥

तथा आगे कही रीतिसे वहाँ ठहरे—

सचित्त मिट्टी व जलके लानेका मार्ग, तथा सचित्त बीज और हरित-वनस्पति इनका वर्जन करता हुआ याने इनसे अलग होकर सभी इन्द्रियोंकी समाधिवाला साधु पूर्वोक्त देखी हुई जगहपर ठहरे ॥ २६ ॥

अब गृहस्थ वहाँ आहार आदि लावे तो मुनि कैसा लेवे यह दिखाते हैं—

वहाँ ठहरे हुए उस साधुको देनेके लिये गृहस्थ आहार-पानी लावे तो उसमेंसे जो अकल्पनीय-मुनिके लिये अग्राह्य है उसे नहीं लेवे, यदि कल्पनीय-ग्राह्य हो तो लेवे ॥ २७ ॥

फिर कैसे आहारको नहीं ले इस बातको कहते हैं—

आहारको लाते हुए यदि गृहस्थ उसमेंसे वहाँ कुछ इधर उधर बिखेर (गिरा) दे तो साधु देनेवाले(ली) से कहे कि मुझे इस प्रकारका आहार नहीं कल्पता है ॥ २८ ॥

इसी प्रकार—बेइन्द्रियादि प्राणिओंको और बीज, हरित वगैरह एकेन्द्रियोंको पांवसे कुचलती हुई अगर भिक्षा दे तो मुनि असंयम करनेवाली समझकर उस भिक्षाको छोड दे अर्थात् वैसी भिक्षा नहीं ले ॥ २९ ॥

उसी प्रकार—भिक्षादाता यदि प्रासुक आहारको सचित्तयुक्त दूसरे भाजनमें लेकर वा सचित्तपर रखकर देवे या साधुके लिये सचित्तसे स्पर्श आदि संघट्टकर अथवा सचित्त जलको हिलाकर देवे तो मुनि ऐसी भिक्षा नहीं लेवे ॥ ३० ॥

अप्कायकी यतनाको पृथक् करके कहते हैं—

सचित्त पानीमें अवगाहन कर या पानीको हिलाकर यदि दाता साधुके लिये आहार-पानी लावे तो ऐसे आहार लानेवालेको मुनि कह दे कि मुझे इस तरहका आहार नहीं कल्पता है ॥ ३१ ॥

फिर—गृहस्थ यदि साधुको भिक्षा देनेके लिये सचित्त जलसे हाथ, कडछी या अन्य भाजनोंको धोकर उस पुरःकर्मयुक्त हाथ आदिसे भिक्षा दे तो साधु देनेवालेको कह देवे कि मुझे ऐसा आहार लेना नहीं कल्पता है ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार—भिक्षा देनेवालेका हाथ यदि सचित्त पानीसे गीला हो या हाथकी रेखाओंमें कुछ गीलापन दिखता हो, तथा दाताका हाथ सचित्त रज-मिट्टी अथवा सचित्त ऊसर-क्षारसे भरा हो या हरिताल, हिंगुल,

मैनशील व अञ्जन और लोणसे भरा हो (तो साधु देनेवालेको कह देवे कि इस तरहका आहार लेना मुझे नहीं कल्पता है) ॥ ३३ ॥

ऐसेही गेरू, पीली मट्टी, सफेद मिट्टी याने खडी, तथा सचित्त फिटकिरी अथवा चावल आदिका पिष्ट–अर्थात् पानीमें चावलको कुछ काल रखकर फूल जानेके बाद पीसा हुआ, कुक्कुस–पीसा हुआ हलदी धाना आदि मसाला, इन सब वस्तुओंमेंसे किसी एकसे भी भरे हुए हाथको कृत–युक्त समझना चाहिये, अस्त्रसे काटे गये कोंढा खरबूजा आदिके बारीक टुकडोंसे भरे हुए हाथको 'उत्कृष्ट' समझना चाहिये, अथवा कूटे हुए इमली आदिके पत्तोंके टुकडोंसे भरे हुए हाथको उत्कृष्ट समझना चाहिये । इसी प्रकार–जो हाथ साग भाजी आदिसे भरा न हो उसे 'असंसृष्ट' और जो भरा हुआ हो उसे संसृष्ट समझना चाहिये ॥ ३४ ॥

ऐसे हाथोंसे कोई भिक्षा देवे तो मुनिको क्या करना चाहिये सो आगेके श्लोकमें कहते हैं—

जिस आहारको लेनेमें पश्चात्कर्म हो अर्थात् देनेलायक आहार देनेके बाद जहाँ पात्र या हाथ धोए जाँय ऐसा आहार अगर असंसृष्ट–विना भरे हुए हाथसे या कडछीसे अथवा पात्रसे दिया जाय तो भी मुनि वैसे आहारको नहीं चाहे, यदि पश्चात्कर्मरूपदोषसे रहित हो तो लेवे ॥ ३५ ॥

अचित्त व निर्दोष अन्न आदिसे भरे हुए हाथ, चम्मच और भाजनसे दिये जाते आहारको साधु चाहे याने लेवे, अगर वह आहार अन्य दोषोंसे रहित हो ॥ ३६ ॥

कैसे दातासे आहार लेना और कैसेसे नहीं लेना ? इस प्रसङ्गमें विधिनिषेध कहते हैं—

---

१. इनमें सचित्त यह विशेषण सबके साथ समझें।

२. जिनमें कण मिले रहनेकी विशेष आशङ्का हो उसे कुक्कुस कहते हैं।

एकसाथ दो व्यक्ति भोजन करते हों उनमेंसे एक देना चाहे तो साधु वैसा एककी इच्छासे दीयमान आहार नहीं लेवे, किन्तु दूसरेकी भी इच्छा देखे याने यह देना दूसरेको इष्ट है या नहीं उसके इस भावको

एकसाथ दो व्यक्ति भोजन करते हों उनमेंसे एक देना चाहे तो साधु वैसा एककी इच्छासे दीयमान आहार नहीं लेवे, किन्तु दूसरेकी भी इच्छा देखे याने यह देना दूसरेको इष्ट है या नहीं उसके इस भावको आकृति आदिपरसे समझे ॥ ३७ ॥

यदि दो भोजन करनेवालोंमेंसे दोनों निमन्त्रण करें अर्थात् आहार लेनेकी प्रार्थना करें और जो वहाँ आहार निर्दोष हो तो साधु दिये जानेवाले उस आहारको चाहे याने लेवे ॥ ३८ ॥

फिर आहार लानेकी विधि कहते हैं—गर्भवती स्त्रीके लिये अनेक प्रकारकी मिठाई आदि खाने पीनेकी वस्तुएँ बनी हों और वह गर्भवाली स्त्री उसे खाती हो तो उस आहारको छोड देवे। अगर उसके खा लेनेपर बचा हो तो मुनि ले सकता है ॥ ३९ ॥

ऐसेही अगर पूर्ण समयवाली गर्भवती स्त्री खडी हुई साधुको आहार देनेके लिये बैठे, अथवा बैठी हुई आहार देनेके लियेही फिर खडी होवे, तो इस प्रकार गर्भवतीके ऊठने बैठनेसे दिया जाता वह आहार-पानी साधुके लिये अग्राह्य होता है, इसलिये साधु देनेवालीको कहे कि मुझे ऐसा आहार लेना योग्य नहीं है ॥४०-४१॥

इसी प्रकार—बालक या बालिकाको दूध पिलाती हुई माता वा अन्य स्त्री यदि उस बच्चेको रोते हुए छोडकर मुनिके लिये आहार-पानी लावे ॥ ४२ ॥

तब मुनि क्या करे? इसपर कहते हैं—वह आहार-पानी मुनिओंके लिये अग्राह्य होता है, इसलिये मुनि देनेवालीको कहे कि यह आहार लेना मुझे नहीं कल्पता है ॥ ४३ ॥

अब शङ्कावाले पदार्थोंके विषयमें कहते हैं—जिस आहार-पानीके विषयमें ऐसी शङ्का हो कि यह कल्पनीय है या अकल्पनीय? तो साधु ऐसे शङ्कायुक्त आहार देनेवालीसे कहे कि मुझे यह आहार कल्पनीय नहीं है ॥ ४४ ॥

फिर कैसा आहार नहीं लेना चाहिये इसपर कहते हैं—जो आहार पानीके घडेसे अथवा पीसनेकी शिला व खरलसे ढका हो तथा पीठ वा वांटनेसे ढका हो या किसी भी मिट्टी आदिके लेप या लाख आदि चिपकानेवाले चिकने पदार्थसे मुंह बन्द कर किसी पात्रमें रक्खा हो ॥ ४५ ॥

और दाता साधुके लियेही उस ढककर रक्खे हुए आहारके पात्रको खोले व खोलकर देवे, तो देनेवालेसे साधु कहे कि मुझे ऐसा आहार नहीं कल्पता है ॥ ४६ ॥

फिर—जिस आहारके लिए साधु अपनी बुद्धिसे ऐसा जाने या गृहस्थके मुंहसे सुने कि-अशन, पान और खाद्य तथा लवंग आदि स्वाद्य-ये सब पदार्थ केवल दानमें देनेके लिये बनाये गए हैं ॥ ४७ ॥

तो इस प्रकारका आहार-पानी साधुओंके लिये निषिद्ध है, ऐसा समझकर पूर्वोक्त आहार देनेवालेको साधु कहे कि यह आहार-पानी मुझे नहीं कल्पता है ॥ ४८ ॥

अगर साधुके जानने या सुननेमें ऐसा आवे कि ये अशन, पान, खाद्य, स्वाद्यरूप, आहार केवल पुण्य-निमित्त बने हैं, तो पुण्यके लिये बना होनेसे वह आहार-पानी साधुके लिये निषिद्ध है ऐसा समझकर साधु देनेवालेसे कहे कि मुझे ऐसा आहार नहीं कल्पता है ॥ ४९-५० ॥

फिर—जो साधु अपने अनुभवसे जाने और दूसरेसे सुने कि यहाँ अशन वा पान, खाद्य व स्वाद्य ये सब याचकोंके लिये बने हैं, तो वह आहार-पानी साधुओंके लिये निषिद्ध है इसलिये साधु देनेवालेको कहे कि ऐसा आहार लेना मुझे नहीं कल्पता है ॥ ५१-५२ ॥

अशन वा पान तथा खाद्य और स्वाद्य यह चतुर्विध आहार शाक्य आदि साधुओंके लिये बना है ऐसा साधु स्वयं जाने या किसीके मुंहसे सुने ॥ ५३ ॥

॥ ३४ ॥

तो दोषयुक्त होनेसे वह आहार-पानी साधुओंके लिये ग्राह्य नहीं होता है इसलिये साधु देनेवालेको कहे कि ऐसा आहार मुझे नहीं कल्पता है ॥ ५४ ॥

फिर—निषिद्ध आहारकाही स्वरूप कहते हैं—जो आहार साधुओंके उद्देशसे दहीमें ओदन मिलाकर करंबक (करबा) आदिकी तरह बनाया हो, या खरीदा हो, तथा आधाकर्मके अंशसे मिश्रित या सामनेमें लाया हुआ हो अथवा पहलेसे सीझते हुए आहारमें पीछे साधुके निमित्तसे फिर डालके बनाया गया हो और दुर्बलसे छीना हुआ तथा अपने व साधुके लिये सम्मिलित बनाया हुआ मिश्र हो तो उपरोक्त दोष-वाले आहारको साधु छोड़ दे अर्थात् नहीं लेवे ॥ ५५ ॥

शङ्का दूर करनेके लिये साधु क्या करे? इसपर कहते हैं—उस शङ्कायुक्त आहारकी उत्पत्तिको मुनि देनेवालेसे पूछे कि यह आहार किसके लिये और किसने बनाया है? सुनकर शङ्कारहित समझे तो उस शुद्ध आहारको साधु लेवे ॥ ५६ ॥

जो अशन वा पान तथा खाद्य और स्वाद्य पदार्थ सचित्त फूलोंसे अथवा सजीव बीज या हरीसे मिले हुए हों, तो वह इस प्रकारका आहार-पानी साधुके लिये अग्राह्य होता है इसलिये साधु देनेवालेको कहे कि ऐसा आहार-पानी मुझे नहीं कल्पता है ॥ ५७-५८ ॥

वैसेही—जो अशन व पान एवं खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ पानीपर रक्खे हों अथवा कीडीनगरा और काईपर रक्खे हों, तो इस प्रकारका वह आहार-पानी साधुके लिये लेनेलायक नहीं है, इसलिये मुनि देनेवालेको कहे कि मुझे ऐसा आहार लेना नहीं कल्पता है ॥ ५९-६० ॥

अशन अथवा पान, खाद्य तथा स्वाद्य पदार्थ अगर अग्निपर रक्खे हों और गृहस्थ उस अग्निका संघ-

ट्टन (स्पर्श) करके भिक्षा देवे तो इस तरहका वह आहार-पानी साधुओंके लिये अग्राह्य है इसलिये ऐसे आहार देनेवालेको साधु कहे कि मुझे यह आहार लेना नहीं कल्पता है ॥ ६१-६२ ॥

फिर अग्निकी विराधनासे दिये जाते हुए आहारका निषेध कहते हैं—

ऐसेही—मुनिराजको भिक्षा दूं तबतक चुल्हेकी आग बुझ न जाय इस भयसे उस्सक्किआ-जलती हुई लकडिओंको उसकाकर अर्थात् चुल्हेमें आगे बढाकर, या ओसक्किआ-चुल्हेपरकी चीज जल न जाय इस भयसे जलती लकडिओंको चुल्हेसे बाहर खींचकर, तथा उज्जालिआ-बुझती हुई आगमें एकवार लकडी डालकर, या पज्जालिआ-वारंवार अधिकतासे लकडी डालकर, निव्वाविआ-जल जानेके भयसे आगको एकदम बुझाकर, या उस्सिंचिआ-अधिक भरे हुए पात्रमेंसे गिरनेके भयसे कुछ निकालकर अथवा साधुओंको देनेके लिये चुल्हेपर चढे हुए भाजनसे लेकर, तथा निस्सिंचिआ-जिस बर्तनमें व्यञ्जन आदि उबल रहा हो उस बर्तनसे दूसरे बर्तनमें रखकर अथवा उबलनेवाले भाजनमें जलका सिंचन कर, ओवत्तिआ ओयारिआ-आगपरके बर्तनसे दूसरेमें पलटकर या उसको नीचे उतारकर कोई दाता देवे तो वह आहार-पानी अग्निके संघट्टनसे साधुओंके लिये अग्राह्य है, अतः ऐसे आहार देनेवालेको साधु यों कहे कि मुझे यह आहार लेना नहीं कल्पता है ॥ ६३-६४ ॥

वर्षा आदि किसी समयमें कीचड व पानी आदिके संक्रमणके लिये अर्थात् इस पारसे उसपार जानेके लिये लम्बी लकडी या बडी शिला रक्खी हो, अथवा ईंट आदि भी जमाये हों, और वे सब हिलते हों, तब साधु उन लकडी आदिके अस्थिर संक्रमणसे नहीं जावे, क्योंकि उसपर होकर जानेमें हिंसारूप असंयम देखा गया है, ऐसेही सभी इन्द्रियोंसे समाधिभाववाला साधु प्रकाशरहित और पोले अन्य मार्गसे भी नहीं जावे ॥ ६५-६६ ॥

फिर आहारके सम्बन्धमें कहते हैं—

इन सब फलोंको क्यों नहीं लेना इसको दिखाते हैं—

जिस लिये उपरोक्त वनस्पतिओंमें खानेयोग्य भाग कम होता है और बाहर फेंकनेका भाग बहुत होता है, इसलिये वैसे आहार देनेवालेको साधु कहे कि मुझे ऐसा आहार लेना नहीं कल्पता है ॥ ७४ ॥

अब पानीके बाबत कहते हैं—उसी प्रकार-आहारग्रहणकी विधिके समानही अच्छे बुरे-अच्छे-द्राक्षापान आदि, बुरे-वर्णादिहीन-पेय पदार्थको अथवा गुडके घडेको धोया हुआ पानी, तथा संस्वेदिम-कठौते आदिको धोया हुआ पानी या पिष्टोदक, तथा चावलोंका पानी ये सब अगर तत्कालके धोये हुए हों तो साधु नहीं लेवे ॥ ७५ ॥

इसीमें विधि कहते हैं—जो पानी अधिक समयका धोया हुआ है ऐसा अपनी बुद्धिसे अथवा देखनेसे समझे या गृहपतिको पूछकर वा किसीसे सुनकर शङ्कारहित जाने तो (उसको ग्रहण करे) ॥ ७६ ॥

इसी विषयमें कहते हैं—परीक्षासे निर्जीव बना जानकर वैसे पानीको साधु ग्रहण करे, अगर शङ्कायुक्त हो तो जीभपर रखकर (चखकर) निश्चय करे ॥ ७७ ॥

निश्चय करनेकी विधि बताते हैं—हे बहन ! थोडासा पानी मुझे परीक्षार्थ चखनेके लिये हाथपर दो, अग्राह्य होनेपर कहे कि ऐसा अति खट्टा अथवा दुर्गन्धिवाला पानी मेरी प्यास हटानेमें समर्थ नहीं है, इसलिये यह (अनुपयोगी होनेसे) मुझे मत दो ॥ ७८ ॥

अत्यन्त खट्टा व दुर्गन्धियुक्त होनेसे जो पानी प्यास हटानेमें समर्थ नहीं है, वैसे पानीको लेते हुए साधु देनेवालीसे कहे कि मुझे ऐसा पानी लेना नहीं कल्पता है ॥ ७९ ॥

और उस तरहका अनुपयोगी पानी विना इच्छासे या अन्य-मनस्क भावसे अगर ले लिया गया हो, तो उस जलको मुनि न स्वयं पीवे अथवा न दूसरेको भी पीनेके लिये दिलावे ॥ ८० ॥

उस जलको नहीं पीवे तो क्या करे? इसपर कहते हैं—एकान्त स्थानमें जाकर वहां निर्जीव स्थानको देखकर यत्नपूर्वक विधिसे उस जलको परठ देवे और परठकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करे ॥ ८१ ॥

अब भोजनकी विधि कहते हैं—गोचरीमें गया हुआ साधु तपस्या आदि विशेष कारणसे यदि वहीं जल आदिको भोगना चाहे तो निर्जन व निर्जीव ऐसे घरको अथवा किसी भित्ति(दिवाल)के पीछेभागको अच्छी तरह देखकर कही जानेवाली विधिसे वहां आहारादि करे ॥ ८२ ॥

विधि—बुद्धिमान् साधु गृहस्थकी आज्ञा लेकर ऊपरसे ढके हुए उस स्थानमें उपयोगपूर्वक पूंजनीसे हाथ आदि अङ्गोंको पूंजकर संवृत आत्मा होकर वहाँ भोजन करे ॥ ८३ ॥

पूर्वोक्त विधिसे वहाँ आहार करते हुए उस साधुके आहारमें अगर कोई अखाद्य वस्तु निकल जाय, जैसे कि गुठली, कांटा अथवा तृण, लकडीके टुकडे या कंकरी, ऐसे दूसरा भी इस तरहका कोई पदार्थ हो तो निम्नोक्त विधिसे मुनि उसे डाल दे ॥ ८४ ॥

डालनेकी विधि कहते हैं—आहारसे निकले हुए उस पदार्थको साधु हाथसे उठाकर जिस किसी जगहमें फेंक न देवे, तथा न मुंहसे थूंके, फिर करे क्या? तो उस पदार्थको हाथसे लेकर एकान्त स्थानमें चला जावे ॥८५॥

और वहाँ जाकर अचित्त (निर्जीव) भूमिको देखकर यतनासे उसे परठ (डाल) देवे और परठकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करे ॥ ८६ ॥

अगर साधु जहाँ ठहरा हो उस उपाश्रय आदिमें आकरही आहार करना चाहे तो आहारसहित पात्रको लेकर वहाँ आवे, और आकर आहारको व भूमिको सरसरी नजरसे देख ले । आहार करनेकी भूमिको देखकर, (विशेष विधि कहते हैं—) 'निस्सही', 'मत्थएण वंदामि' आदि कहते हुए विनयसे प्रवेश करके साधु गुरुके पास ईर्यापथिक सूत्र पढे, और पढकर गुरुके पास आया हुआ प्रतिक्रमण अर्थात् कायोत्सर्ग करे ॥ ८७-८८ ॥

कायोत्सर्गमें क्या करे यह दिखाते हैं—जाने आनेमें तथा आहार-पानी लेनेमें जो अतिचार लगे हों, उन सब अतिचारोंको साधु क्रमसे जानकर (हृदयमें धारण करे)। विधिपूर्वक कायोत्सर्गको पूर्ण करके—सरल-बुद्धि व उद्वेगरहित साधु भिक्षामें जो जैसा लिया हो उसकी वैसीही गुरुके पास अविक्षिप्त याने स्थिर चित्तसे अच्छी तरह आलोचना करे ॥ ८९-९० ॥

अज्ञान व विस्मृति होनेके कारण यदि अच्छीतरह आलोचना नहीं हुई हो या कहनेमें पहले पीछे कहा गया हो, अथवा गृहस्थसे भिक्षामें पूर्वकर्म व पश्चात्कर्म किया गया हो, तो उसका फिर प्रतिक्रमण करे और कायोत्सर्गमें बैठा हुआ इसप्रकार विचारे ॥ ९१ ॥

अहो ! तीर्थङ्करोंने साधुओंके लिये कैसी निर्दोष भिक्षावृत्ति बताई है ! जो मोक्ष साधनेका हेतु और साधुओंके देहको धारण करनेवाली है ॥ ९२ ॥

(इसप्रकार ध्यानमें विचारकर) फिर नमस्कारमन्त्रसे ध्यानको पूर्ण कर अर्थात् पारकर जिनसंस्तव-चतुर्विंशतिस्तव करे, फिर स्वाध्याय करके क्षणभर-कुछ कालके लिये मुनि विश्राम करे ॥ ९३ ॥

फिर—निर्जरारूप लाभको चाहनेवाला साधु विश्राम करता हुआ इस हित अर्थको सोचे कि अगर कोई साधु मेरे आहारसे कुछ अपने लिये लेनेका अनुग्रह करे तो मैं संसारसे तारित-तारा हुआ हो जाऊं ॥ ९४ ॥

इसतरहके विचारके बाद, भोजनके समयमें प्रेमभावसे साधुओंको क्रमके अनुसार निमन्त्रण करे, 'निमन्त्रण करनेसे' यदि कोई साधु उससे लेना चाहे तो उसके साथ वहाँ भोजन करे ॥ ९५ ॥ भोजनकी विधि कहते हैं—

१. 'पडिक्कमामि गोयरग्गचरिआए' आदि पाठसे भिक्षा-विशुद्धिका विचार करे ।

२. 'नमो अरिहंताणं' कहके कायोत्सर्ग पूर्ण किया जाता है, यही पंचपदोंकी वन्दनारूप पूर्णपाठ नमस्कारमंत्र कहाता है ।

निमन्त्रण करनेपर भी अगर कोई साधु उसमेंसे लेना नहीं चाहे तो वह निमन्त्रण करनेवाला साधु खुद अकेलाही प्रकाशवाले स्थान व पात्रमें यत्नपूर्वक नीचे नहीं गिराता हुआ भोजन करे ॥ ९६ ॥

इस विषयको विशेष कहते हैं—शास्त्रोक्त विधिसे प्राप्त और दूसरेके वास्ते बना हुआ अथवा मोक्षका साधक करके लिये गये उस आहारको साधु समभावसे मधुघृतकी तरह समझकर खा लेवे। वह आहार चाहे तीता अथवा कडुआ या कषायला हो, खट्टा अथवा मिठा या नमकीना हो (खा लेना चाहिये) ॥ ९७ ॥

फिर कहते हैं—विधिसे मिला हुआ आहार चाहे हींग आदि संस्काररहित होनेसे अरस हो अथवा बहुत पुराना होनेसे विरस हो, व्यञ्जन आदिसे युक्त वा रहित हो, कहके दिया हो अथवा विना कहे दिया हो, व्यञ्जनकी अधिकतासे गीला हो अगर व्यंजनकी कमीसे सूखा हो, बोरके चूर्ण व उडदके बाकलेका भोजन हो, विधिपूर्वक मिला हुआ वह आहार थोडा हो या अधिक भी असारसा हो, निर्जीव वा सर्वथा शुद्ध ऐसे उस आहारकी निन्दा नहीं करे, फिर क्या करे? तो इस बातको कहते हैं—अपनी जाति आदिकी अपेक्षा विना दिखाए व यन्त्र मन्त्र आदिके प्रभावको विना बताए मुधाजीवी साधु विना किसी अपेक्षाके मिले हुए आहारको दोषरहित होकर शान्तिसे भोगे ॥ ९८-९९ ॥

उपसंहार करते कहते हैं—निस्स्वार्थ बुद्धिसे आहार देनेवाले दाता दुर्लभ हैं, और ऐसेही निस्स्वार्थ बुद्धिसे जीनेवाले अर्थात् आहार लेनेवाले साधु भी दुर्लभ हैं। इनके लिये फल कहते हैं—निस्स्वार्थ दाता व निस्स्वार्थजीवी दोनोंही सुगतिमें जाते हैं ॥ १०० ॥ गुरु-ऐसा मैं कहता हूँ। इति।

॥ पिण्डैषणा नामक पांचवें अध्ययनका पहला उद्देश समाप्त ॥



॥ पांचवाँ अध्ययन ॥

उद्देश दूसरा।



प्रस्तुत पिण्डैषणां अध्ययनके जो उपयोगी विषय प्रथम उद्देशकमें नहीं कहे गये उनको द्वितीय उद्देशकमें कहते हैं—

पूर्वोक्त विधिसे प्राप्त निर्दोष आहारको चाहे वह सुगन्ध हो वा दुर्गन्ध मुनि पात्रको अङ्गुलीसे निर्लेप पूंछकर सब भोग ले (खा ले), नीरस आदि कुछ भी छोडे नहीं ॥ १ ॥

साधु उपाश्रयमें अथवा स्वाध्यायभूमिमें या असमञ्जस कार्योंके निषेधसे शय्यारूप नैषेधिकीमें आकर वा पूर्वोक्त रीतिसे गोचरीमें गये हुए मठ वगैरहमें आहार करता हुआ साधु अपर्याप्त (अधूरा) आहारको भोगकर यदि उस आहारके अल्प होनेसे निर्वाह नहीं हो तो ॥ २ ॥

तब आहारका पुनः प्रयोजन होनेपर पहले कही गई और आगे कही जानेवाली इस प्रधान विधिसे मुनि आहार-पानीकी गवेषणा करे ॥ ३ ॥

भिक्षाके लिये किस समय जाना? इसपर कहते हैं—समयपरही साधु भिक्षाके लिये जावे और उचित समयसेही पीछा लौट आवे, और अकालको छोडकर स्वाध्याय भिक्षा आदि जिस समयका जो कार्य हो उसको उसी समयपर करे ॥ ४ ॥

अकालमें विचरनेवाले मुनिको दूसरा साधु कहता है—हे साधो! यदि तू अकालमें भिक्षा आदिको जाता है, और कालको नहीं देखता तो इससे स्वयं अपनी आत्माको पीडित करता है। सन्निवेश अर्थात् ग्राम आदिको भी बुरा कहता है (सन्निवेशकी भी निन्दा करता है) ॥ ५ ॥

अकालभ्रमणमें उपरोक्त दोष समझके साधु क्या करे? इसे दिखाते हैं—भिक्षाका काल होनेपर साधु भिक्षाके लिये जावे व शक्तिपूर्वक पुरुषार्थ करे, कभी नहीं मिला तो भी लाभ नहीं हुआ ऐसा समझकर चिन्ता नहीं करे, किन्तु इस तरह वीर्याचारकी आराधना और अलाभसे अनायास तपकी आराधना हुई समझकर सहन करे ॥ ६ ॥

अब क्षेत्रसम्बन्धी यतना कहते हैं—उसी प्रकार-काल सम्बन्धी यतनाकी तरहही गोचरीमें जाते हुए साधुको अन्न आदिके निमित्त आए हुए अच्छे बुरे अनेक प्राणी मार्गमें मिल जांय तो साधु उनके सन्मुख नहीं जावे, किन्तु उनको कष्ट न हो उस प्रकार यतनासे जावे ॥ ७ ॥

फिर गोचरीमें गया हुआ साधु क्या नहीं करे? यह कहते हैं—गोचराग्र याने प्रधानभिक्षामें गया हुआ साधु कहींपर भी नहीं बैठे, और न वहाँ बैठकर विस्तृत धर्मकथाही कहे ॥ ८ ॥

अब द्रव्यसम्बन्धी यतना कहते हैं—गोचरीमें गया हुआ साधु अर्गला, परिघा तथा द्वार व कपाटोंको अवलम्बन कर अर्थात् पकडकर मुनि खडा नहीं रहे ॥ ९ ॥

अब भावयतना दिखाते हैं—आहार अथवा पानीके लियेही गृहस्थके द्वारपर श्रमण या ब्राह्मण, कृपण अथवा दरिद्र (भिखारी) आ रहे हों तो आते हुए उनको उल्लंघन कर-पीछे हटाकर साधु घरमें प्रवेश नहीं करे, और न उनकी दृष्टिके समक्ष खडा भी रहे, फिर क्या करे? तो एक तरफ जाकर जहाँपर दिख नहीं पडे वहाँ ठहर जाय ॥ १०-११ ॥

ऐसा नहीं करनेपर दोष दिखाते हैं—लांघकर जानेसे अथवा सामनेमें खडा रहनेसे याचकको या उस दाताको या दोनोंको लाभमें अन्तराय और देनेमें असुविधा आदि कारणोंसे कदाचित् अप्रीति उत्पन्न हो, और प्रवचन-सिद्धान्तकी लघुता भी होवे इसलिये मुनि एकान्त जाकर ठहरे ॥ १२ ॥

अब वहाँ जानेकी विधि कहते हैं—दातासे निषेधको पाकर अथवा दानको पाकर वहाँसे उन साधु, ब्राह्मण, दरिद्र व भिखारिओंके लौट जानेपर मुनि वहाँ आहार-पानीके लिये चला जावे ॥ १३ ॥

लाल कमल, नील कमल अथवा कुमुद-चन्द्रकिरणसे विकसित होनेवाला कमल, तथा मगदन्तिका[1] और इस तरहके दूसरे बेला मोगरा आदि सचित्त फूल तोडकर अगर कोई आहार-पानी देवे ॥ १४ ॥

ऐसे सचित्त फूल आदिको जिसमें परितापना हो वैसा वह भक्त पान-आहारपानी साधुओंके लिये अकल्पनीय है, इसलिये ऐसे आहार-पानी देनेवालेको साधु कहे कि मुझे यह आहार-पानी नहीं कल्पता है ॥ १५ ॥

गृहस्थके घरपर उत्पल, पद्म आदि कमलोंके फूल या चन्द्रविकासी कुमुद आदिके फूल, या मगदान्तिका-मोगरा आदिके फूल हों अथवा दूसरे अनेक तरहके फूल हों, पहले कटे हुए भी यदि वे फूल सचित्त हों और उन सचित्त फूल आदिका संमर्दन-संघट्टन करके गृहस्थ आहार-पानी देवे तो वह आहार-पानी साधुओंके लिये अग्राह्य है, इसलिये ऐसे आहार देनेवालेको साधु कहे कि मुझे यह आहार नहीं कल्पता है ॥ १६-१७ ॥

किस तरहके वनस्पतिको साधु नहीं लेवे इस बातको दो गाथाओंसे कहते हैं—कमलका कन्द अथवा विरालिकारूप पलाशका कन्द तथा चन्द्रविकासी कुमुद व कमलनाल, और मृणालिका याने कमलनालके बीचमें रहनेवाले सूत्ररूप तंतु, और सर्षपनालिका-सरसोंके डांट (डंट), व उसके टुकडे-उपरोक्त चीजें अ र शस्त्रपरिणत-सर्वथा निर्जाव नहीं हुई हो तो (साधु नहीं लेवे) ॥ १८ ॥

वृक्षका अथवा मधुर तृणका या अन्यभी किसी हरीका पत्ता-पल्लव यदि कच्चा है ता साध उसको छोड दे अर्थात् नहीं लेवे ॥ १९ ॥

१. वृत्तिकारने इस शब्दके दो अर्थ किये हैं, जैसे—मेत्तिका अथवा मल्लिका-मालती । इन दो अर्थोंमेंसे अन्तिम अर्थही उचित मालम होता है ।

॥ ४४ ॥

जिस फलीमें बराबर बीज-दाने नहीं पडे हों ऐसी मूंग आदिकी फली यदि कच्ची हो तथा एकबार भूनी गई हो, गृहस्थ यदि वैसा आहार देता हो तो देनेवालेको साधु कहे कि मुझे ऐसा सचित्त या शंकायुक्त आहार लेना नहीं कल्पता है ॥ २० ॥

फिर—इसीप्रकार साधु अग्नि आदिसे विना सिझाए हुए बोर, वंशकरेला तथा श्रीपर्णी नामके फलोंको व तिलपापडीको तथा कच्चे नीमफलोंको नहीं लेवे ॥ २१ ॥

उसी प्रकार—पीसे गए चावल या चावलोंका चून, शुद्ध पानी-धोवन तथा गर्म पानी-पूरा गरम नहीं बना हुआ या ठंडा होकर फिरसे सचित्त बना हुआ, तिलपिष्ट-भींजे हुए तिलोंको पीसकर बनाया गया पीठ, व सरसोंकी खली-उपरोक्त पदार्थ कच्चे हों तो साधु नहीं लेवे ॥ २२ ॥

इसी प्रकार—कपित्थ-कौंठका फल तथा मातुलिङ्ग-बिजोरेका फल, मूला और उसकी गांदल जो कच्ची वा अग्नि आदि शस्त्रसे परिणत नहीं है उसको साधु मनसे भी नहीं चाहे ॥ २३ ॥

इसी प्रकार—फलोंके चूर्ण व यव आदि बीजोंका चूर्ण व बिभीतक-बहेडा और प्रियालफल[1] इनको कच्चा जानकर अर्थात् सचित्त समझकर मुनि छोड दे, नहीं लेवे ॥ २४ ॥

सामूहिक और शुद्ध भिक्षाका निमित्त लेकर साधु सदा ऊंच नीच कुलोंमें जावे, निर्धन होनेसे नीच कहानेवाले कुलको छोड कर धन मानकी दृष्टिसे ऊंचे कुलमें नहीं जावे अर्थात् सधन, निर्धन, सभी कुलोंमें जावे ॥ २५ ॥

विद्वान् मुनि दीनतारहित जीवन-निर्वाहकी वृत्तिको खोजे, यदि गवेषणा-खोज करनेपर भी योग्य

---

१. भाषामें रायणफल भी कहते हैं।

आहार नहीं मिले तो दुःख नहीं करे, और आहारके मिलनेपर मूर्च्छारहित उसके परिणामको-जाननेवाला मुनि आहार-सम्बन्धी शुद्धिकी खोजमें सावधान रहे ॥ २६ ॥

और इस प्रकार विचार करे—गृहस्थके घरमें अनेक प्रकारके खाद्य स्वाद्य आदि आहारोंकी अधिकता है, फिर भी गृहस्थ कृपणता आदि कारणसे उन आहारोंमेंसे नहीं देवे तो भी विद्वान् साधु वहाँ क्रोध नहीं करे, अपनी इच्छासे गृहस्थ देवे चाहे नहीं देवे यह उसकी इच्छाकी बात है, मुनि इसमें विरुद्ध विचार नहीं करे ॥२७॥

इसी बातको स्पष्ट कहते हैं—प्रत्यक्षमें वस्तुओंके दिखते रहनेपर भी यदि गृहस्थ शय्या, आसन, वस्त्र अथवा आहार व पानी नहीं देवे तो भी साधु नहीं देनेवाले उस गृहस्थपर क्रोध नहीं करे ॥ २८ ॥

स्त्री अथवा पुरुष, तरुण या वृद्ध, ये सब जब वन्दना कर रहे हों तब उनसे साधु कुछ नहीं मांगे और वस्तुके नहीं मिलनेपर कटु वचन नहीं बोले ॥ २९ ॥

अगर कोई वन्दना नहीं करे तो साधु उसपर क्रोध नहीं करे और राजा आदिके वन्दन करनेपर अहङ्कार भी नहीं करे, इस प्रकारसे भगवानकी आज्ञा पालनेवाले साधुकी साधुता (साधुपन) अखण्ड रहती है ॥ ३० ॥

अपने पक्षमें चोरीका निषेध कहते हैं—मेरे लाए हुए इस सरस आहारको दिखानेपर आचार्य उपाध्याय आदि स्वयं नहीं ले लें, इस विचारसे कोई जघन्य विचारवाला साधु कभी उत्तम आहारको पाकर लोभसे छिपाता है ॥ ३१ ॥

ऐसा करनेमें दोष दिखाते हैं—जिसको पापपूर्ण अपना मतलबही मुख्य है ऐसा लोभी साधु आहारके विषयमें बहुत पापसञ्चय करता है, वह साधु जिस किसी आहारसे सन्तुष्ट करनेलायक नहीं होता और असन्तोषी होनेसे निर्वाण अर्थात् मुक्तिको भी नहीं पाता है ॥ ३२ ॥

अब परोक्षमें हरण करनेवालोंको कहते हैं—कोई एक साधु कभी अनेक प्रकारके आहार-पानीको पाकर उसमेंसे अच्छा २ मार्गमें खाकर वर्ण व रसरहित साधारण आहारको उपाश्रयमें लावे ॥ ३३ ॥

ऐसा करनेमें कारण दिखाते हैं—उपाश्रयमें रहनेवाले ये साधु सच्ची बात न मालुम हो तबतक मुझे जानें कि यह साधु आत्मार्थी है, सन्तुष्ट होकर प्रान्त अर्थात् असार आहारको भी रुक्षवृत्तिवाला बनकर सेवन करता है तथा साधारण आहारसे सन्तुष्ट करनेलायक है ॥ ३४ ॥

इस प्रकार पूजाके लिये यशको चाहनेवाला तथा मान सन्मानका अर्थी वह साधु बहुत पापोंको उत्पन्न करता है और मायाशल्यको भी करता है ॥ ३५ ॥

अपने संयमकी रक्षा करता हुआ मुनि सुराको अथवा प्रसन्ना व मेरक या वैसेही सीधु आदि अन्य भी किसी मादक द्रव्यको केवलीकी साक्षीसे नहीं पीवे ॥ ३६ ॥

जो साधु धर्मसहायसे रहित एकान्तमें मुझे कोई नहीं जानता है ऐसा समझकर मद्य पीता है वह भगवदाज्ञाका विरोधी होनेसे भगवानका चोर है, हे शिष्यों! उस मद्यपीके दोषोंको देखो और उसकी 'निकृति'-मायाको मुझसे सुनो ॥ ३७ ॥

उस मद्यपी साधुकी मद्यमें आसक्ति-प्रीति बढती है, और झूंठ कपट भी बढता है। तथा अयश बढता है, मद्य नहीं मिलनेसे अशान्ति बढती है, इसप्रकार मद्यपीका असाधुपन निरन्तर बढता रहता है ॥ ३८ ॥

वह मद्यपी साधु-चोर अपने कुकर्मोंसे घबराया रहता है, वैसे वह दुर्बुद्धि साधु-अपने कर्मोंसे सदा चिन्तित रहता हैं, इस तरहका साधु मरण समयमें भी संवरकी आराधना नहीं कर पाता है ॥ ३९ ॥

इस प्रकारका व्यसनी साधु आचार्योंकी तथा अन्य साधुओंकी भी आराधना नहीं करता, गृहस्थ भी उसकी निन्दा करते हैं, जिसलिये कि वे उस मद्यपीके आचरणको जानते हैं ॥ ४० ॥

इसी बातको उपसंहारमें कहते हैं—इसतरह दुर्गुणोंको धारण करनेवाला और सद्गुणोंको छोडनेवाला वैसा मद्यपी साधु मरणसमयमें भी संवरधर्मकी ठीक आराधना नहीं करता है ॥ ४१ ॥

ऐसा समझकर क्या करना चाहिये? इस बातको आगे कहते हैं—बुद्धिमान् साधु मद्यपानरूप प्रमादसे अलग रहकर तपस्याको करता है तथा प्रणीत अर्थात् सरस-स्निग्ध आहारको भी छोडता है और मैं तपस्वी हूँ ऐसे अहङ्कारसे भी रहित होता है ॥ ४२ ॥

हे शिष्यों! उस सुसाधुके कल्याणस्वरूप संयमको देखो, जो कि मोक्षरूप निरुपमसुखका साधन होनेसे विपुल-विशाल है, और अनेक साधुओंसे पूजित व जो मोक्षरूप अर्थसे युक्त है ऐसे संयमको मैं कहूंगा, मुझसे सुनो ॥ ४३ ॥

इसप्रकार—अप्रमाद आदि गुणोंको देखने व धारण करनेवाला और दुर्गुणोंको छोडनेवाला वैसा साधु मरणसमयमें भी संवरधर्मकी आराधना करता है ॥ ४४ ॥

तथा—वैसा गुणयुक्त साधु आचार्योंकी और अन्य साधुओंकी भी सेवा करता है, गृहस्थ भी वैसे संयमी साधुको जिसलिये गुणयुक्त जानते हैं इसलिये पूजते हैं अर्थात् सेवा करते हैं ॥ ४५ ॥

जो साधु तपका व्रतका और रूपका चोर है तथा आचार और भावोंका चोर है अर्थात् तप, व्रत, रूप, भाव, आचार आदि गुणोंको न होनेपर भी कपटसे अपनेमें दिखाना चाहता है वह मनुष्य किल्विषी देवपनको अर्थात् देवोंमें नीचपदको प्राप्त करता है ॥ ४६ ॥

देवभवको पाकर भी वह साधु पूर्वोक्त कपटक्रियाके कारण किल्विषी देवोंमें पैदा होकर भी वहाँ ऐसा नहीं समझता कि मुझे क्या करनेसे यह फल मिला है ॥ ४७ ॥

उस देवभवसे च्युत होकर भी वह साधु मनुष्यभवमें बोकडोंकी तरह मूकपन-गूंगापन-को प्राप्त करता है तथा परम्परासे नरक व तिर्यक् योनिको पाता है जहाँ कि उसको जिनधर्मकी प्राप्ति दुर्लभ होती है ॥ ४८ ॥

अब इस विषयका उपसंहार करते हैं—मर्यादाशील साधु ज्ञातपुत्र श्रीमहावीरसे कहे गए इन दोषोंको देखकर थोडा भी छल-कपट व मृषावादको छोड देवे अर्थात् इन्हें आचरणमें नहीं आने देवे ॥ ४९ ॥

साधु भिक्षाकी एषणा-आहारशुद्धिको तत्त्वोंके जानकार मुनिओंसे सीखकर उस विषयमें इन्द्रियोंके उपयोगको रक्खे और उत्तमसंयमी गुणवान् होकर विचरे अर्थात् भिक्षाकी समाचारीका ठीकसे पालन करे ॥ ५० ॥ गुरु-ऐसा मैं कहता हूँ । इति ।

॥ पिण्डैषणा नामका पांचवाँ अध्ययन समाप्त ॥



॥ छट्ठा अध्ययन ॥



अब छट्ठे अध्ययनकी व्याख्या करते हैं। पांचवें अध्ययनसे इसका सम्बन्ध इस प्रकार है—पांचवें अध्ययनमें साधुओंके लिये भिक्षा-विशुद्धि अर्थात् शुद्धभिक्षा पानेके उपाय कहे गए हैं, गोचरीमें गए हुए मुनिओंसे यदि कोई उनका आचार पूछे तो मुनि वहां विस्तारपूर्वक नहीं कहकर उपाश्रयमें आकर कहें। इसी विचारसे छट्ठे अध्ययनमें साधुओंके आचारगोचरको कहते हैं—

विशिष्टज्ञान व क्षायोपशमिक आदि दर्शनसे सम्पन्न तथा संयम और तपमें लीन ऐसे[1] आगमके जानकार आचार्य जो कि साधुके उतरनेयोग्य उद्यानमें ठहरे हुए हैं ॥ १ ॥

उद्यानमें विराजमान उन आचार्योंको राजा और राजमन्त्री, ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय आदि स्थिरचित्त होकर पूछते हैं कि हे पूज्य महाराज! आपका आचारगोचर (क्रियाकलाप) कैसा है? ॥ २ ॥

इसप्रकार उन राजा आदिसे पूछे गए स्थिरचित्त याने शान्तहृदय व जितेन्द्रिय तथा सर्व जीवोंके हितकारी ऐसे विचक्षण आचार्य महाराज आसेवना व ग्रहणारूप शिक्षासे युक्त होकर धर्मकथा कहते हैं ॥ ३ ॥

हे भव्यजीवों! तुम धर्मका मुख्य फल जो मोक्ष है उसको चाहनेवाले साधुओंके आचारगोचरको हमसे सुनो, जो कि सम्पूर्ण आचार कर्मशत्रुओंके चलते भयङ्कर है और साधारण जीवोंसे दुराश्रय याने दुःखसे अपनानेयोग्य है ॥ ४ ॥

लोकमें जो संयमधर्म अत्यन्त दुष्कर है उस आचारका ऐसा वर्णन दूसरे प्रवचनोंमें नहीं है, मोक्षके हेतु-

१. अनुवादमें आदरके लिये बहुवचन किया गया है।

रूप संयमस्थानको भजनेवाले साधुओंके लिये इस तरह आचारधर्मका वर्णन जिनमतसे अन्यत्र न कहीं हुआ न होगा ॥ ५ ॥

बाल, वृद्ध, रोगी और निरोगी इन सबोंके लिये जो गुण अखण्ड व अस्फुटित रूपसे थोडीबहुत भी विराधना विना किये पालन करनेलायक हैं, वे गुण जैसे हैं वैसेही उन्हें सुनो ॥ ६ ॥

अज्ञानी साधु जिन दश और आठ अर्थात् अठारह स्थानोंको लेकर अपराध करता है, उनमेंसे किसी एक स्थानमें भी प्रमाद करनेवाला साधु निर्ग्रन्थ-धर्मसे गिरता है अर्थात् भ्रष्ट होता है ॥ ७ ॥

संख्यामात्रसे कहे हुए इन अठारह स्थानोंके परिचयको संक्षेपमें कहते हैं—वर्जनीय अठारह स्थान, जैसे—छह व्रतोंकी तथा छहकायिक जीवोंकी विराधना करना ये बारह स्थान हुए; और अकल्पनीय पिण्ड लेना १ गृहस्थोंके धातुपात्रोंसे काम लेना १ पलंगपर सोना बैठना ३ गृहस्थोंके घरोंमें विना खास कारण बैठना ४ स्नान करना ५ शृङ्गार करना ६, इस प्रकार सबको मिलानेसे १८ स्थान हुए। प्राचीन वृत्तिकारोंने इस गाथाको निर्युक्तिगत मानी है ॥ ८ ॥

अब इन १८ स्थानोंमेंसे एक एकका वर्णन करते हैं—उन अठारह स्थानोंमें अहिंसाके अनासेवनको भगवान् महावीरने पहला पापस्थान बताया है, धर्मसाधनरूपसे यही अहिंसा निपुण देखी गई है, क्योंकि इस अहिंसासेही सब जीवोंकी रक्षा होती है, अन्यत्र नहीं ॥ ९ ॥

संसारमें जितने जीव हैं वे चाहे स्थावर हों या त्रस हों, जानते हुए या अजानपने उन जीवोंकी हिंसा करे नहीं, और दूसरोंसे करावे भी नहीं ॥ १० ॥

हिंसात्यागमें कारण दिखाते हैं—सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहते हैं, इसलिये दुःखके हेतु होनेसे रौद्र ऐसे प्राणिवध(हिंसा)को साधु छोडते अर्थात् नहीं करते हैं ॥ ११ ॥

अब मृषावादरूप दूसरा स्थान कहते हैं—अपने लिये या दूसरोंके लिये साधु पीडाकारी व झूंठ बोले नहीं, क्रोधसे वा मान, माया, लोभसे अगर भय, हास्य आदि कारणसे दूसरोंसे भी वैसे वचन बोलावे नहीं ॥१२॥

क्योंकि मृषावाद निश्चयसे समस्त संसारमें सब साधुओंसे निन्दित है, और जीवोंके अविश्वासका कारण है। इसलिये साधु मृषावादको छोड देवे ॥ १३ ॥

अब तीसरे स्थानको कहते हैं—द्विपद आदि सचित्त अथवा सुवर्ण आदि-अचित्त वा मूल्यसे तथा माप तोलसे थोडा अगर बहुत, किंबहुना दांतोंको साफ करनेके लिये तृणमात्र भी जिसके अवग्रहमें है उससे विना मांगे-(नहीं लेवे) ॥ १४ ॥

पूर्वोक्त अदत्त वस्तुओंको साधु स्वयं कभी लेते नहीं तथा दूसरोंको लेनेकी प्रेरणा करते नहीं, अथवा लेनेवाले अन्यकी भी अनुमोदना नहीं करते ॥ १५ ॥

तीसरा स्थान कह चुके अब चौथे स्थानको कहते हैं—अब्रह्मचर्य-कुशीलपना घोर-भयङ्कर है, और प्रमाद अर्थात् सब तरहकी गलतिओंकी जड है, इसलिये चारित्रभङ्गके कारणोंको छोडनेवाले मुनि इस मैथुनसंयोगका आचरण नहीं करते ॥ १६ ॥

अब्रह्मत्यागका कारण कहते हैं—अनन्त संसारका कारण होनेसे जो जिनवचनके जानकारोंसे दुराराध्य है, ऐसा यह मैथुनसेवन अधर्मकी जड और बडे २ दोषोंकी उन्नतिका हेतु है, इसलिये निर्ग्रन्थ मुनि इस मैथुनसंसर्गको त्याग देते हैं ॥ १७ ॥

अब पांचवाँ स्थान कहते हैं—जो साधु ज्ञातपुत्र अर्थात् महावीरके वचनोंमें रत-तल्लीन रहनेवाले हैं, वे पचाया हुआ अचित्त लवण तथा समुद्रीय लवण याने सचित्त लवण, तथा तेल, घी, और पतला गुड आदि पदार्थोंको रात्रिमें रखना नहीं चाहते हैं ॥ १८ ॥

सन्निधिकरणमें दोष दिखाते हैं—यह संचयकरण लोभका अनुभाव है, इसलिये तीर्थङ्कर आदि ऐसा मानते हैं कि जो किसीभी तरहका सञ्चय करता है वह भावसे गृहस्थ है, प्रव्रजित-साधु नहीं है ॥ १९ ॥

फिर साधुओंका वस्त्र आदि धारण करना भी सञ्चय करना होगा? इसपर कहते हैं—जो भी वस्त्र पात्र अथवा कम्बल और पादप्रोंछन है वह भी संयम व लज्जाके लियेही साधु धारण करते हैं और मूर्च्छारहित भोगते हैं ॥ २० ॥

इस प्रकार साधुके उस सकारण वस्त्रादि धारणको परिग्रह नहीं कहा है किन्तु स्व-परके रक्षक ज्ञातपुत्र-श्रीमहावीरने मूर्च्छा याने आसक्तिको परिग्रह कहा है, उनसे निश्चय समझकर ऐसा महर्षि गणधरका कहना है ॥ २१ ॥

उपकरणोंके अभावमें भी मूर्च्छा हो सकती है तो वस्त्र आदि उपकरणोंके होनेपर कैसे नहीं होगी? इसपर कहते हैं—योग्य क्षेत्र और योग्य कालमें (सब जगह) शास्त्रोक्त उपकरणोंसे युक्त भी मुनि जीवोंकी रक्षाके लिये वस्त्र आदि बाह्य परिग्रहके होनेपर भी उसमें मूर्च्छा नहीं करते हैं, फिर अन्य वस्तुओंकी तो बातही क्या? तत्त्वके जानकार वे साधु अपने देहपर भी ममता नहीं करते हैं ॥ २२ ॥

अब छट्ठा स्थान कहते हैं—अहो आश्चर्यकी बात है कि सब तीर्थङ्करोंने साधुके लिये दोषके अभावसे व गुणवृद्धिके कारण सदा स्थिर रहनेवाला तपःकर्म बताया है, जो संयमनिर्वाहके समान याने अनुकूल वृत्ति और एकभक्तभोजन है यह नित्यका तपःकर्म है ॥ २३ ॥

अब रात्रिभोजनमें दोष कहते हैं—ये प्रत्यक्षमें त्रस अथवा स्थावररूप जो सूक्ष्म प्राणी हैं उनको रात्रिमें नहीं देखता हुआ साधु शुद्ध आहारको कैसे भोगेगा? ॥ २४ ॥

रात्रिभोजनमें दोष दिखाकर अब रात्रिमें आहार आदि ग्रहण करनेमें दोष दिखाते हैं, जैसे— पानीसे

गीले और बीजोंसे मिले हुए आहारको तथा भूमिपर जो सूक्ष्म प्राणी गिरे हुए हैं उनको दिनमें तो निवारण कर सकता है किन्तु रात्रिमें उन सूक्ष्म जीवोंके विषयमें कैसे चलेगा अर्थात् इनका निवारण किस तरह कर सकता है ? ॥ २५ ॥

ज्ञातपुत्रसे भाषित इस हिंसारूप दोषको और आत्मविराधना आदि अन्यको देखकर साधु सभी प्रकारके आहारोंका लेकर रात्रिभोजनको नहीं करते हैं ॥ २६ ॥

अब छः कायोंमेंसे पृथ्वीकायिक जीवोंकी हिंसाका निवारणरूप सातवाँ स्थान कहते हैं—सुसमाधिवाले साधु मन वचन और शरीरसे तथा तीन प्रकारके करण व योगोंसे पृथ्वीकायिक जीवोंकी हिंसा नहीं करते हैं ॥ २७ ॥

क्योंकि पृथ्वीकी हिंसा करता हुआ जीव उसके आश्रित अनेक प्रकारके त्रस और स्थावर, दृश्य तथा अदृश्य जीवोंकी भी हिंसा करता है ॥ २८ ॥

इसलिये साधु दुर्गतिको बढानेवाले इस हिंसारूप दोषको जानकर जीवनपर्यन्तके लिये पृथ्वीकायिक जीवोंके हिंसामय आरम्भको त्याग देवे ॥ २९ ॥

आठवाँ स्थान—सुसमाधिमान् मुनि मन, वचन और शरीरसे, तीन प्रकारके करण व योगोंसे अप्कायिक जीवोंकी हिंसा नहीं करते हैं ॥ ३० ॥

क्योंकि अप्कायिक जीवोंकी हिंसा करता हुआ वह मुनि उस जलके आश्रित अनेक दृश्य व अदृश्यरूप त्रस और स्थावर प्राणिओंको मारता है ॥ ३१ ॥

इसलिये जलकायिक जीवोंकी हिंसारूप इस दोषको दुर्गति बढानेवाला जानकर मुनि जीवनभरके लिये जलकायके (हिंसात्मक) आरम्भको छोड देवे ॥ ३२ ॥

नववाँ स्थान—साधु पापकारी अग्निको जलाना नहीं चाहते हैं जो कि सभी बाजूसे दुराश्रय अर्थात् चारों ओरसे धारवाला होनेके कारण दुःखसे आश्रयण करनेयोग्य है, व एक प्रकारका तीक्ष्ण (तीखी धारवाला) शस्त्र है ॥ ३३ ॥

फिर—जो अग्नि पूर्वमें अथवा पश्चिममें, दक्षिण तथा उत्तरमें, नीचे तथा ऊपर व विदिशाओंमें भी इस प्रकार सभी तरफसे जलाती है ॥ ३४ ॥

इस प्रकार यह अग्नि जीवोंको आघात पहुंचानेवाली है इसमें सन्देह नहीं है, इसलिये साधु प्रकाशके लिये अथवा तपानेके लिये उस आगका आरम्भ नहीं करते अर्थात् नहीं जलाते हैं ॥ ३५ ॥

इसलिये अग्निके आरम्भसे इस हिंसारूपी दोषको दुर्गति बढानेवाला जानकर, साधु जीवनपर्यन्तके लिये अग्निके आरम्भको छोड देवे ॥ ३६ ॥

दसवाँ स्थान—तीर्थङ्करदेव इस वायुके आरम्भको अग्निके समानही पापकी बहुलतावाला मानते हैं, इसलिये सुसाधुओंने वायुक इस आरम्भको सेवन नहीं किया ॥ ३७ ॥

इसी बातको स्पष्ट कहते हैं—तालवृन्तसे व पत्रसे अथवा वृक्षकी शाखाके हिलानेसे या अन्य वीजनोंसे वे साधु वीजना (हवा खाना) नहीं चाहते हैं, तथा न दूसरोंको बीजाना (हवा खिलाना) भी चाहते हैं ॥ ३८ ॥

जो भी वस्त्र पात्र अथवा कम्बल या रजोहरण[1] आदि उपकरण हैं उनमेंसे किसी एकसे भी वे साधु वायुका संचालन नहीं करते हैं, किन्तु यतनासेंही उन्हें लेते और धारण करते अर्थात् रखते हैं ॥ ३९ ॥

---

१. पादप्रोंछन ।

इसलिये इस दुर्गतिवर्द्धक दोषको जानकर, साधु जीवनपर्यन्तके लिये वायुकायके आरम्भको छोड दे ॥ ४० ॥

ग्यारहवाँ स्थान—उत्तम समाधिवाले जो मुनि हैं वे मन, वाणी और शरीरसे तीन प्रकारके करण व योगोंसे वनस्पतिकायके जीवोंकी हिंसा नहीं करते हैं ॥ ४१ ॥

वनस्पतिकी हिंसा करता हुआ साधु उसके आश्रित अनेक त्रस और स्थावर, दृश्य और अदृश्य जीवोंको मारता है ॥ ४२ ॥

इसलिये इस हिंसारूप दोषको दुर्गतिवर्द्धक समझकर जीवनपर्यन्त साधु वनस्पतिकायके आरम्भको छोड दे याने नहीं करे ॥ ४३ ॥

बारहवाँ स्थान—मन, वचन और कायासे तीन करण व योगोंसे जो त्रसकायकी हिंसा नहीं करते वे साधु उत्तम समाधिवाले हैं ॥ ४४ ॥

त्रसकायकी हिंसा करता हुआ वह साधु उसके आश्रममें रहनेवाले अनेक त्रस, स्थावर, छोटे और बडे जीवोंको भी मारता है ॥ ४५ ॥

इसलिये इस हिंसारूप दोषको दुर्गतिवर्द्धक समझकर साधु जीवनपर्यन्त त्रसकायिक जीवोंकी हिंसा नहीं करे ॥ ४६ ॥

तेरहवाँ स्थान—अकल्पनीय-नहीं लेनेलायक आहार आदि जो चार पदार्थ साधुओंके लिये अग्राह्य हैं उनको विधिपूर्वक छोडता हुआ मुनि संयमकी पालना करे ॥ ४७ ॥

उन चार पदार्थोंको गिनाते हैं—पिण्ड अर्थात् आहार, शय्या अर्थात् स्थान, वस्त्र और चौथा पात्र। इनमें यदि अकल्पनीय हो तो साधु उसको नहीं चाहे और कल्पनीय हो तो ग्रहण करे ॥ ४८ ॥

॥ ५६ ॥

जो साधु नित्य-आमन्त्रित आहार और क्रीत-खरीदा हुआ, औद्देशिक-साधुके लिये किया गया, तथा आहृत-सामनेमें लाकर दिया हुआ, इनमेंसे किसी प्रकारका आहार लेते हैं वे साधु उस आहारके बनानेमें हुई भई हिंसाकी अनुमोदना करते हैं ऐसा महर्षि महावीरने कहा है ॥ ४९ ॥

इसलिये जो आहार-पानी निमन्त्रित, क्रीत, औद्देशिक व सन्मुख लाया हुआ है वैसे आहार-पानीको निश्चल आत्मावाले धर्मजीवी (धर्मके लिये जीनेवाले) साधु छोड देते हैं याने नहीं लेते हैं ॥ ५० ॥

चौदहवाँ स्थान कहते हैं—कांस्य-कटोरे आदिमें वा कांसेके स्थाली आदि पात्रोंमें और मिट्टी आदिके बडे कुण्डोंमें अन्य दोषरहित भी अशन-पान आदि भोगता हुआ साधु साधुके आचारोंसे गिर जाता है ॥ ५१ ॥

इसमें कारण बताते हैं—कच्चे-सचित्त पानीसे पात्र आदिको धोनेरूप आरम्भमें व पात्रोंको धो चुकनेपर बचे हुए पानीको कुंडे आदिमें गिरानेमें जिसलिये जीव मारे जाते हैं, उस कारणसे गृहस्थके पात्रोंमें भोजन करनेसे केवलज्ञानिओंने उन अप्कायादि जीवोंका पूर्वोक्त (गृहस्थके पात्रमें भोजन करनेवाले साधुओंके लिये) असंयम देखा है ॥ ५२ ॥

सिवाय इसके गृहस्थके पात्रोंमें आहार करनेसे कदाचित् पश्चात्कर्म-भोजन करनेके बाद सचित्तका आरम्भ हो, अथवा पुरःकर्म-आहार करनेसे पहलेही सचित्तका आरम्भ हो चुका हो जो कि नहीं कल्पता है, इसलिये साधु गृहस्थके पात्रोंमें आहार-पानी नहीं करते हैं ॥ ५३ ॥

पंद्रहवाँ स्थान—आर्य साधुओंको गृहस्थोंकी आसन्दी और पलङ्ग तथा मञ्चपर, ऐसेही टेककर बैठने-योग्य आसन सिंहासन, कुर्सी आदिपर बैठना या सोना योग्य नहीं है ॥ ५४ ॥

इसीमें अपवाद कहते हैं—तीर्थङ्करके वचनोंपर निर्भर रहनेवाले साधु अच्छी तरह देखे विना आसन्दी और पलङ्गपर नहीं बैठते हैं तथा निषद्या व बेंतके बूने हुए पीठपर भी नहीं बैठते हैं ॥ ५५ ॥

ये पहले कहे गए आसन्दी आदि जीवोंके लिये गम्भीर याने प्रकाशरहित आश्रयवाले होते हैं, इससे इनमें रहनेवाले छोटे २ जीव कठिनाईसे देखे जाते हैं। इसलिये आसन्दी और पलङ्ग साधुओंसे छोडे हुए हैं अर्थात् आसन्दी व पलङ्गपर साधु नहीं बैठते हैं ॥ ५६ ॥

सोलहवाँ स्थान—गोचरीमें गया हुआ जो साधु गृहस्थके घरमेंही निषद्या करता अर्थात् बैठता है वह मिथ्यात्वरूप फलवाले ऐसे अनाचारको पाता है ॥ ५७ ॥

गृहस्थके घरमें बैठनेसे अनाचार दिखाते हैं—गृहस्थके यहाँ बैठना आज्ञाभङ्गके कारण साधुके आचाररूप ब्रह्मचर्यकी विपत्ति याने नाशका कारण है और आधाकर्म आदिमें प्राणिओंके वधसे संयमकी घात होती है तथा याचकोंको बाधा पहुंचती है व गृहस्थोंको भी प्रतिकूल वार्तालाप आदिसे उसपर क्रोध आता है ॥ ५८ ॥

फिर—घरोंमें बैठनेसे वहांके विकारी वातावरणके कारण ब्रह्मचर्यकी अगुप्ति अथवा स्त्रियोंकी ओरसे भी शङ्का उत्पन्न होती है, इस प्रकार कुशीलको बढानेवाले इस स्थानको मुनि दूरसेही छोड दे ॥ ५९ ॥

अपवाद कहते हैं—वृद्धावस्थासे घिरा हुआ अर्थात् अत्यन्त वृद्ध अथवा व्याधिसे दुःखी या तपस्वी इन तीनमेंसे जिस किसीको विशेष अशक्तिके कारण गृहस्थके घरमें बैठना कल्पता है अर्थात् वैसा साधु बैठ सकता है ॥ ६० ॥

सत्रहवाँ स्थान—रोगी अथवा रोगरहित जो साधु स्नान करना चाहता है उस साधुका आचार भ्रष्ट होता है और अप्कायिक आदि जीवोंकी हिंसाके कारण संयम भी जाता है ॥ ६१ ॥

स्नानमें प्राणिरक्षारूप संयमकी हानि बताते हैं—पोली भूमिमें या भूमिकी रेखा याने दरारोंमें जो ये द्वीन्द्रियादि सूक्ष्म प्राणी हैं उन जीवोंको प्रासुक पानीसे भी नहाता हुआ साधु बहा देता या डुबा देता है ॥ ६२ ॥

इसलिये वे संयमी साधु प्राणिओंकी रक्षाके लिये ठण्ढे या गरम पानीसे स्नान नहीं करते हैं, किन्तु जीवनपर्यन्त स्नान नहीं करनेरूप कठिन व्रतको पालनेवाले होते हैं ॥ ६३ ॥

स्नानको अथवा चन्दन आदि कल्क या लोध्र नामक सुगन्धि द्रव्यको और कुङ्कुम, केसर वा इसके समान अन्य किसी सुगन्धि द्रव्यको शरीरपर उवटन व लेपन करनेके लिये साधु कभी भी उपयोगमें नहीं लेते हैं ॥ ६४ ॥

अठारहवाँ स्थान—जो साधु अल्प (श्वेत प्रमाणोपेत) वस्त्रधारी अथवा नग्न–जिनकल्पी हैं तथा द्रव्य-भावसे मुण्डित रहते हैं और बढे हुए नख व केश रखते हैं, मैथुनभावसे उपशान्त–दूर रहनेवाले वैसे साधु-ओंको शरीर आदिकी शोभासे क्या करना है ? ॥ ६५ ॥

शरीरकी शोभा करनेवाला साधु उस शोभाके लिये चिकने कर्मको बांधता है जिससे वह दुःखसे तैरने-योग्य घोर संसारसागरमें गिरता है ॥ ६६ ॥

तीर्थङ्करदेव विभूषा निमित्तक चित्तको विभूषाके जैसा दोषी मानते हैं, इसलिये दोषोंसे पूर्ण इस विभूषाको स्वपरके रक्षक साधुओंने सेवन नहीं किया है ॥ ६७ ॥

फल कहते हुए उपसंहार करते हैं—मोहरहित यथार्थ देखनेवाले, तथा संयम और सरलतारूप गुणवाले, विशुद्ध तपमें लगे रहनेवाले साधु अनुपशान्त आत्माको निर्मल भावनासे खपाते हैं अर्थात् विशुद्ध करते हैं, वे महात्मा पूर्वके सञ्चित कर्मोंको अलग करते हैं और नवीन कर्मोंका संग्रह नहीं करते ॥ ६८ ॥

जो साधु सदा उपशान्त तथा ममत्वरहित और धनधान्य आदि बाह्य आभ्यन्तर परिग्रहसे विरत हैं तथा परलोकके लिये उपकारक स्वविद्यासे युक्त व यशस्वी हैं, वे षट्कायके रक्षक मुनि शरद् ऋतुमें निर्मल चन्द्रकी तरह चमकते हुए कर्ममलसे रहित सिद्धिगति या देव–विमानोंको प्राप्त करते हैं ॥ ६९ ॥ गुरु–ऐसा मैं कहता हूँ । इति ।

॥ धर्मार्थकामाध्ययन नामका छट्ठा अध्ययन समाप्त ॥



॥ सातवाँ अध्ययन ॥



इस अध्ययनका पूर्वसे सम्बन्ध इस प्रकार है—

भिक्षामें गया हुआ साधु जनताके पूछनेपर वहाँही विस्तारसे साधुके आचारोंको नहीं कहे, किन्तु जहाँ ठहरा हो वहाँ आकर कहे, ऐसा छट्ठे अध्ययनमें वर्णन किया गया है, यहाँ तो निवासस्थानमें आकर भी साधु भाषासमितिपूर्वकही कहे, इसलिये सातवें अध्ययनमें भाषाकी शुद्धि बताते हैं—

बुद्धिमान् साधु चारोंही भाषाओंके स्वरूपको अच्छीतरह जानके सत्य और व्यवहार इन दो भाषासेही शुद्ध प्रयोगरूप विनयको सीखे, तथा शेष दो भाषाओंको सर्वथा नहीं बोले ॥ १ ॥

नहीं बोलनेलायक भाषाका स्वरूप बताते हैं—जो भाषा सत्य किन्तु पीडाकारी होनेसे अवक्तव्य-नहीं बोलनेयोग्य है और जो मिश्र-झूंठ सांच मिली हुई या मिथ्या-बिल्कुल झूंठ भाषा है, तथा तत्त्वज्ञ तीर्थङ्करोंने जिस भाषाका प्रयोग नहीं किया है, उस भाषाको प्रज्ञावान् साधु नहीं बोले ॥ २ ॥

कैसी भाषा वक्तव्य है? इस बातको कहते हैं—बुद्धिमान् साधु असत्यामृषा-जो झूंठ सांच दोमेंसे एक भी नहीं अर्थात् व्यवहार-भाषा और सत्य भाषाको बोले, वह व्यवहार तथा सत्य भाषा भी पापरहित अकर्कश-कोमल हो, उसको अच्छी तरह विचारके सन्देहरहित बोले॥ ३ ॥

मिश्रभाषाका निषेध करते हैं—वह धीर साधु पूर्वोक्त सावद्य व कर्कश विषयको अथवा ऐसा अन्य जो अर्थ शाश्वत याने सदाकालस्थायी मोक्षको प्रतिकूल (उलट) करता हो ऐसे अर्थको लेकर साधु उस व्यवहार और सत्य भाषाको भी नहीं बोले ॥ ४ ॥

इस समय मृषा भाषासे बचनेके लिये कहते हैं—जो असत्य सत्यके समान रूपवाला है जैसे स्त्रीरूप-धारी पुरुषको स्त्री कहने आदि, उस भाषाको भी जो मनुष्य बोलता है, वैसी बात बोलनेसे पहलेही वह वक्ता पापसे युक्त हो जाता है, फिर जो छूटतेही झूंठ बोलता है उसके लिये तो कहनाही क्या ? ॥ ५ ॥

जिसलिये तथामूर्ति-सत्यकी समानरूपवाला वितथ भी पापका कारण है इसलिये हम कल अवश्य जावेंगे, वा अवश्य बोलेंगे अथवा कल हमारा यह कार्य होगाही या मैं इस कार्यको जरूर करूंगा अथवा यह साधु हमारी सेवा अवश्य करेगा ॥ ६ ॥

इसप्रकारकी जो भाषाएँ भविष्यकालमें शङ्कायुक्त हैं अथवा वर्तमानकालके लिये तथा भूतकालके लिये जो पदार्थ शङ्कायुक्त हैं, धीर साधु उस शङ्कायुक्त भाषाको भी छोड दे-निश्चयरूपसे नहीं बोले ॥ ७ ॥

भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालमें जिस पदार्थको अच्छी तरह नहीं जाने उस विषयमें यह ऐसाही है इस तरह साधु (अवधारणी भाषा) नहीं बोले ॥ ८ ॥

ऐसेही भूत, भविष्य व वर्तमान कालमें जिस विषयपर शङ्का हो उसको भी यह ऐसाही है इस तरह साधु नहीं कहे ॥ ९ ॥

जैसा कहे वह दिखाते हैं—भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालमें जो पदार्थ शङ्कारहित हो अर्थात् जिस पदार्थमें किसी तरहकी शङ्का नहीं हो उसको यह ऐसाही है इसतरह कहे ॥ १० ॥

इसी प्रकार—जो भाषा निष्ठुर-कठोर हो तथा बहुतसे जीवोंकी घातक हो वैसी भाषा जिससे पापका बन्ध होता है वह सत्य भी हो तो नहीं बोलना चाहिये ॥ ११ ॥

उदाहरण देकर इस विषयको स्पष्ट करते हैं—इसी प्रकार कानेको काना अथवा नपुंसकको यह नपुंसक है ऐसा नहीं कहे, ऐसेही रोगीको भी रोगी व चोरको चोर ऐसा नहीं कहना चाहिये ॥ १२ ॥

इस अर्थसे अथवा इसी तरहके दूसरे अन्य अर्थोंसे जिनसे कि दूसरा जीव पीडित होता है साधु-सम्बन्धी आचारके दोषोंको जाननेवाला बुद्धिमान् साधु उन अर्थोंको नहीं बोले ॥ १३ ॥

इसी प्रकार हे होल-मूर्ख वा हालिक, गोल-गोला (जारज) ऐसा, अथवा श्वान या वसुल इस प्रकार और द्रमक-दरिद्र व दुर्भग-भाग्यहीन (ये होल गोल आदि देशभेदसे गालीकी तरह बोले जाते हैं); प्रज्ञावान् साधु इस तरहके वचन नहीं बोले ॥ १४ ॥

अब स्त्री पुरुषके विभागरूपसे अवाच्य (नहीं बोलनेयोग्य) वचनको कहते हैं—हे आर्यिके[1] ! अथवा प्रार्यिके[2] ! हे अम्ब ! और हे मौसी ! ऐसा भी, अथवा हे भूआ ! हे भानजी ! वा हे पुत्री ! और हे पौत्री ! ऐसा— ॥ १५ ॥

तथा—हे हले ! हले ! ऐसा, अथवा अन्ने ! व भट्टे ! ऐसा, स्वामिनि ! गोमिनि ! होले ! गोले ! वसुले ! इस प्रकारके शब्दोंसे स्त्रीको नहीं पुकारे ॥ १६ ॥

अब जिस तरह बोले उस बातको दिखाते हैं—किसी कारणसे स्त्रीसे बोलना हो तो उसका नाम लेकर या फिर वह स्त्री जिस गोत्रकी हो उस गोत्रसेही संबोधनकर बोले (पुकारे) यथायोग्य बाल वृद्ध आदि काल व सौराष्ट्र वगैरह देशका विचार कर साधु उसके अनुसारही प्रयोजनसे थोडा एकवार या खास कारणसे अधिक बोले ॥ १७ ॥

अब पुरुषके विषयमें कहते हैं—हे आर्यक अथवा प्रार्यक ! बप्प-बाप ! और पितृव्य ! ऐसा, तथा मातुल ! भागिनेय-भानेज ! ऐसा, तथा पुत्र ! पौत्र ! इस प्रकारके भी सांसारिक सम्बन्धोंसे मुनि नहीं बोले ॥ १८ ॥

१. माता व पिताकी मा याने दादीको आर्यिका कहते हैं । २. उसकी भी माता प्रार्यिका कहाती है ।

हे भो ! हल ! ऐसा, या अन्न ! भट्ट ! स्वामिन् ! गोमिन् ! इस प्रकारके अथवा होल ! गोल ! वसुल ! इस तरहके अनुचित (नीचे) शब्दोंसे साधु किसी पुरुषको नहीं पुकारे-बोले ॥ १९ ॥

अब जिस प्रकार बोले उस प्रकारको बताते हैं—जिससे बोलना है उसके नामको कहकर अथवा वह पुरुष जिस गोत्रका है उस गोत्रसे यथायोग्य देशकाल गुण आदिका विचार कर साधु प्रयोजनसे एकवार या अनेकवार बोले ॥ २० ॥

अब पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चकी अपेक्षा बोलनेकी विधि कहते हैं—गो आदि पञ्चेन्द्रिय प्राणिओंके विषयमें जबतक ऐसा निश्चय न हो जाय कि यह स्त्रीलिङ्गी है या पुलिङ्गी या नपुंसकलिङ्गी है, तबतक प्रयोजन होनेपर उसे जातिवाचक शब्दसे याने यह अमुक जातिका पशु है (जैसा कि—गोजातीय, अश्वजातीय इत्यादि) ऐसा बोले ॥ २१ ॥

इसी तरह मनुष्यको, पशुको, पक्षीको या पेट व भुजाओंसे ससरके चलनेवाले सरीसृप जीवको लक्ष्यकर (देखकर), यह मनुष्य खूब मोटा है अथवा यह पशु आदि बहुत मेद-चरबीवाला है तथा यह सर्प आदि मारनेलायक है, और सिझाने-पकानेलायक है, मुनि ऐसे सावद्य वचन नहीं बोले ॥ २२ ॥

अगर किसी प्रकरणके चलते बोलनाही पडे तो इसतरह बोले—पूर्वकथित स्थूल मनुष्य आदिको देखकर ऐसा कहे कि यह सबतरहसे बढाचढा, बलसम्पन्न और मांससे उपाचित है, तथा संजात वा प्रीणित (प्रसन्न) एवं विशाल शरीरवाला है ऐसा बोले ॥ २३ ॥

फिर नहीं बोलनेयोग्य भाषाके प्रकारकोही कहते हैं—इसी प्रकार ये गाएँ दूहनेयोग्य हैं, और ये कल्होड (जवान बछडे) दमन करनेयोग्य हैं, तथा ये बैल रथमें वहनेयोग्य हैं, इस तरहके वचनोंको बुद्धिमान् साधु नहीं बोले ॥ २४ ॥

॥ ६३ ॥

किस प्रकारसे बोलना चाहिये? इस बातको दिखाते हैं—दम्य-दमन करनेयोग्य बैलको जवान बैल है ऐसा कहे, और धेनुको रस देनेवाली है ऐसा कहे, छोटे बैलको ऱ्हस्व और बडेको महल्लक व रथमें वहनेयोग्यको संवहनीय-अच्छा वहनेयोग्य है ऐसा कहे ॥ २५ ॥

इसी प्रकार उद्यान, पर्वत और वनोंमें जाकर वहाँ बडे वृक्षोंको देखकर बुद्धिमान् साधु इस आगे कहे प्रकारसे नहीं बोले ॥ २६ ॥

जैसे—ये वृक्ष प्रासाद व स्तम्भोंके योग्य हैं तथा तोरण और घरके व परिघा अर्गला व नौकाके, ऐसेही उदकद्रोणी अर्थात् प्राचीन जलयन्त्र-जिसको अरहट्ट कहते हैं-इन सबके लिये योग्य हैं ॥ २७ ॥

फिर—पीठ-छोटा पाटा और चंगबेरा-काष्ठपात्रविशेष व हल अथवा मयिक याने जोते हुए क्षेत्रोंको सम-सपाट बनानेके लिये लम्बी लकडी, या यन्त्रयष्टि अर्थात् घानी आदिके खंभे, अथवा नाभी-बैलगाडीके चक्रका मध्यभाग व गंडिका-सोनारोंके चांदी आदि कूटनेके लिये आधारकाष्ठ (एरण) इत्यादि चीजें बनानेको ये वृक्ष योग्य हैं (ऐसा प्रज्ञावान् साधु नहीं बोले) ॥ २८ ॥

इसी प्रकार आसन्दक आदि आसन, पलङ्ग आदि शय्या और रथ आदि यान इन वृक्षोंसे होंगे, अथवा उपाश्रयमें इनका कुछ उपयोग होगा इस तरहकी जीवोंके उपघात करनेवाली भाषाको प्रज्ञावान् साधु नहीं बोले ॥२९॥

अब प्रयोजन होनेपर बोलनेका तरीका बताते हैं—वैसेही पूर्वोक्त रीतिसे उद्यान, पर्वत और वनमें जाकर व बडे वृक्षोंको देखकर प्रज्ञावान् साधु प्रयोजनसे इस प्रकार बोले ॥ ३० ॥

ये वृक्ष उत्तम जातिमान् हैं, दीर्घ-नालिकेर आदिकी तरह लम्बे व नन्दिवृक्ष आदिके समान वृत्त-गोल हैं, अधिक विस्तारवाले और छोटी बडी शाखावाले हैं, तथा शाखा प्रशाखा आदिसे दर्शनीय हैं ऐसा बोले ॥३१॥

इसी प्रकार आम्र आदि ये फल पके हुए हैं, या पकाकर खानेयोग्य हैं ऐसा नहीं बोले, तथा अधिक

पक जानेसे काटनेलायक हैं, इससे अधिक समयको ये नहीं सह सकते, अभीतक ये कोमल तथा दो भाग करनेयोग्य हैं इस प्रकार साधु नहीं बोले ॥ ३२ ॥

अगर साधुको रास्ता आदि दिखाना हो तो इस तरह बोले—ये आम्र (आदि) वृक्ष फलोंके भारको उठानेमें असमर्थ हैं, तथा पके हुए फलोंकी अधिकतावाले हैं, तथा फल भी निष्पन्नपाक और अधिक हैं, पाकसम्पन्न होनेसे इन फलोंका ग्रहणकाल नजदीक है, अथवा इन फलोंमें अभी गुठलियाँ नहीं बंधी हैं, मुनि इस प्रकार निरवद्य भाषा बोले ॥ ३३ ॥

इसी तरह ये शालि आदि औषधियाँ पक चुकी हैं, और चवले आदिकी ये फलियाँ नीली कान्तिवाली हैं तथा ये धान्य आदि काटनेयोग्य वा भूननेलायक हैं ऐसा, व ये अग्निमें सेककर छानी आदिके रूपसे (अधपके शालि आदिको सेकके भुट्टेरूपसे) खानेयोग्य हैं ऐसा नहीं बोले ॥ ३४ ॥

रास्ता दिखाना आदि कारण होनेपर जिस तरह बोलना चाहिये उसे कहते हैं—ये धान्य अङ्कुररूपसे ऊग चुके हैं, निष्पन्नप्राय व स्थिर हो चुके हैं, तथा बाधाओंसे भी निकल चुके हैं, और गर्भित याने अभी कंसेबाहर नहीं निकले या निकले हुए हैं तथा चावल आदि बीजरूप सारसे सम्पन्न हैं, इस तरह निरवद्य भाषा बोले ॥ ३५ ॥

इसी तरह संखडी[1] क्रिया देव पितृ आदिके लिये करनी चाहिये ऐसा नहीं बोले अथवा चोरको भी समझकर यह वध्य है ऐसा नहीं बोलना चाहिये और यह नदी तैरनेलायक है या नहीं? ऐसा किसीके पूछनेपर यह नदी सुतर है या दुस्तर–दुःखसे तैरनेयोग्य है ऐसा नहीं कहे ॥ ३६ ॥

१. जहाँपर जीवोंकी आयु खंडित होती है, वैसे आरम्भप्रधान जीमनवारको संखडी कहते हैं।

प्रयोजन होनेसे इस तरह बोले—संखडीको संकीर्ण संखडी व चोरको प्राणोंको बदलेमें रखकर व्यवहार करनेवाला ऐसा कहे, और नदिओंके सम्बन्धमें साधु साध्वीको प्रयोजन होनेपर ऐसा कहे कि इस नदीके तीर्थ बहुत समतलवाले हैं ॥ ३७ ॥

इसी तरह ये नदियाँ जलसे भरी हुई हैं, या शरीरसे तैरकर पार करनेयोग्य हैं ऐसा भी नहीं कहे, (क्योंकि भरी हुई समझकर लोग भयके कारण धर्म श्रवण करनेसे निवृत्त होंगे तथा तैरनेयोग्य सुनकर साधुके वचनसे अपना तैरना निर्विघ्न समझकर लोग तैरनेमें प्रवृत्त हो जावेंगे), ऐसेही नौकासे पार करनेयोग्य हैं इस प्रकार वा तटपर बैठकर हाथसे या प्राणिओंसे इनका पानी पीनेयोग्य है ऐसा भी नहीं कहे ॥ ३८ ॥

किन्तु जिस प्रकार कहे उसे दिखाते हैं—ये नदियाँ बहुत भरी हैं, तथा अगाध याने प्रायः गम्भीर हैं, दूसरी नदिओंके पानीको पीछे बहानेवाली याने प्रबल वेगवाली हैं और बहुत विस्तृत जलराशिसे युक्त भी हैं, बुद्धिमान् साधु प्रयोजनसे इस प्रकार बोले ॥ ३९ ॥

वचनसम्बन्धी विधि व प्रतिषेधके प्रकरणमेंही फिर कहते हैं—ऐसेही दूसरोंके लिये किये हुए अथवा किये जाते हुए या भविष्यमें किये जानेवाले सावद्य-पापयुक्त व्यापारको जानकर मुनि उसके सम्बन्धमें सावद्य वचन नहीं बोले ॥ ४० ॥

इसी प्रकार किये हुए सभा आदि सावद्य कार्योंको अच्छा किया ऐसा नहीं कहे, सीझे हुएको यह अच्छा सीझा या पका हुआ है ऐसा नहीं कहे, कटे हुए वन आदिको यह अच्छी तरह कटा है, तथा हरण किये धन आदिके लिये यह कंजूसोंका धन अच्छा लिया और यह शत्रु मरा अच्छा हुआ, धनाभिमानीका धन खूब खतम (समाप्त) किया, व यह लडकी अच्छी सुन्दर है, इत्यादि सावद्य वचनोंको साधु त्याग देवे अर्थात् नहीं बोले ॥ ४१ ॥

पूर्वोक्त वचनही निरवद्य हो तो बोले, जैसे—इस साधुने वेयावच्च (व्यावच-सेवा) अच्छी की व इस मुनिका ब्रह्मचर्य सुपक्व-अच्छा पका है, तथा सुच्छिन्न-इस साधुने स्नेहबन्धनको ठीक काट लिया, और शिष्य आदिके अज्ञानका इस मुनिने अच्छा हरण किया, वह साधु पण्डित-समाधि मरणसे अच्छा मरा, प्रमादरहित इस मुनिका कार्य अच्छा समाप्त (कर्मसमूह अच्छा नष्ट) हुआ तथा इस साधुकी क्रिया अच्छी है। मुनि इस प्रकारके निरवद्य वचन बोले।

कहे गए या समझे गए निषेधोंका अपवाद कहते हैं—यदि ग्लान आदिके लिये चाहता हो तो पकी हुई वस्तुको यह प्रयत्नसे पकाई गई है ऐसा कहे, तथा काटे हुए पदार्थको यह प्रयत्नसे काटा गया है ऐसा कहे, ऐसेही यह लडकी प्रयत्नसे सुन्दरी बनाई गई है यदि दीक्षा लेवे तो अच्छी तरह सम्हालनेयोग्य होगी अथवा कृतादि ये सभी व्यापार कर्मके हेतु हैं, इसी प्रकार किसीके शरीरपर गाढ प्रहार(घाव)को देखकर यह प्रहार सहज नहीं, गहरा है, ऐसा बोले, इससे अप्रीति आदि दोषोंका बचाव होता है ॥ ४२ ॥

कहीं व्यवहार आदिमें किसीके पूछनेपर या विनापूछे मुनि ऐसा नहीं बोले—इन चीजोंके बीचमें यह वस्तु सबसे अच्छी या बहुत ऊंचे कीमतकी है, अथवा यह चीज अनुपम है, इसके जैसी दूसरी कोई चीज हैही नहीं, यह चीज अच्छी नहीं होनेसे खरीदनेयोग्य नहीं है और अनन्तगुण व अनन्तपर्याय होनेसे यह अवक्तव्य है (बोलनेलायक नहीं है), अथवा यह वस्तु अप्रीतिकारी है ऐसा नहीं बोले ॥ ४३ ॥

किसीके कुछ सन्देश आदि कहनेपर—मैं इन सभी बातोंको उससे कहूँगा, और इसी प्रकार तुम भी यह सब कह देना ऐसा नहीं बोले, क्योंकि किसीकी कही हुई बात स्वर व्यञ्जन पद आदिसे ज्योंकी त्यों नहीं कही जासकती, इसलिये ऐसा कहना अनुचित है, जिसलिये ऐसी बात है इसलिये प्रज्ञावान् साधु सभी जगह सब बातोंको अच्छी तरह विचार कर ऐसा बोले कि जिससे कहीं भी मृषावाद आदि किसी तरहका सावद्य दोष नहीं लगे ॥ ४४ ॥

फिर कोई चीज खरीदकर किसीके दिखानेपर यह अच्छी खरीदी, इसीतरह बची हुई चीजको अच्छा किया यह वस्तु बेच दी ऐसा नहीं बोले, ऐसेही खरीदते हुए कोई पूछे कि यह चीज कैसी है ? इसपर ऐसा कहना कि यह चीज तो खरीदने लायकही नहीं है अथवा यह चीज तो जरूर खरीदनेलायक है, इसीतरह यह गुड आदि किराना आगामी कालमें महँगा बिकेगा इसलिये इसको लो, और यह घी आदि सस्ता बिकेगा इसलिये इसको छोड दो या बेच दो, मुनि ऐसा पण्य वस्तुके बारेमें नहीं बोले ॥ ४५ ॥

चीज चाहे सस्ती हो या महँगी हो खरीदनेलायक हो अथवा बेचनेलायक हो, (खरीदनेमें या बेचनेमें भी) किरानेके लिये प्रयोजन उत्पन्न होनेपर अर्थात् गृहस्थके पूछनेपर मुनि निरवद्य याने पापरहित इस प्रकारके वचन बोले कि हमारे जैसे तपस्विओंको इस विषयमें कहनेका अधिकारही नहीं है ॥ ४६ ॥

इसी तरह धीर प्रज्ञावान् साधु किसीभी असंयमी पुरुषको यहाँ बैठो, इधर आओ, या इस कार्यको करो, यहाँ सोओ, कुछ खडे रहो, व गाँवको जाओ इत्यादि, ऐसी सावद्य व आदेशकारी बात नहीं बोले ॥ ४७ ॥

ये बहुतसे आजीवक आदि असाधु लोकमें साधु कहे जाते हैं, मुनि वैसे असाधुको साधु ऐसा नहीं कहे, किन्तु साधुकोही साधु ऐसा कहे ॥ ४८ ॥

कैसेको साधु कहे यह दिखाते हैं—जो ज्ञान व दर्शनसे सम्पन्न और संयम व तपमें लगे हों, इस प्रकारके सद्‌गुणोंसे सुशोभित ऐसे संयमिओंकोही साधु कहे ॥ ४९ ॥

देवोंके या मनुष्योंके अथवा तिर्यञ्चोंके विग्रह-लडाईमें फलानेकी विजय हो अथवा फलानेकी विजय नहीं हो ऐसा नहीं बोले ॥ ५० ॥

मलय आदि पवन और बारिस अथवा ठंढी व गर्मी वा क्षेम-कुशल सुभिक्ष आदि हैं, अथवा शिव-उपसर्गकी शान्ति ये सब कब होंगे अथवा नहीं होंगे ऐसा नहीं बोले ॥ ५१ ॥

इसीप्रकार मेघको लेकर या आकाशको अथवा मनुष्यको लेकर यह देव यह देव ऐसी भाषा नहीं बोले, किस तरह कहना यह दिखाते हैं—बादलको आकाशमें चढा देखकर यह बादल बहुत चढा हुआ या समुन्नत है अथवा यह मेघ बरस चुका है ऐसा बोलना ॥ ५२ ॥

फिर—आकाशको अन्तरिक्ष और सुरोंसे सेवित है ऐसा कहे, इसी तरह सम्पत्तिमान् पुरुषको देखकर यह धनी है इस प्रकार बोले ॥ ५३ ॥

इसी तरह जो भाषा पापकी अनुमोदना करनेवाली है, जैस कि—यह ग्राम अच्छा नष्ट किया गया आदि, और जो अवधारिणी–निश्चयकारिणी भाषा है, जैसे कि—यह बात तो ऐसीही है, अथवा जो दूसरोंको उपघात (कष्ट) करनेवाली है उस भाषाको क्रोधसे, लोभसे, भयसे अथवा परिहाससे (या मानस अथवा प्रेमसे) या हंसता हुआ भी साधु नहीं बोले ॥ ५४ ॥

शुद्ध भाषा बोलनेसे ऐहिक फल कहते हैं—अपने वाक्योंकी शुद्धिको अथवा सद्वाक्यशुद्धिको अच्छी तरह देखकर जो साधु सदा सदोष भाषाको त्याग देता है और शब्द व स्वरसे परिमित तथा देशकाल आदिसे दोषरहित ऐसी शुद्ध भाषाको बोलनेवाला वह साधु साधुओंके (सज्जनोंके) बीच प्रशंसाको प्राप्त करता है ॥ ५५ ॥

उपसंहार करते हुए कहते हैं—जो भाषाके दोषोंको और गुणोंको जानकर उसमें दुष्ट भाषाको छोडनेवाला और षड्जीवनिकायमें संयम रखनेवाला है, तथा श्रामण्य–साधुभावमें सदा यतन करनेवाला है, वह बुद्ध–बोधवान् साधु हितकारी तथा मनोहर–सबके अनुकूल वचन बोले ॥ ५६ ॥

फलनिर्देशपूर्वक अध्ययनकी समाप्ति करते हैं—परीक्षा करके बोलनेवाला तथा जितेन्द्रिय और क्रोध मान माया लोभरूप चार कषायोंसे दूर रहनेवाला तथा द्रव्यभाव इन दोनों प्रतिबन्धोंसे रहित ऐसा वह साधु

पूर्वजन्मके अथवा पूर्वकालके किये पापोंको हटाकर इसलोक तथा परलोक उभयकी आराधना करलेता है ॥ ५७ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ । इति ।

॥ वाक्यशुद्धि नामका सातवाँ अध्ययन समाप्त ॥



॥ आठवाँ अध्ययन ॥



अब आचारप्रणिधि नामका आठवाँ अध्ययन शुरू होता है। इस अध्ययनका गत सातवें अध्ययनसे ऐसा सम्बन्ध है—सातवें अध्ययनमें ऐसा कह आए हैं कि मुनिओंको वचनके गुणदोषोंका जानकार होकर निर्दोष भाषा बोलना चाहिये याने उनको भाषाशुद्धि करनी चाहिये। वैसी निरवद्य भाषा आचारमें लगे रहनेवालोंकीही हो सकती है, इसलिये साधुको आचारमें यत्नवान् होना चाहिये। उस आचारका इस अध्ययनमें वर्णन किया गया है, इसी सम्बन्धसे यह आचारप्रणिधि नामका आठवाँ अध्ययन आता है। उसका आदिसूत्र यह है—

आचारप्रणिधि-साधुके आचारमें शरीर आदि योगोंकी प्रवृत्तिको पाकर साधुओंको जिस प्रकारसे कर्तव्य करना चाहिये उस प्रकारको आपलोगोंके लिये कहूँगा। हे मेरे शिष्यों! आपलोग मेरेसे आनुपूर्वीसे-क्रमवार सुनो ॥ १ ॥

उस प्रकारको कहते हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और बीजसहित वनस्पति, इसतरह ये पाँच एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय आदि त्रसप्राणी ये सब जीव हैं ऐसा महर्षि महावीरने कहा है ॥ २ ॥

उन पृथ्वीकायिक आदि जीवोंके लिये साधुको सदा मन वचन व शरीर इन तीनोंके योगसे अहिंसक व्यापारवाला होना चाहियें, क्योंकि इसतरह अहिंसामें वर्तमान साधुही संयमी होता है ॥ ३ ॥

सुसमाधिवाला संयमी साधु तीन करण व तीन योगसे शुद्ध पृथिवीको, भित्ति अर्थात् दिवाल अथवा नदी आदिके तटको, तथा शिला और लेष्टु-ईंटोंके टुकडोंको न स्वयं तोडे और नहीं घिसे ॥ ४ ॥

शुद्ध पृथिवी अर्थात् सजीव पृथिवीके ऊपर साधु नहीं बैठे और सचित्त धूलिसे भरे हुए आसनपर भी नहीं बैठे; अचित्त भूमिपर अगर बैठना हो तो भूमि और आसनको यतनासे अच्छी तरह पूंजकर तथा भूमिके स्वामीसे आज्ञा लेकर फिर बैठे ॥ ५ ॥

पृथिवीकायिक जीवोंकी यतना कह चुके, अब अप्कायिक जीवोंकी यतना कहते हैं—संयमी साधु सचित्त जलको काममें नहीं लेवे, तथा बारिसमें गिरे हुए ओलेको, बारिसके पानीको तथा बर्फको व इस प्रकारके ओस आदि अन्य सचित्त पानीको भी सेवन नहीं करे, किन्तु जो तपाकर प्रासुक हुआ है ऐसे गरम पानीको व सौवीर आदि अचित्त धोवनपानीको ग्रहण करे ॥ ६ ॥

नदी पार किया हुआ अथवा भिक्षामें जाकर बरसातमें भीजा हुआ साधु पानीसे गीले अपने शरीरको वस्त्र आदिसे नहीं पोंछे, अथवा हाथसे स्पर्श भी नहीं करे; और तो क्या ? उसतरह भीजे हुए शरीर आदिको देखकर साधु तनिक संघट्टन भी नहीं करे ॥ ७ ॥

अप्कायकी विधि कहचुके, अब अग्निकायके विधिको कहते हैं—ज्वालारहित अङ्गारको अथवा लोहके गोलेमें धधकती हुई निर्धूम अग्निको, अर्चि-जडसे टूटी हुई ज्वालाको, अथवा अलात-जलते उल्मुकोंको याने काष्ठके अग्रभागपर लगी हुई अग्निको साधु उत्तेजन करे नहीं, संघट्टन करे नहीं, सुलगावे नहीं तथा उसको बुझावे नहीं ॥ ८ ॥

अग्निकायविधि कहचुके, अब वायुकायिक विधिको कहते हैं—तालके पंखेसे अथवा कमल आदिके पत्तेसे या वृक्षकी शाखासे अथवा किसी साधारण व्यजन(पंखे)से अपने शरीरको हवा करे नहीं अथवा किसी बाहरी पुद्गल-गरम पानी, दूध या आहारको भी हवा करे नहीं ॥ ९ ॥

वायुकायकी विधि कहकर अब वनस्पतिकायकी विधिको कहते हैं—तृणोंको अथवा कदम्ब आदि वृक्षोंको नहीं काटे, अथवा किसी वृक्षके फल, मूल व पत्ते आदिको नहीं तोडे (काटे), ऐसेही जो शस्त्र आदिसे निर्जीव नहीं बने हैं ऐसे अनेक प्रकारके बीजोंको साधु मनसे भी नहीं चाहे ॥ १० ॥

फिर—गहन अर्थात् लताकुञ्जोंमें नहीं ठहरे, तथा फैलाये गए धान्य आदिके बीजोंपर और हरित-तृणादिपर नहीं बैठे, ऐसेही अनन्तकाय सचित्त जलपर अथवा उत्तिङ्ग[1]पनकपर भी साधु नहीं बैठे ॥ ११ ॥

वनस्पतिकायविधि कहकर अब त्रसकायविधिको कहते हैं—सब जीवोंमें उपरत-हिंसासे अलग रहनेवाला साधु त्रसप्राणी-द्वीन्द्रियादि जीवोंकी वचनसे अथवा शरीरसे तथा इनके बीचमें रहनेवाला मनसे भी हिंसा नहीं करे, किन्तु नरक आदि चार गतिओंमें भमनेवाले अनेक प्रकारके जगतको कर्मोंसे परतन्त्र बना हुआ देखे। इस तरह देखना वैराग्यका कारण होता है ॥ १२ ॥

अब सूक्ष्मजीवसम्बन्धी विधिको कहते हैं—जिनके स्वरूप आगे कहे जावेंगे ऐसे आठ सूक्ष्मोंको अच्छी तरह देखकर मुनि उपयोगसे ठहरे, बैठे या सोवे, जिन आठ सूक्ष्मोंको ज्ञपरिज्ञा व प्रत्याख्यानपरिज्ञासे जानकर साधु सर्वजीवोंमें दयाका अधिकारी होता है ॥ १३ ॥

जिन्हें कि दयाका अधिकारी बननेवाला साधु पूछे, वे आठ सूक्ष्म कौन कौन हैं? वे आठ वक्ष्यमाण सूक्ष्म वस्तुएँ ये हैं जिनको विद्वान् साधु कहे ॥ १४ ॥

इन आठ सूक्ष्मोंको स्पष्टरूपसे कहते हैं—१ स्नेहसूक्ष्म जैसे—अवश्याय, हिम, महिका, करक, हरतनुरूप ये सब आकाशसे गिरे हुए पानीके भेद हैं (व्याख्या पहले कर आये हैं वहाँ देखें), २ पुष्पसूक्ष्म जैसे—वट, उदुम्बर आदिके सूक्ष्म फूल, ३ प्राणिसूक्ष्म जैसे—कुन्थु आदि जो कि चलनेपरही जाने जाते हैं, ४ उत्तिङ्गसूक्ष्म जैसे—कीटिकानगर आदि, ५ पनकसूक्ष्म जैसे—काई जो बरसातके समयमें जमीन व लकडीपर लगे हुए पञ्चवर्णके दिखते हैं, ६ बीजसूक्ष्म जैसे—शालि आदि धान्योंके मुखपर कणरूप होते हैं, जिसको लोक तुषमुख कहते हैं,

१. उत्तिङ्ग अर्थात् सर्पछत्र आदि, तथा पनक याने पञ्चरङ्गकी काई।

७ हरितसूक्ष्म जो कि भूमिसे निकलनेके समय भूमिके रंगमेंही दिखते हैं, और ८ अण्डसूक्ष्म जैसे—कीडी, मक्खी आदि जीवोंके बारीक अण्ड जो कि कठिनाईसे देखे जाते हैं, यह आठवाँ सूक्ष्म है ॥ १५ ॥

इसतरह इन आठ सूक्ष्मोंको सब तरहसे जानकर संयमी साधु निद्रा आदि प्रमादोंसे दूर होकर व सब इन्द्रियोंके विषयमें रागद्वेष नहीं करनेरूप समाधियुक्त होकर उन जीवोंके संरक्षणमें मन, वचन व शरीरसे यत्न करे ॥ १६ ॥

साधु समय आनेपर शक्तिपूर्वक विधिसे पात्र व कम्बलको प्रतिलेखन करे–देखे, ऐसेही शय्याको अथवा उच्चारभूमिको, संस्तारकको व आसनको भी साधु सदा अच्छी तरहसे देखे ॥ १७ ॥

ऐसेही उच्चार–विष्ठा, प्रस्रवण–मूत्र, कफ, नाकका मल और जल्ल–शरीरका मल इन सबोंको प्रासुक भूमि देखकर संयमी साधु परिष्ठापन करे अर्थात् त्यागे ॥ १८ ॥

अब गोचरीमें जानेपर ठहरने आदिकी विधि कहते हैं—

साधु पानीके लिये अथवा आहारके लिये गृहस्थोंके घरमें प्रवेश कर यतनासे खडा रहे और आवश्यकतानुसार परिमित बोले, तथा किसीभी तरहके सुन्दर रूपोंपर मनको नहीं जाने देवे ॥ १९ ॥

गोचरी जाते हुए मार्गमें किसीके कुछ पूछनेपर साधु इसप्रकार कहे—भिक्षु–साधु कानोंसे बहुत सुनता है और आंखोंसे बहुत देखता है, लेकिन् देखी या सुनी हुई सब बातें कहना उसको योग्य नहीं है ॥ २० ॥

दूसरोंके मुखसे सुना हुआ या अपनी आंखसे देखा हुआ जो वचन दूसरोंके लिये उपघातक हो वैसा वचन साधु नहीं बोले और किसीभी उपायसे गृहस्थके साथ सम्बन्ध या गृहस्थके कामका आचरण नहीं करे ॥ २१ ॥

रूप रस आदि सब गुणोंसे युक्त उत्तम आहार अथवा इससे उलट रसशून्य कदशन इन दोनोंमें पहले अच्छेको भद्रक और दूसरे बुरेको पापक ऐसा नहीं कहे; अगर दूसरा कोई पूछे भी कि आज आहार कैसा मिला? फिरभी इस तरह पूछा हुआ या विना पूछा हुआ वह साधु अच्छा या बुरा लाभ हुआ या अलाभ ऐसा नहीं कहे ॥ २२ ॥

उत्तम भोजनमें गृद्ध होकर साधु कहीं एक जगह लोभी नहीं होवे याने किसी एक ईश्वरादि कुलमेंही भिक्षाको नहीं जावे, किन्तु किसी तरह जल्पना नहीं करता हुआ उञ्छ–ज्ञात अज्ञात ऐसे अनेक घरोंमें सामूहिक भिक्षाको जावे। क्रीत, औद्देशिक, आहृत या अप्रासुक अर्थात् सचित्त आहारको किसी तरह पाकर ग्रहण भी नहीं करे ॥ २३ ॥

मुधाजीवी व असम्बद्ध–किसी वस्तुमें नहीं बंधनेवाला संयमी साधु अणुमात्र भी संनिधि अर्थात् संचय नहीं करे और चर अचर–स्थावर जंगमरूप जगत्की रक्षामें लगा रहे ॥ २४ ॥

और रूक्षभोजी बने, सदा सन्तुष्ट रहे, इच्छाको कम करे, और थोडासा आहार करे; वैसेही क्रोध आदिके फल बतानेवाले जिनशासनको सुनकर क्रोध भी नहीं करे ॥ २५ ॥

कानको सुख देनेवाले मधुर शब्दोंमें प्रेम नहीं करे, तथा दारुण व कर्कश स्पर्शको पाकर शरीरसे उसको सहन करे ॥ २६ ॥

साधु भूखको, प्यासको, विषम व कर्कश शय्याको, शीत व उष्णको और मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाली अरति और भयको मनसे दीन बने विनाही सहन करे और ऐसा सोचे कि देहको दुःख देना बडे लाभका कारण है ॥ २७ ॥

सूर्यके अस्त हो जानेपर और प्रभातमें पीछा उदय होनेके पहले साधु सब प्रकारके आहार आदि पदार्थोंके भोगकी मनसे भी इच्छा नहीं करे ॥ २८ ॥

साधु आहारके नहीं मिलनेपर भी अतिन्तिन-यद्वातद्वा नहीं बोलनेवाला व चपलतारहित होवे, वैसेही मितभाषी व अल्पाहारी-मर्यादित आहार करनेवाला होनेसे पेटके विषयमें दान्त-संयमशील होवे, और थोडे आहारको पाकर क्रोध या गृहस्थकी निन्दा नहीं करे ॥ २९ ॥

साधु दूसरेकी निन्दा नहीं करे और न अपनी प्रशंसा करे, तथा मैं पण्डित व लब्धिसम्पन्न हूँ इसप्रकार श्रुतज्ञानसे या अधिक लाभसे गर्व भी नहीं करे। इसी तरह ऊंची जाति, बडी तपस्या तथा तीव्र बुद्धि आदिको पाकर उनसे भी अभिमान नहीं करे ॥ ३० ॥

वह साधु आभोगसे अर्थात् जानता हुआ अथवा नहीं जानता हुआ, अपनेसे रागद्वेषक वशीभूत हो जानेस अगर कभी मूलगुण व उत्तरगुणकी विराधना हो जाय तो, ऐसे अधार्मिकपद-अकर्तव्यको करके शीघ्रही आत्माको संवरण करे अर्थात् रोकले ॥ ३१ ॥

जो साधु निर्मलहृदय व सदा प्रकटभाववाला है, तथा कहीं भी प्रतिबन्ध नहीं रखनेवाला जितेन्द्रिय है, वह सावद्ययोगरूप अनाचारको करके गुरुके समीपमें आलोचना करता हुआ उस अनाचारमेंसे न तो कुछ छिपावे और न सर्वथा अपलापही करे ॥ ३२ ॥

विनीत साधु महात्मा आचार्यके वचनको व्यर्थ न होने देवे, किन्तु उस आज्ञाको 'तहत्ति' आदि वचनसे ग्रहण कर कर्म याने क्रियासे पूर्ण करे ॥ ३३ ॥

जीवनको अध्रुव-नश्वर जानकर तथा सम्यग्दर्शन आदि सिद्धिमार्गको नित्य हितकर जानकर और अपनी आयुको परिमित-अल्प समझकर मुनि कर्मबन्धके हेतुभूत विषय-भोगोंसे निवृत्त होवे याने अलग होवे ॥ ३४ ॥

मानसिक बल और शरीरकी दृढताको देखकर तथा अपनी श्रद्धा व नीरोगताको और क्षेत्र काल आदिको जानकर साधु आत्माको संयममार्गमें लगा देवे ॥ ३५ ॥ (वृत्तिकारने इसकी व्याख्या नहीं की है)

उपदेशके अधिकारमेंही विशेष कहते हैं—

जबतक जरा-वृद्धावस्था नहीं सताती और सामर्थ्यको क्षीण करनेवाली व्याधि जबतक नहीं बढती, तथा क्रियामें सहायक कर्ण आदि इन्द्रियाँ जबतक क्षीण नहीं होती हैं तबतक भव्य आत्मा श्रुतचारित्ररूप धर्मका आराधन करे ॥ ३६ ॥

धर्म करनेका उपाय बताते हैं—क्रोध और मान, माया और लोभ, ये सब पापके बढानेवाले हैं, इसलिये प्रत्येकको पापवर्द्धक जानकर अपना हित चाहता हुआ मुनि इन दोषोंको छोड देवे ॥ ३७ ॥

इनके नहीं छोडनेपर इस लोकमेंही अपकार दिखाते हैं, जैसे—क्रोध प्रेमका नाश करता है, मान विनयका नाश करनेवाला है, माया-कपट मित्रोंको नष्ट करदेती है और लोभ सभीका नाश करनेवाला है ॥ ३८ ॥

इन दोषोंके नष्ट करनेका उपाय कहते हैं—उपशम-शान्तिसे क्रोधको नष्ट करे, इसी तरह मानको मार्दव-कोमलभावसे जीते, मायाको ऋजुता-सरलपनसे तथा लोभको सन्तोषसे जीते अर्थात् निःस्पृह बनकर वश करे ॥ ३९ ॥

इन क्रोध आदिसेही परलोकका अपाय बताते हैं, जैसे कि—क्रोध और मान अगर अनिगृहीत याने काबू नहीं किये हुए हैं, और माया तथा लोभ यदि बढते हुए हैं, तो ये क्रोध आदि चार सम्पूर्ण काले या क्लेशकारी कषाय अशुभभावरूप जलसे पुनर्जन्मरूप वृक्षके मूलोंका सिञ्चन करते हैं ॥ ४० ॥

मुनि इस स्थितिमें कषायोंका निग्रह करनेके लिये ऐसा करे—रत्नाधिकोंमें अर्थात् अपनेसे पूर्व दीक्षा लिये हुए साधुओंमें विनयका प्रयोग करे, और सदा ध्रुवशीलता अर्थात् अठारह हजार शीलाङ्गोंकी रक्षाको

अपनी शक्तिभर नहीं छोडे (या कम नहीं करे), तथा कछुवेके समान अपने अङ्गोपाङ्गोंसे रक्षित रहे और तपस्या व संयममें पराक्रम दिखावे ॥ ४१ ॥ फिर—

आत्मार्थी मुनि निद्राको बहुमान नहीं देवे याने अधिक नहीं सोवे, तथा अधिक हास्य नहीं करे व परस्पर आलाप-संलाप-रूप एकान्त-कथा करनेमें भी नहीं रमे, किन्तु सदा स्वाध्यायमें लगा रहे ॥ ४२ ॥

योग अर्थात् मन, वचन व शरीर इनके व्यापारको सदा आलस्यरहित होकर श्रमणधर्ममें लगानेवाला साधु ज्ञानादिरूप सर्वश्रेष्ठ अर्थको पाता है ॥ ४३ ॥

इसलोक और परलोकमें हितकारी ऐसे जिस अर्थसे अर्थात् ज्ञानादि गुणसे जीव सुगतिको याने परम्परा-सिद्धिगतिको जाता है, (उस ज्ञानके विषयमें) बहुश्रुतकी अर्थात् आगमवृद्धकी सेवा करे, सेवा करता हुआ साधु उनसे अर्थका निश्चय पूछे ॥ ४४ ॥

गुरुकी सेवामें बैठनेकी विधि कहते हैं—साधु हाथ पैर और शरीरको संयत कर व जितेन्द्रिय होकर नम्रतासे उपयोगपूर्वक गुरुके सन्निधिमें बैठे ॥ ४५ ॥

गुरुके आगे पीछे या बगलमें, अथवा मार्गमें अविनय व वन्दना करनेमें बाधा आदि दोष हो उसतरह नहीं बैठे, तथा गुरुके समीपमें पैरपर पैर रख अर्थात् पलथी मारकर नहीं बैठे ॥ ४६ ॥

शरीरसंयमका वर्णन करके अब वचनसंयमको कहते हैं—विना पूछे (निष्कारण) साधु नहीं बोले, कोई बोलता हो उसके बीचमें भी नहीं बोले, पृष्ठमांस-किसीके परोक्षमें उसके दोषोंका कथन नहीं करे और कपटमय झूंठ वचन नहीं बोले ॥ ४७ ॥

जिस वचनसे किसीको अप्रीति हो अथवा सुननेवाला शीघ्र क्रोध करने लग जाय ऐसी भाषा-जो कि उभयलोकमें विरोधी है-किसीभी अवस्थामें साधु नहीं बोले ॥४८॥

बोलनेकी पद्धति बताते हैं—जो भाषा देखे गए (खुले) अर्थवाली हो और सो भी परिमित, सन्देहरहित, स्वर आदिसे पूर्ण, स्पष्ट व परिचित हो, या व्यर्थ बकवादरूप न हो, और उद्वेग पैदा करनेवाली न हो, ऐसी भाषाको चैतन्ययुक्त साधु बोले ॥ ४९ ॥

आयारपन्नत्तिधर–आचाराङ्ग आदि आचार व भगवती आदि प्रज्ञप्ति–सूत्रोंको धारण करनेवाला और जो दृष्टिवादको पढा हो ऐसे विशिष्ट पुरुषके भी वाणीमें गलती या भूल हो जाय तो उसे जानकर साधु उसकी हंसी नहीं करे ॥ ५० ॥

गृहस्थके पूछनेपर अश्विनी आदि नक्षत्र, शुभ अशुभ स्वप्नके फल, वशीकरण आदि योग, शकुन आदि निमित्त व बिच्छू सांप आदिके मन्त्र और औषधियाँ इन सबको कहना एकेन्द्रिय आदि जीवोंकी विराधनाका स्थान है, इसलिये साधु असंयमिओंसे ये सब बातें नहीं कहे ॥ ५१ ॥

साधुओंके ठहरनेयोग्य स्थानको कहते हैं—मुनि दूसरोंके लिये बनाये हुए, मलमूत्रनिवारणकी जगहवाले और स्त्री–पशु–क्लीबसे रहित ऐसे स्थान–गृहको सेवन करे, ऐसेही अन्यके लिये किये गये शयन व आसनोंको काममें लेवे ॥ ५२ ॥

शय्या–वसतिस्थान जनशून्य हो, मुनि वहाँपर स्त्रीसम्बन्धी कथा नहीं कहे तथा गृहस्थोंके साथ विशेष परिचय नहीं करे, साधुओंके साथ परिचय करे ॥ ५३ ॥

स्त्रीसंसर्ग नहीं करनेमें कारण दिखाते हैं—जैसे कुक्कुट–मुरगेके बच्चोंको सदा बिल्लीसे भय बना रहता है, ऐसेही ब्रह्मचारीको स्त्रीके शरीरसे भय रहता है ॥ ५४ ॥

" नीतिकार स्त्रीशरीरकी निन्दामें बहुत आगे बढे हुए हैं, जैसे—' नारी प्रत्यक्ष राक्षसी ' अर्थात् स्त्रियाँ

साक्षात् राक्षसी हैं, इत्यादि। इन वचनोंमें कदाचित् सच्चाई होनेपर भी कटुता है, इस कटुताको छोडकर आप्त आगमको शोभे ऐसा वचन ऊपर कहा गया है।"

स्त्रीके विषयमें विशेष निषेध करते हैं—भित्ति (दिवाल) आदिके ऊपर चितारी हुई स्त्रीको भी साधु नहीं देखे, ऐसेही शृङ्गारसे सुशोभित स्त्रीको नहीं देखे, यदि अचानक दिख पडे तो जैसे सूर्यकी ओर देखकर नजर शीघ्र हटजाती है वैसेही स्त्रीके अङ्गपरसे भी दृष्टिको जल्दी लौटा ले॥ ५५॥

जिसके हाथपैर कटे हुए हैं और जो कान व नाकसे रहित तथा सो वर्षके उमरवाली है, ऐसी अङ्गोंसे विकल और बूढी स्त्रीको भी ब्रह्मचारी नहीं देखे, फिर तरुणीको देखनेकी तो बातही क्या?॥ ५६॥

शरीर आदिकी विभूषा-सजावट, स्त्रियोंका अधिक परिचय और सरस व उत्तम भोजन ये तीनों बातें आत्माचिन्तन करनेवाले मनुष्योंके लिये तालपुट-जहाल विषके समान हैं॥ ५७॥

स्त्रियोंके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी रचना, उनके मधुर-वचन एवं कटाक्ष-तिरछी नजरसे देखना इन सबको ब्रह्मचारी पुरुष तल्लीन होकर नहीं देखे, क्योंकि ये सब कामको और अनुरागको बढानेवाले हैं॥ ५८॥

साधु मनोहर ऐसे शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इन पांच विषयोंमें प्रेम स्थापन नहीं करे, किन्तु उन विषयोंकी अनित्यता और पुद्गलोंके परिणामोंको समझकर (आपातमात्र मधुर और परिणाममें सन्ताप देने-वाले) इन विषयोंको त्याग देवे॥ ५९॥

इसी बातको स्पष्ट करते हैं—शब्द आदि विषयोंके मध्यमें रहनेवाले उन पुद्गलोंके अवस्थान्तरप्राप्तिरूप परिणामको यथातथा-जैसा का वैसा याने ये पुद्गल आदि अनेक रूपसे बदलते रहते हैं इसतरह जानकर मुनि तृष्णा-इच्छारहित व क्रोध आदि कषायोंके उपशमसे शान्तिमय आत्मा होकर विचरे॥ ६०॥

मुनि जिस श्रद्धाके कारण अविरति-प्रमादरूप कीचडसे बाहर निकला है और उत्तम पर्यायस्थान अर्थात् साधुपनको पाया है, उसी श्रद्धाको तथा आचार्योंके संमत दया, दाक्षिण्य आदि गुणोंको पालन करे॥ ६१ ॥

आचारप्रणिधिका फल कहते हैं—जो बाह्य व आभ्यन्तर तपको, पृथ्वी आदि जीवोंके आश्रित संयम-योगको तथा आगमके पठनपाठनरूप स्वाध्यायको करनेवाला है, वह साधु समस्त अस्त्रशस्त्रोंसे सुसज्जित व चतुरङ्गिणी सेनासे युक्त शूर पुरुषकी तरह कषाय व परीषहोंसे घिरा हुआ भी अपनी रक्षामें तथा पर-कषाय आदि शत्रुओंके निवारण करनेमें पर्याप्त-समर्थ होता है॥ ६२ ॥

इसीको स्पष्ट करते हैं—स्वाध्याय और उत्तम ध्यानमें तल्लीन रहनेवाले तथा स्वपरके रक्षक, पापभाव-नासे रहित और तपस्यामें तत्पर रहनेवाले ऐसे साधुका जन्मान्तरका किया हुआ पापमल धुलकर नष्ट हो जाता है, जैसे कि आगमें फूंकनेसे आगसे तपा हुआ चांदीका मल (लोह आदिका संसर्ग) नष्ट हो जाता है॥ ६३ ॥

इससे—काले बादलोंके हट जानेसे जैसे चन्द्रमा चमक उठता है, वैसे वह परीषह आदि दुःखोंको सहनेवाला, जितेन्द्रिय और श्रुतज्ञानसे युक्त तथा ममत्वसे रहित व अकिञ्चन साधु कर्मरूप बादलके हट जानेपर केवलज्ञानरूप प्रकाशसे युक्त होकर शोभित होता है॥ ६४ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ। इति।

॥ आचारप्रणिधि नामका आठवाँ अध्ययन समाप्त ॥



॥ नववाँ अध्ययन ॥



उद्देश पहला ।



इस अध्ययनका पूर्व अध्ययनके साथ ऐसा सम्बन्ध है। आठवें अध्ययनमें कह आए हैं कि निरवद्य-वचन आचारमें तल्लीन रहनेवाले मुनिओंके होते हैं, इसलिए साधुको आचारमें यत्न करना चाहिये; मुनि आचारवान् यथोचित विनयसे सम्पन्न होनेवालाही हो सकता है, इसलिये नवम अध्ययनमें विनयको कहते हैं। कहा भी है—

> " आयारपणिहाणंमि, जे सम्मं वट्टइ बुहे ।
> णाणादीण विणीए जे, मोक्खट्ठा निव्विगिच्छए " ॥ १ ॥

अर्थात्-आचारके विधानमें वही विद्वान् मुनि अच्छी तरह संलग्न रह सकता है, जो कि ज्ञानादि गुणोंमें विनयवान् है और मोक्ष पानेमें जिसे किसी प्रकारका सन्देह नहीं है। उक्त सम्बन्धसे आये हुए इस अध्ययनका यह आदिसूत्र है—

विनय प्रधानतासे पांच प्रकारका है, जैसे कि—लोकाराधनाके लिये लोकोपचार-विनय १, धनको पानेके लिये अर्थ-विनय २, काम-सुखनिमित्त काम-विनय ३, भय हटानेके लिये भय-विनय ४ और मोक्ष पानेके लिये मोक्ष-विनय ॥ ५ ॥

लोकोपचार-विनयका स्वरूप इसप्रकार है-कोई अपने घरमें आवे उसके लिये ऊठकर खडा होना,

॥ ८२ ॥

अञ्जलि जोडना, आसन देना, दूरका आतिथि हो तो भोजन कराना, जाते वक्त कुछ दूर साथ जाना, मधुर बोलना आदि। ऐसेही द्रव्य-विनय आदि समझना।

मोक्ष-विनयके पांच भेद हैं, जैसे कि—दर्शनविनय १, ज्ञानविनय २, चारित्रविनय ३, तपोविनय ४, और औपचारिक-विनय ५। दर्शनसे अर्थात् जिनप्रणीत आगमके ऊपर अमिट श्रद्धासे होनेवाला दर्शनविनय कहाता है। इस विनयके ५२ भेद हैं, जो विस्तारभयसे यहाँ नहीं लिये हैं।

इसी तरह द्रव्य-भाव-भेदसे समाधि दो प्रकारकी है; दर्शन, ज्ञान, तप व चारित्रका भावमेंही अन्तर्भाव हो जाता है।

विनय-समाधि अध्ययनकी यह पहली गाथा है—

स्तम्भ-जाति आदिके अभिमानसे, क्रोधसे, माया-कपटसे, तथा निद्रा आदि प्रमादसे युक्त साधु गुरुके समीपमें आसेवना-ग्रहणारूप विनयको नहीं सीख सकता है, क्योंकि वे क्रोध आदि दुर्गुण उस साधुके लिये अभूतिभाव-अधोगतिका कारण है। बांसका फल जैसे उसके नाशका कारण बनता है, वैस ये दुर्गुण मुनिके गुणरूप भावप्राणके नाशके लिये होते हैं॥ १॥

जो कोई द्रव्यलिङ्गी साधु गुरुको मन्दबुद्धि ऐसा जानकर अर्थात् शास्त्रमें कही गई युक्तिओंसे यह गुरु शास्त्रालोचनामें समर्थ नहीं है ऐसा जानकर, तथा कारणान्तरसे यह डहर-बच्चा और अल्पश्रुत-थोडा पढा हुआ है ऐसा समझकर गुरुकी निन्दा करते हैं अर्थात् स्थापित मन्दबुद्धिवाले आचार्यको 'तुम मन्दबुद्धि हो' ऐसा कहते हैं, वे साधु मिथ्यात्वको प्राप्त करते हुए शास्त्राज्ञाके विरुद्ध गुरुजनोंकी आशातना करते हैं॥ २॥

कर्मोंकी विचित्रतासे कितनेक वयोवृद्ध भी स्वभावसे मन्दबुद्धि बने रहते हैं और कितनेक डहर-अल्पवयवाले भी अमन्द-तीव्र बुद्धिवाले तथा श्रुतसे युक्त होते हैं इसलिये जो आचारवान् हैं और जिनकी आत्मा दया

दाक्षिण्यादि गुणोंमें स्थिर है, उनका अनादर नहीं करना चाहिये, क्योंकि हीलना पाये हुए जो साधु हैं वे, लकडी आदि स्थिर इन्धनको जैसे अग्नि भस्म करदेती है वैसे, उस आशातना करनेवालेके गुणोंको भस्म करदेते हैं ॥३॥

अब प्रधानतासे अल्पवयवालोंकी निन्दाका निषेध करते हैं—जो कोई अज्ञानी जीव अल्पवयवाला-बच्चा जानकर सर्पको पीडा पहुंचाता है अर्थात् दुःख देता है, तो दुःखी किया गया वह सर्प उस दुःख देनेवालेके नाशका कारण बनजाता है, इसी तरह कारणवश आचार्यपदपर विराजमान अल्पवयवाले आचार्यकी निन्दा करनेवाला मन्दबुद्धि जीव भी द्वीन्द्रिय आदि जातिके मार्गको प्राप्त करता है अर्थात् संसारमें परिभ्रमण करता है ॥ ४ ॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें भेद बताते हैं—अतिक्रुद्ध हुआ भी सर्प किसीके जीवन-नाशसे बढकर और क्या कर सकता है? किन्तु हीलनासे अप्रसन्न बने हुए आचार्यश्री मिथ्यात्वरूप अबोधिके कारण बनते हैं और इसी कारणसे गुरुओंकी आशातनासे मोक्ष नहीं मिलता है ॥ ५ ॥

जो कोई जलती हुई आगपर चलता है अथवा सर्पको भी निश्चयसे कोपयुक्त बनाता है अथवा जो जीवनकी इच्छा रखता हुआ विषको खाता है, वही उपमा-समानता गुरुजनोंकी आशातनाके विषयमें है ॥ ६ ॥

कदाचित् मन्त्र आदिके प्रतिबन्धसे वह आग नहीं जलावे, कदाचित् खिसलाया हुआ सर्प भी नहीं काटे, या खाया गया जहाल विष नहीं मारे, ये सब हो सकते हैं, किन्तु गुरुजनोंकी हीलनारूप आशातनासे मोक्ष याने कर्मबन्धनसे छूटकारा नहीं हो सकता है ॥ ७ ॥

जो कोई मस्तकसे पहाडको फोडना चाहे या सोये हुए सिंहको जगावे अथवा जो शस्त्रकी तीखी धारके ऊपर मुष्टि-प्रहार करे, वही उपमा गुरुजनोंकी आशातनाके विषयमें है ॥ ८ ॥

कदाचित् मस्तकके प्रहारसे पहाड भी फूट जाय, कदाचित् खिसलाया हुआ सिंह भी नहीं खावे, वा

कदाचित् शस्त्रकी तीखी धार प्रहार करनेपर भी हाथको नहीं काटे, फिर भी गुरुजनोंकी आशातनासे मोक्ष नहीं है ॥ ९ ॥

इसप्रकार अग्नि आदिके आक्रमणसे भी गुरुओंकी आशातना भयङ्कर है इसलिये क्या करना चाहिये ? सो कहते हैं—

अप्रसन्न हुए आचार्यश्री उस हीलना करनेवालेके लिये अबोधिके कारण होते हैं, वास्ते निराबाध-बाधा-रहित मोक्षरूप सुखको चाहनेवाला मुनि गुरुजनोंकी प्रसन्नतामें तत्पर होकर व्यवहार करे ॥ १० ॥

जिसप्रकार आहिताग्नि-आजीवन अग्निपूजक ब्राह्मण विविध आहुतियोंसे और मन्त्रपदोंसे अभिषिक्त-धधकती हुई आगको नमस्कार करता है, इसी प्रकार अनन्तज्ञानसे युक्त हुआ साधु भी आचार्यको नमस्कार करे तथा उसकी सेवा बजावे ॥ ११ ॥

जिनके पास धर्मपद-सिद्धान्तको सीखे उनके पास विनययुक्त व्यवहार करे, प्राञ्जलिपूर्वक नतमस्तक होकर सत्कार करे, शरीरसे सेवा करे, 'वन्दे' इत्यादिरूप वचनसे आज्ञा पाले (सत्कार करे); (आचार्य कहते हैं)-भो शिष्यों ! तुमको मनसे भी गुरुका सत्कार करना चाहिये ॥ १२ ॥

लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य ये सब कल्याण-भागी जीवके लिये विशुद्धिके स्थान हैं; जो गुरु मुझे सदा अनुशासन करते हैं अर्थात् संयम आदि सिखाते हैं, ऐसे उन गुरुओंको मैं निरन्तर पूजता हूँ याने सत्कार देता हूँ ॥ १३ ॥

आचार्यकी महिमा कहते हैं—जिस प्रकार रात्रिके अन्तमें अर्थात् प्रातःकालमें किरणसमूहसे तपता हुआ सूर्य सम्पूर्ण भारतवर्षको प्रकाशित करता है, इसी प्रकार आगमरूप श्रुत, परद्रोहसे निवृत्तिरूप शील, और

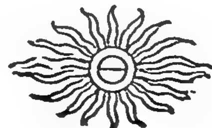
बुद्धिसे युक्त होकर आचार्य भी जीवादितत्त्वोंको प्रकाशित करते हैं। साधुओंके बीचमें वे वैसे शोभित होते हैं जैसे कि सामानिक देवोंके बीचमें इन्द्र शोभते हैं ॥ १४ ॥ फिर—

जिस प्रकार कार्तिकी पौर्णिमासीमें उदित हुआ तथा नक्षत्रगण व तारागणसे घिरा हुआ चन्द्र निर्मल व बादलोंसे रहित आकाशमें शोभित होता है, उसी प्रकार वह गणी–आचार्य साधुओंके मध्यमें शोभित होता है। (ऐसी महिमासे युक्त वे आचार्य पूजनीय हैं) ॥ १५ ॥

जो आचार्य ज्ञान आदि भावरत्नोंके आकर तथा समाधियोग–उत्तमध्यान, श्रुत–आगम, शील एवं बुद्धिके द्वारा मोक्षको चाहनेवाले अथवा मोक्षरूप विशाल इच्छावाले हैं, ऐसे आचार्योंको अनुत्तर ज्ञानादि पानेकी इच्छावाला साधु आराधना करे, और उनको निर्जरारूप धर्मका कामी बनकर वारंवार सन्तुष्ट करे ॥ १६ ॥

मेधावी–बुद्धिमान् साधु गुरुकी आराधनाके फलको कहनेवाले ऐसे इन सुन्दर वचनोंको सुनकर निद्रा आदि प्रमादसे रहित होकर आचार्यकी सेवा करे, और इस प्रकार वह सेवक साधु अनेक गुणोंका आराधन कर सर्वश्रेष्ठ सिद्धिको पाता है ॥ १७ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ। इति।

॥ विनय–समाधि नामक नववें अध्ययनका प्रथम उद्देश समाप्त ॥



॥ नववाँ अध्ययन ।

॥ नववाँ अध्ययन ॥



उद्देश दूसरा ।

विनयके अधिकारमेंही दूसरा उद्देशक कहाजाता है । उसमें यह पहली गाथा है—

मूल-जडसेही वृक्षके स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है, बादमें स्कन्धसे शाखाएँ उत्पन्न होती हैं, शाखासे प्रशाखाएँ होती हैं और उनसे भी पत्ते निकलते हैं, फिर वृक्षके पत्तोंसे फूल और फूलोंसे फल तथा फलोंसे रस होता है ॥ १ ॥

दार्ष्टान्तिक योजना करते हैं-इसीतरह-वृक्षके मूलकी तरह धर्मका मूल विनय है । वृक्षके फल व रसकी तरह उस विनयधर्मका चरम व उत्तम फल मोक्ष है, (इसलिये विनय करना चाहिये) जिससे कि विनयवान् साधु पूर्णतया कीर्ति, समस्त आगम व प्रशंसनीय पदको शीघ्रही प्राप्त करता है ॥ २ ॥

जो जीव बडा क्रोधी व मृगके समान जड या अज्ञानी है अर्थात् जो हितवचन कहनेपर भी खिसला जाता है और जो जाति आदिके मदसे मदोन्मत्त है, तथा कटुवचन बोलनेवाला, कपटी व शठ है अर्थात् धर्ममें आदररहित है, जो इन दोषोंसे विनय नहीं करता है वह अविनीत आत्मा नदीके वेगमें पडे हुए काष्ठकी तरह संसारसागरमें जन्ममरणरूप तरङ्गपर बह जाता है ॥ ३ ॥

जो कोई नर युक्तिओंके द्वारा विनयको कहा हुआ भी क्रुद्ध होता है वह मनुष्य आती हुई दिव्य-देवसम्बन्धी लक्ष्मीको दण्डेके द्वारा पीछे लौटाता है ॥ ४ ॥

दृष्टान्तसे अविनयका बुरा फल दिखाते हैं—राजाके प्रेमपात्र प्रधान आदिके अविनीत-अशिक्षित आत्मावाले घोडे, हाथी आदि भार आदि वहनेमें कर्मकररूपसे जोते जाते हुए दुःख भोगते देखे जाते हैं ॥ ५ ॥

इसीप्रकार—सुविनीत-सुशिक्षित घोडे हाथी राजा आदिकी सवारीमें लगे हुए सम्पत्तिको पाकर और यशोभागी बनकर सुख भोगते हुए दिख पडते हैं ॥ ६ ॥

इसीतरह (पशुओंके समान) अविनीत आत्मावाले स्त्रीपुरुष लोकमें चाबुक आदिके आघातसे चिह्नित और नाक आदि इन्द्रियोंसे हीन होकर दुःख भोगते हुए दिख पडते हैं ॥ ७ ॥ फिर—

दण्डोंसे तथा शस्त्रोंसे आहत होनेके कारण दुबले बने हुए तथा असभ्य वचन-रूखे व कर्कश वचनोंसे बोले जाते हुए वे दीन, कान्तिहीन और पराधीन बने हुए तथा भूख व प्याससे पीडित होते हुए दिख पडते हैं ॥ ८ ॥

इसीतरह सुविनीत-सुशिक्षित आत्मावाले स्त्रीपुरुष लोकमें सुख भोगते हुए सम्पत्तिशाली व परम यशस्वी देखे जाते हैं ॥ ९ ॥

ऐसेही (मनुष्योंकी तरह) अविनीत आत्मावाले देव, यक्ष और भवनवासि ये देव भी अविनयके कारण सेवकपनमें लगे हुए दुःख भोगते दिखाई देते हैं ॥ १० ॥

वैसेही सुविनीत आत्मावाले देव, यक्ष और गुह्यक देव सुख भोगते हुए सम्पत्तिशाली और यशस्वी दिख पडते हैं ॥ ११ ॥

अब लोकोत्तरविनयका फल कहते हैं—जो कोई शिष्य आचार्य और उपाध्यायोंकी शुश्रूषा और आज्ञाको सम्पन्न करते हैं, उनकी शिक्षाएँ जलसे सींचे हुए वृक्षोंकी तरह बढती हैं ॥ १२ ॥

गृहस्थ अपने लिये अथवा पुत्र आदि दूसरेके लिये कुम्भकार आदिकी कलारूप तथा वस्त्र आदि बनाने-रूप शिल्पको एवं चित्रकला आदिमें निपुणताको उपभोग–अन्नवस्त्रके लिये सीखते हैं, ये सब इस लोकके कारण होते हैं॥ १३ ॥

जिस शिल्प आदिके सीखनेमें लगे हुए वे सुन्दर शरीरवाले राजपुत्र आदि सीखते हुए अनेक तरहकी पीडाएँ भोगते हैं अर्थात् रज्जु आदिसे बन्धन व बेत आदिके भयङ्कर वध(मार)को और दारुण कष्टको प्राप्त करते हैं ॥ १४ ॥

इसतरह कष्ट पाते हुए भी वे उस मारनेवाले गुरुको शिल्पशिक्षा ग्रहण करनेके लिये पूजते हैं तथा वस्त्र आदिसे सत्कार करते हैं, व अञ्जलि जोडकर नमस्कार करते हैं, व इस गुरुसे शिल्पशिक्षा मिलेगी इसलिये सन्तुष्ट होकर उसकी आज्ञामें रहते हैं ॥ १५ ॥ जब सांसारिक शिक्षाके अर्थी वैसे मारनेवाले गुरुको भी पूजते हैं, तब—

जो साधु तीर्थङ्करप्रणीत आगमका व मोक्षरूप अनन्ताहितका कामी है उसको तो अवश्यही गुरुओंकी भक्ति करनी चाहिये, इसलिये वह विनीत साधु आचार्यश्री जो कुछ फरमावे उस आज्ञाका उल्लंघन नहीं करे ॥ १६ ॥

विनयके उपाय कहते हैं—विनीत साधु आचार्यकी शय्यासे नीची शय्या बिछावे, पीछे चले, नीची जग-हमें बैठे और नीचे आसन बिछावे, नम्र होकर याने झुककर चरणोंमें वन्दना करे, और नम्र होकरही दोनों हाथसे अञ्जलि जोडे ॥ १७ ॥

अब वचनके विनयको कहते हैं—शरीरसे अथवा भण्डोपकरणोंसे गुरुओंके शरीर व उपकरणोंको धक्का लगनेपर याने संघट्ट होनेपर हे पूज्य ! संघट्टरूप इस मेरे अपराधको क्षमा करो, फिर मैं ऐसा नहीं करूंगा इस-तरह बोले ॥ १८ ॥

पूर्वोक्त इस विनयको बुद्धिमान् मनुष्य स्वयं करता है, किन्तु बुद्धिहीन मनुष्य किसतरह करता है इस बातको कहते हैं—दुष्ट बैल जैसे प्रतोद-तीखे कीलयुक्त लकडी आदिसे वींधा जाकर रथको खींचता है, वैसे वह दुष्टबुद्धि शिष्य भी आचार्योंके वारंवार कहनेपर कहे हुए कार्योंको करता है ॥ १९ ॥

इस तरह किये गये कार्य ठीक नहीं इसपर कहते हैं—आचार्यके एकवार कुछ कहनेपर या अनेकवार आज्ञा करनेपर शिष्य आसनपरही बैठा हुआ नहीं सुने, किन्तु धैर्यसम्पन्न मुनि आसनको छोडकर शुश्रूषासे अर्थात् सेवाभावसे गुरुकी आज्ञाको सुने, तथा शरद्, शिशिर आदि कालको व गुरुकी इच्छाको जानकर और गुरुकी आराधनाके प्रकारको न्यारे २ हेतुओंसे समझकर उस २ उपायसे मुनि पित्तनाशक आदि अनुकूल गुण-वाले आहार आदिको लावे ॥ २० ॥ (वृत्तिकारने इस गाथाकी व्याख्या नहीं की है ।)

अविनीत शिष्यके तो ज्ञानादि गुणोंकी विपत्ति होती है अर्थात् वह ज्ञानादि गुणोंको नहीं पा सकता है, किन्तु विनीत-विनयवान् शिष्यको ज्ञानादि गुणोंकी सम्पत्ति-प्राप्ति होती है। जिस शिष्यने ये दोनों बातें अर्थात् विनयसे ज्ञानादि गुणोंकी प्राप्ति और अविनयसे इन गुणोंका अभाव ये दोनों बातें समझी हुई है, वह शिष्य ग्रहण व आसेवनरूप शिक्षाको प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

इसी बातको दृढ करते हुए अविनयके फलको कहते हैं—जो दीक्षित होकर भी अतिक्रोधी है तथा सम्प-त्तिका गर्व रखता है और पिशुन अर्थात् पीछेमें दूसरोंकी निन्दा करनेवाला है वह सिर्फ आकारमात्रसे पुरुष है, भावसे नहीं; ऐसे ही जो साधु अकृत्य करनेमें साहसिक तथा गुरु आदिकी आज्ञा भङ्ग करनेवाला है और जो अच्छीतरह श्रुतादिधर्मको नहीं पाया है अतएव विनयको नहीं जानता और गोचरी आदि लाकर जो उसको समानतासे साधुओंके बीच नहीं बाँटता है, उसको मोक्ष नहींही मिलता है ॥ २२ ॥

अब विनयका फल दिखानेके साथ उपसंहार करते हैं—जो शिष्य गुरुओंकी आज्ञामें तत्पर रहनेवाले

॥ ९० ॥

हैं और श्रुतार्थधर्मा याने गीतार्थ तथा विनय करनेमें पण्डित हैं, ऐसे वे महापराक्रमी साधु इस दुस्तर ओघ अर्थात् संसारसमुद्रको पार कर चरमभव और केवलीपदसे समस्त कर्मोंको खपाकर अतिशय उत्तम ऐसी सिद्धिगतिको गये हैं व प्राप्त कररहे हैं ॥ २३ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ । इति ।

॥ विनयसमाधि नामक नववें अध्ययनका दूसरा उद्देश समाप्त ॥



॥ नववाँ अध्ययन ॥



उद्देश तीसरा ।



अब तीसरा उद्देश शुरू होता है, इसमें विनीत साधु पूज्य होता है यह दिखाते हैं । उसका यह आदिसूत्र है—आहिताग्नि ब्राह्मण जैसे अग्निकी उपासना करता हुआ उपासनामें सावधान रहता है, वैसेही साधु आचार्यकी सेवा करता हुआ सावधान रहे, आचार्योंकी नजरपरसे तथा आन्तरिक गुप्तभावोंको प्रकट करनेवाली चेष्टासेही उनके आशय(मतलब)को जानकर जो साधु आचार्यकी इच्छाको पूर्ण करता है, वह साधु पूज्य है ॥ १ ॥

गुरुवचनको सुनना चाहता हुआ शिष्य आचारके लिये विनय करता है; बाद गुरुके कुछ कहनेपर उस वचनको ग्रहण कर छलकपटसे रहित जो साधु उसको गुरुके कहे अनुसार पूर्ण करना चाहता है और विपरीत आचरणोंसे गुरुकी आशातना नहीं करता है, वह साधु पूज्य है ॥ २ ॥

और—जो साधु रत्नाधिकोंमें अर्थात् दीक्षासे ज्येष्ठ मुनिओंमें योग्य विनय करता है, इसीतरह जो साधु वयःक्रमसे और आगमज्ञानसे डहर-कम भी है किन्तु दीक्षासे बडे हैं उनके लिये अवस्था और ज्ञानसे बडा भी जो साधु नम्रतासे व्यवहार करता है तथा सत्यवादी, वन्दनशील और सन्निधिमें रहनेवाला है व गुरुकी आज्ञाको पालता है, वह साधु पूज्य है ॥ ३ ॥

फिर—जो साधु विना परिचयके भिक्षासे लाये हुए विशुद्ध आहारको करता है और वह भी केवल संयमभारवाही शरीरको भाडा मात्र देनेके लिये, किसी अन्य निमित्तसे नहीं, तथा उचित भिक्षासे मिला

हुआही आहार सदा समविभागपूर्वक ग्रहण करता है, तथा नहीं मिलनेपर चिन्ता और मिलनेपर अभिमान व श्लाघा जो साधु नहीं करता है, वह साधु पूज्य है ॥ ४ ॥

संस्तारक, शय्या, आसन और आहार तथा जल आदि बहुत मिलते हुए भी जो साधु अल्प इच्छा रखता है, और इसप्रकार जिस किसी कल्पनीय वस्तुसे अपनी आत्माको सन्तुष्ट रखता है, वह सन्तोषरूप प्रधानभावमें रमण करनेवाला साधु पूज्य है ॥ ५ ॥

हुआही आहार सदा समविभागपूर्वक ग्रहण करता है, तथा नहीं मिलनेपर चिन्ता और मिलनेपर अभिमान व श्लाघा जो साधु नहीं करता है, वह साधु पूज्य है ॥ ४ ॥

संस्तारक, शय्या, आसन और आहार तथा जल आदि बहुत मिलते हुए भी जो साधु अल्प इच्छा रखता है, और इसप्रकार जिस किसी कल्पनीय वस्तुसे अपनी आत्माको सन्तुष्ट रखता है, वह सन्तोषरूप प्रधानभावमें रमण करनेवाला साधु पूज्य है ॥ ५ ॥

अब इन्द्रियोंकी समाधिके द्वारा पूज्यपन दिखाते हैं—इससे मुझे यह मिल जायगा इस आशासे अर्थ-प्राप्तिमें उत्साहवाले मनुष्यसे लोहेके कांटे भी सहे जासकते हैं, किन्तु वाणीरूप तीखे कांटे नहीं सहे जाते किन्तु विना किसी आशाके जो साधु कानके लिये तीखे बाण ऐसे कटु वचनोंको सहलेता है, वह पूज्य है ॥ ६ ॥

लोहेके कांटे तो गडनेके समय थोडी देर दुःख देते हैं, और गडे हुए वे कांटे शरीरसे सुखपूर्वक निकाले भी जासकते हैं, किन्तु वाणीके द्वारा जो कटुवचन कहकर मर्म दुखाये जाते हैं वे वचनरूप कांटे दुरुद्धर अर्थात् दुःखसे निकालनेयोग्य होते हैं, तथा वे वाङ्मय कण्टक इसलोक और परलोकमें वैरभावको बढानेवाले होते हैं, इसलिये कुगतिमें गिरानेके कारण होनेसे वे परम भयङ्कर हैं ॥ ७ ॥

एकत्रित होकर सन्मुख आते हुए वे वाग्बाणोंके प्रहार कानमें पडते हैं और कानमें जातेही हृदयमें पीडा उत्पन्न करते हैं, ऐसे इन वाक्प्रहारोंको सहना मेरा धर्म है ऐसा समझकर संयममार्गमें शूर-अन्य शूरोंकी अपेक्षा प्रधान शूर व जितेन्द्रिय ऐसा जो साधु उन वाग्बाणोंको सहलेता है, वह अवश्य पूज्य है ॥ ८ ॥

अनुपस्थितकी परोक्षमें निन्दा तथा उपस्थित रहनेवालोंके सामने अपकारक-दिलको दुखानेवाली बात तथा निश्चयरूप, अवर्णवादरूप और अप्रिय लगनेवाली ऐसी भाषाको सदा जो साधु नहीं बोलता है, वह पूज्य है॥ ९॥

॥ ९६ ॥

जो साधु आहार आदिमें लोभ नहीं रखनेवाला व इन्द्रजाल आदि कौतुकरहित है, तथा कपटी, चुगलखोर और दीनता दिखानेवाला भी नहीं है, तथा जो दूसरेकी झूंठी तारीफ नहीं करके खुद भी दूसरोंके पास अपनी तारीफ नहीं करता है, तथा कौतूहलके कारण नटनृत्य आदि होनेपर भी जो सदा अकौतूहल-स्थिर बना रहता है, वह पूज्य है ॥ १० ॥

विनय आदि पूर्वकथित गुणोंसे युक्त साधु होता है, और अविनय आदि उलट व्यवहारोंसे युक्त असाधु होता है, इसलिये हे साधु! गुणोंको ग्रहण कर और दुर्गुणोंको छोड। जो साधु इसप्रकार अपनी आत्मासे आत्माको समझाकर रागद्वेषोंमें समभावसे रहता है, वह पूज्य है ॥ ११ ॥

इसीप्रकार जो साधु जवान या बूढे स्त्री, पुरुष, साधु या गृहस्थ आदिको एकवार दुर्वचन कहनेरूप हीलना या अनेकवार कहनेरूप खिंसनावचन भी नहीं कहता है, तथा अभिमान व क्रोधको जो छोडदेता है, वह पूज्य है ॥ १२ ॥

और—जो साधु शिष्योंसे सन्मान पाकर पीछे उन शिष्योंको आगमोपदेशसे सन्मान देते हैं, तथा जिसतरह माबाप यत्नसे कन्याको योग्य बनाकर गृहिणीपदपर बैठादेते हैं उसीतरह शिष्योंको आगममें पारङ्गत-योग्य बनाकर जो गुरु आचार्यपदपर बैठादेते हैं ऐसे महान् उपकारी तथा मान देनेयोग्य उन गुरुओंको जो मान देता है, तथा जो तपस्वी, जितेन्द्रिय और सत्यमें रमण करनेवाला है, वह साधु पूज्य है ॥ १३ ॥

॥ ९४ ॥

गुणोंके सागर ऐसे उन गुरुओंके सुन्दर उपदेशवचनोंको सुनकर जो बुद्धिमान् मुनि पांच महाव्रतोंमें तत्पर तथा तीन गुप्तिओंसे गुप्त रहता है, तथा जो चार कषायोंसे बाहर निकलनेवाला है, वह साधु पूज्य है ॥१४॥

फल दिखाते हुए उपसंहार करते हैं—जिनमतमें निपुण और अभिगममें अर्थात् अतिथिरूप साधुओंके सत्कारमें कुशल ऐसा वह मुनि पूर्वोक्त विधिसे सदा गुरुओंकी सेवा करके पूर्वजन्मोंमें सञ्चित ऐसे रजोमल-कर्ममलको हटाता है, और कर्मोंको हटाकर ज्ञानतेजसे देदीप्यमान ऐसी गतिको अर्थात् सिद्धगतिको पाता है ॥ १५ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ। इति।

॥ ९५ ॥

॥ विनयसमाधि नामक नवर्वे अध्ययनका तीसरा उद्देश समाप्त ॥

सत्कारमें कुशल ऐसा वह मुनि पूर्वोक्त विधिसे सदा गुरुओंकी सेवा करके पूर्वजन्मोंमें सञ्चित ऐसे रजोमल-कर्ममलको हटाता है, और कर्मोंको हटाकर ज्ञानतेजसे देदीप्यमान ऐसी गतिको अर्थात् सिद्धगतिको पाता है ॥ १५ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ। इति।

॥ विनयसमाधि नामक नववें अध्ययनका तीसरा उद्देश समाप्त ॥



॥ नववाँ अध्ययन ॥

उद्देश चौथा ।



अब इस चौथे उद्देशमें तीसरे उद्देशमें सामान्य रीतिसे कहे गए विनयकोही विशेष रीतिसे कहते हैं—

हे आयुष्मन् शिष्य! उस भगवान् महावीरने ऐसा कहा है-जो मैंने सुना है-कि इस लोकमें या इस जिन प्रवचनमें परम ऐश्वर्यसे युक्त ऐसे स्थविर आचार्योंने चार विनयसमाधिस्थान कहे हैं, शिष्य कहता है—भगवान् स्थविर गणधरोंने कहे हुए वे चार विनयसमाधिस्थान कोनसे हैं? आचार्य—उन स्थविर भगवन्तोंने ये चार विनयसमाधिस्थान कहे हैं, जैसे कि—विनयसमाधि १, श्रुतसमाधि २, तपःसमाधि ३, और आचार-समाधि ४। विनयमें, श्रुतमें और तपस्यामें तथा आचारमें वे पण्डित सदा अपनी आत्माको लगाये रहते हैं जो जितेन्द्रिय होते हैं ॥ १ ॥

विनयसमाधि चार प्रकारकी होती है, जैसे कि—अनुशासित होता हुआ जो गुरुवचनको सुनना चाहता है १, व सम्यक् प्रकारसे गुरुके कहे हुए अनुशासन-तत्त्वको जो विषयानुसार समझता है २, और जो इसतरह विशेषसेही वेद अर्थात् श्रुतज्ञानके प्राप्तिकी यथोक्त क्रियासे आराधना करता है ३, वह मुनि ऐसी विशुद्ध प्रवृत्तिसेही आत्मसम्प्रगृहीत अर्थात् मैं विनीत हूँ, मैं सुसाधु हूँ, आदिरूपसे अभिमानी या आत्मप्रशंसी नहीं होता है ४। यह चतुर्थपद होता है और यहाँ श्लोक भी है—

जो आचार्य आदिसे हितानुशासनकी प्रार्थना करता है, और बाद उसको समझकर यथाथ रीतिसे

करता है, और करता हुआ भी विनयसमाधिमें जो अभिमानी-मदसे मत्त नहीं होता है, वह मोक्षको चाहनेवाला है ॥ २ ॥

श्रुतसमाधि भी चार प्रकारकी होती है, जैसे कि—मुझे आचार आदि द्वादशाङ्गका लाभ होगा इसलिये पढना चाहिये १, तथा अध्ययनके समय एकाग्रचित्त होजाऊं इसलिये पढना चाहिये २, तथा अध्ययन करनेसे अपनी आत्माको स्थिर रख सकूंगा इसलिये पढना चाहिये ३, और स्वयं धर्ममें स्थिर होकर दूसरोंको भी स्थिर कर सकूंगा इसलिये पढना चाहिये ४ । यह चतुर्थपद होता है और यहाँ श्लोक भी है—

ज्ञान और चित्तकी एकाग्रता तथा स्थिर रहना और दूसरेको स्थिर रखना, इसतरहके लाभोंसे श्रुतको पढकर श्रुतसमाधिमें लगा हुआ साधु रहता है ॥ ३ ॥

तपःसमाधि भी चार प्रकारकी होती है, जैसे कि—न इस लोकके लिये तप करना चाहिये १, और न परलोकके लिये तप करना चाहिये २, ऐसेही कीर्ति, वर्ण, शब्द व श्लोकके लिये भी तप नहीं करना चाहिये ३, सिर्फ कर्मनिर्जराके लियेही तप करना चाहिये (इसके सिवा अन्यके लिये नहीं) ४ । चतुर्थपद होता है और यहाँ श्लोक भी है—

विविध गुणवाले तपमें जो साधु सदा रत रहता है वह लौकिक आशाओंसे दूर होता है, तथा निर्जराको चाहनेवाला जो साधु तपःसमाधिमें सदा लगा रहता है, वह उस तपस्यासे प्राचीन पापको दूर करता है ॥ ४ ॥

आचारसमाधि भी चार प्रकारकी है, जैसे कि—इस लोकके लिये आचार नहीं करना चाहिये १, परलोकके लिये भी आचार नहीं करना चाहिये २, ऐसेही कीर्ति, वर्ण, शब्द व श्लोकके लिये भी आचार नहीं करना चाहिये ३, सिर्फ आर्हत-आगममें कहे हुए हेतुओंके लिये आचार पालना चाहिये (अन्यके लिये नहीं) ४ । यह चतुर्थपद होता है और यहाँ श्लोक भी है—

जिनवचनमें रत रहता हुआ और किसीके कुछ कहनेपर भी कटु नहीं बोलनेवाला साधु मोक्षका अर्थी है और जो साधु आचारमें समाधि रखकर आश्रवद्वारको रोकता है तथा मन और इन्द्रियोंसे दान्त है वह मोक्षको समीप करलेता है ॥ ५ ॥

सभी समाधिओंका फल कहते हैं—पूर्वोक्त रीतिसे चार समाधिओंको जानकर और पालकर जो साधु मन, वचन और कायासे अत्यन्त विशुद्ध समाधिमान् होता है वह संयममें परमहित और विशाल सुखके केन्द्र-स्थानको प्राप्त करलेता है ॥ ६ ॥

उपसंहारमें इसी बातको स्पष्ट करते हैं—इस प्रकारका वह विनीत साधु जन्ममरणरूप संसारसे छूट जाता है, और नारकादि चतुर्विध संसारके कारणभूत वर्ण आदिको सर्वथा छोडदेता है; इसप्रकार कर्मोंके क्षयसे सदा स्थायी सिद्ध होता है अथवा कर्मोंके बचे रहनेसे अल्प मोहवाला महर्द्धिक देव होता है ॥ ७ ॥ सुधर्मा—ऐसा मैं कहता हूँ। इति।

॥ विनयसमाधि नामका नववाँ अध्ययन समाप्त ॥



॥ दसवाँ अध्ययन ॥

नववें अध्ययनमें आचारोंसे युक्त साधुओंको विनयसम्पन्न होना चाहिये ऐसा कहा गया है, इसलिये पहलेके नौ अध्ययनमें कहे हुए गुणोंसे युक्तही सच्चे साधु होते हैं। अब इस दशवें अध्ययनमें इस बातको सारांशरूपसे कहते हैं, सम्पूर्ण सूत्रके उपसंहाररूप इस अध्ययनकी प्रथम गाथा यह है—

तीर्थङ्करोंके और गणधरोंके वचनसे प्रव्रज्या लेकर जो मुनि सदा तीर्थङ्करोंके वचनोंमें चित्तसे प्रसन्न होकर रहे, समाधि-चित्तकी एकाग्रताके लिये स्त्रियोंके वशीभूत-अधीन नहीं होवे तथा उसी उपायसे जो छोडे हुए भोगोंको फिरसे नहीं लेता है, वही भिक्षु भावसाधु है ॥ १ ॥

तथा जो सचित्त पृथ्वीको नहीं खोदता अथवा खुदाता है, वा इसी प्रकार सचित्त जलको नहीं पिता या पिलाता है, तथा तरवार आदि तीखे शस्त्रकी तरह आगरूप उस अस्त्रको जो नहीं जलाता अथवा न दूसरोंसे जलवाता है, वह भाव (सच्चा) साधु है ॥ २ ॥

जो साधु देह आदिको पंखे आदिकी हवासे न वीजता या वीजवाता-हवा करवाता है तथा हरे दूर्वा आदिको खुद न काटता या दूसरोंसे कटवाता है, और बीजोंके संघट्टनको सदा छोडता हुआ सचित्त वस्तुओंका आहार नहीं करता है, वह भावसाधु है ॥ ३ ॥

औद्देशिक आहारमें पृथ्वी, तृण व काष्ठके आश्रयमें रहनेवाले त्रस-स्थावर जीवोंका वध होता है, इसलिये जो साधु औद्देशिक आहारको नहीं भोगता तथा न स्वयं अन्न आदिको पकाता या पकवाता है, वह भावभिक्षु है ॥ ४ ॥

श्रीमहावीरके वचनोंमें प्रेम करके जो साधु छहों प्रकारके जीवोंको अपनी आत्माके समान समझता है, तथा पञ्चमहाव्रतोंको पालता है, तथा हिंसा आदि पाँच आस्रवोंको रोकता है, वह भावभिक्षु है ॥ ५ ॥

जो क्रोध आदि चार कषायोंको सदा छोडता है, तथा तीर्थङ्करोंके उपदेशसे जो संयममें निश्चल योगवाला है, और चतुष्पद-गौ, भैंस आदि पशु, धन और सोना चांदी आदिसे रहित होकर मूर्च्छायुक्त गृहस्थके सम्बन्धको भी जो छोडता है, वह भावभिक्षु है ॥ ६ ॥

जो सम्यक्त्वी जीव विना किसी भय व शङ्काके ऐसा मानता है कि अतीन्द्रिय विषयोंको समझानेवाला ज्ञान, सञ्चित कर्मोंको क्षय करनेवाला तप और नये कर्मबन्धको रोकनेवाला संयम है, और इसप्रकारके दृढ-विचारको रखता हुआ जो तपस्यासे पुराने पापकर्मको हटाता है, तथा मन, वचन व शरीरसे जो संवृत अर्थात् अशुभ प्रवृत्ति नहीं करनेवाला है, वह भावभिक्षु है ॥ ७ ॥

उसीप्रकार याने शास्त्रमर्यादाके अनुसार अनेक प्रकारके अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य पदार्थोंको पाकर इनसे कल अथवा परसों प्रयोजन होगा ऐसा समझकर, जो उन पदार्थोंको एकरात्रि भी न रक्खे या दूसरोंसे रखावे, (अथवा पासमें बासी रखनेवाले अन्यको जो अच्छा भी नहीं समझे), ऐसा वह सञ्चय नहीं करनेवाला भावसाधु है ॥ ८ ॥

ऐसेही—अशन, पान वा अनेक प्रकारके खाद्य और स्वाद्य पदार्थोंको पाकर जो साधु स्वधर्मा साधुओंको निमन्त्रण करके अथवा देकरके खाता है, और जो खाकर स्वाध्यायमें लीन रहता है, वह भावसाधु है ॥ ९ ॥

जो कलह-लडाईकी कथा नहीं कहता है, और सद्वादसम्बन्धी कथा आदिमें क्रोध भी नहीं करता है, किन्तु संयतेन्द्रिय व प्रशान्त बनकरही रहता है, तथा संयममें सदा मन, वचन व कायाकी प्रवृत्ति रखता है, और आकुलतारहित किसीभी उचित कार्यमें अनादर नहीं करनेवाला है, वह भावसाधु है ॥ १० ॥

कांटेके समान इन्द्रियोंको चुभनेवाले ऐसे ग्रामकण्टकोंको—आक्रोश-गाली, प्रहार-मार व तर्जना-धमकीरूपसे आनेवालेको—जो सहलेता है, और वेताल आदिकृत शब्द और अट्टहाससे युक्त स्थानमें उपसर्गोंके आनेपर भी जो समानभावसे सुखदुःखको सहलेता है, वह भावभिक्षु है ॥ ११ ॥

इसी बातको स्पष्ट कहते हैं—जो साधु मास आदिकी प्रतिमा याने अभिग्रहको स्वीकार कर स्मशानमें अत्यन्त भयङ्कर दृश्योंको देखकर भी नहीं डरता है, तथा मूलगुण आदि अनेक प्रकारके गुणोंमें और तपोंमें सदा रत रहता है, और ममतासे शरीरको भी वर्तमान और भविष्यके लिये नहीं चाहता है, वह भावभिक्षु है ॥ १२ ॥

साधुको पृथ्वीकी उपमासे कहते हैं—जो साधु अनेकवार कायोत्सर्ग करता है, अर्थात् शरीरकी ममताको छोडकर शोभाको त्यागता है, तथा गाली सुनकर, मार खाकर, या कुत्ते आदिके काटनेपर भी जो पृथ्वीके समान क्षमाशील-सब कुछ सहलेनेवाला होता है, तथा जो किसी प्रकारके निदान-नियाण नहीं करता है और कुतूहल-देखने सुननेकी तीव्र इच्छासे दूर होता है, वह मुनि भावसाधु है ॥ १३ ॥

फिर शरीरसे परीषहोंको जीतकर जो साधु जन्ममरणरूप संसारमार्गसे अपनी आत्माको ऊपर उठालेता है याने अलग करलेता है, और जन्ममरणको अत्यन्त भयङ्कर समझकर श्रमण-साधुसम्बन्धी शुद्ध आचारमें व तपमें लगा रहता है, वह भावभिक्षु है ॥ १४ ॥

जो साधु हाथोंसे संयत है, चरणोंसे संयत है, तथा वचनोंसे संयत है, और संयतेन्द्रिय-इन्द्रियोंसे संयत है, तथा जो धर्मध्यानमें लगा रहनेवाला और समाधियुक्त आत्मावाला है, तथा जो सूत्रार्थोंको समझता है, वह भावसाधु है ॥ १५ ॥

जो साधु अपने वस्त्र पात्र आदि भण्डोपकरणोंमें भी ममता और प्रतिबन्धरूप लोभसे रहित है, तथा विना परिचयके घरोंमें भिक्षाके लिये जाता है, व संयमको निस्सार बनानेवाले पुलाक व निष्पुलाक नामक दोषोंसे दूर रहता है, तथा खरीद, विक्री व सञ्चय आदिसे विरत रहता है, और जो सब प्रकारके सङ्गोंसे मुक्त-दूर है, वह साधु भावभिक्षु है ॥ १६ ॥

जो साधु नहीं मिली हुई चीजोंमें चाहता-लोलुपता नहीं करता तथा मिले हुए रसोंमें प्रतिबन्ध-आसक्ति भी नहीं रखता है, और भावविशुद्ध गोचरी करता है, तथा जो असंयम-जीवनको नहीं चाहता है, और जो स्थिरचित्त होकर लब्धिरूप ऋद्धि, वस्त्रादिके सत्कार तथा स्तुति आदिसे पूजाकी भी आशा नहीं रखता है, वह भावसाधु है ॥ १७ ॥

फिर—जो साधु दूसरेको यह कुशील है ऐसा नहीं कहता, और जिससे कोई क्रुद्ध होवे ऐसा वचन नहीं बोलता है, तथा प्रत्येक आत्माके जुदे २ पापपुण्योंको अग्निदाहकी वेदना जैसी स्पर्श करनेवालेकोही होती है अन्यको नहीं ऐसे जानकर, जो गुणोंके होते हुए भी अभिमान नहीं करता है, वह भावभिक्षु है ॥ १८ ॥

जो साधु न जातिसे मत्त बनता और न रूपसे, तथा जो लाभमें भी मद नहीं करता व श्रुतज्ञानका भी अभिमान नहीं रखता है, और जो सब प्रकारके गर्वोंको छोडकर धर्मध्यानमें लगा रहता है, वह भाव-भिक्षु है ॥ १९ ॥

जो ज्ञानचरणसे सम्पन्न महामुनि परोपकारके लिये शुद्ध धर्मोपदेश देता है, और स्वयं धर्ममें स्थिर रहता हुआ दूसरेको भी धर्ममें स्थिर करता है, तथा प्रव्रज्या लेकर आरम्भ आदि कुशीललिङ्गको छोडता है, तथा हास्यकारी कुहक-चेष्टाओंको भी नहीं रखता है, वह भावभिक्षु है ॥ २० ॥

भिक्षुभावका फल कहते हुए अध्ययनकी समाप्ति करते हैं—प्रत्यक्षमें जेलके समान तथा अपवित्र व अनित्य ऐसे इस देहवासको सम्यग्दर्शन आदि शाश्वत हितके लिये जो साधु सदा ममत्वके नहीं रखनेरूपसे छोडदेता है, वह साधु जन्ममरणके बन्धनको काटकर जहांसे फिरकर आना नहीं होता है ऐसी सिद्धिगतिको पाता है ॥ २१ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ। इति।

॥ सभिक्षु नामका दसवाँ अध्ययन समाप्त ॥



॥ पहली चूलिका ॥

दशवें अध्ययनके साथ इस चूलिकाका सम्बन्ध इसप्रकार है—दशवें अध्ययनमें कह आए हैं कि भिक्षुओंके गुणोंसे युक्त रहनेवाला भिक्षु है, वह साधुगुणयुक्त भिक्षु भी कभी पूर्वकर्मोंकी प्रबलतासे दुःखी हो सकता है, इसलिये उस दुःखी होते हुए भिक्षुको पुनः साधुमार्गमें स्थिर करनेके लिये इन दोनों चूलिकाओंमें उपदेश देते हैं।

गुरुमहाराज इस अध्ययनको प्रारम्भ करते हुए शिष्यको कहते हैं—भो! हे शिष्य! इस जैन शासनमें दीक्षित हुआ भिक्षु यदि किसी कारणसे दुःखी हो जाय तथा पूर्वकथित संयममें उसका हृदय उद्विग्न हो जाय और इसी उद्वेगसे वह संयमको छोडना चाहे तो उसे पहले वक्ष्यमाण इन अष्टादश स्थानोंका अच्छीतरह विचार करना चाहिये, क्योंकि घोडेके लिये लगाम, हाथीके लिये अङ्कुश, और नौकाके लिये पताका(पाल)के समान उद्विग्न बने भिक्षुके ये वक्ष्यमाण अष्टादश स्थान संयममार्गमें स्थिर रखनेवाले हैं।

जैसे कि-उन अष्टादशस्थानोंमें प्रथमस्थान कहते हैं—गुरु फरमाते हैं—हे शिष्य! इस दुःषमनामक समयमें सभी प्राणी दुःखसेही जीते हैं, फिर गृहस्थाश्रमसे क्या प्रयोजन?॥ १॥

तथा गृहस्थोंके सुखभोग तुषके समान तुच्छ हैं, वे भी क्षणभङ्गुर-क्षणभरमें नाशवान् हैं तथा भविष्यमें कटुफल देनेवाले हैं, ऐसे गृहस्थजीवनसे क्या मतलब?॥ २॥

और सांसारिक मनुष्य कपटप्रधान जीवनवाले होते हैं, इसलिये ये किसीके विश्वासपात्र नहीं बनते और विश्वासके विना सुख कैसा? भोगोंको भोगकर भी मनुष्य सन्तुष्ट नहीं होते हैं, किन्तु उलटे सदा भोग भोगनेके लिये भूखेही बने रहते हैं। इसलिये गृहस्थाश्रमके कामभोगोंसे क्या प्रयोजन?॥ ३॥

॥ १०३ ॥

और संयममें उद्वेग करनेवालेको सोचना चाहिये कि मेरे कर्मासे प्राप्त यह शारीरिक या मानसिक दुःख चिरकालतक नहीं रहेगा। फिर गृहस्थाश्रमसे क्या मतलब ? ॥ ४ ॥

फिर सोचना चाहिये कि संयमी साधुओंके लिये बडे २ राजामहाराजा, महाजन आदि पूजासत्कार करते हैं और दीक्षा त्यागनेवालेको तो समयपर अपने मतलबके लिये तुच्छ जनोंकी भी खुशामद करनी पडती है अतएव ऐसे गृहस्थाश्रमसे क्या प्रयोजन ? ॥ ५ ॥

भागवती दीक्षाको त्यागकर पुनः गृही बनना अर्थात् गृहस्थके सुखोंको भोगना यह तो वमन किये पदार्थोंको पुनः स्वीकार करनेके समानही बुरा है ॥ ६ ॥

संयमी बनकर पुनः गृही होना यह तो सीधे नरक आदि दुर्गतिमें जानेके लिये साधनसम्पत्ति जुटाना है ॥ ७ ॥

गृहवासमें बसनेवाले अर्थात् स्त्रीपुत्र-शत्रुमित्र-रूप जालमें फंसे रहनेवाले गृहस्थोंके लिये धर्म दुर्लभ है। गुरुमहाराज फरमाते हैं—भो शिष्य ! संयमके स्वीकार करनेसे सुलभ हुए धर्मको फिर दुर्लभ मत बनाओ ॥ ८ ॥

उस असंयमी गृहस्थके लिये आतङ्क अर्थात् संसर्गीरोग घातक होता है ॥ ९ ॥

अनेक प्रकारके संकल्प-विकल्प-रूप मानस आतङ्क गृहस्थके लिये नाशके कारण होते हैं ॥ १० ॥

कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदिकी तथा तेल, लोण, लकडीकी चिन्ता हमेशा बनी रहती है, इसलिये गृहस्थजीवन दुःखमय है ॥ ११ ॥

संयमिओंका जीवन पूर्वोक्त उपक्लेश-चिन्ताओंसे रहित है, इसलिये सुखमय है ॥ १२ ॥

कोश बनानेवाले कीटके समान सदा कर्मबन्ध करनेसे गृहस्थजीवन कर्मबन्धका कारण है ॥ १३ ॥

सदा कर्मबन्धोंको तोडनेसे संयमजीवन मुक्तके समान है ॥ १४ ॥

प्राणातिपात आदि पापोंको करनेसे गृहिजीवन पापयुक्त है ॥ १५ ॥

और सदा प्राणातिपात आदिसे विरत रहनेके कारण संयमिओंका जीवन पापरहित है ॥ १६ ॥

गृहस्थोंके कामभोग बहुत साधारण हैं, क्योंकि वे कामभोग चोर, चाण्डाल, पशु, पक्षिओंको भी सुलभ हैं ॥ १७ ॥

प्रत्येकके पुण्यपाप स्वतन्त्र हैं, माता, पिता, पुत्र, कलत्र आदिके द्वारा अगर दूसरेके लिये भी किये गए हैं तथापि वे पुण्य पाप करनेवालोंके लिएही फल देते हैं अर्थात् पुत्रका किया पुण्य पिताको नहीं मिलता है ॥ १८ ॥ इसलिये गृहवास हेय है—

वृद्ध आचार्योंने इस समस्त ग्रन्थको इन अठारह स्थानोंके अन्तर्गत ही माना है । दूसरे आचार्योंने ग्यारहवें स्थानसे सोलहवें तक छह स्थानोंको पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष कहकर, दो दो स्थानोंको एक मानकर छह स्थानोंको तीनही गिने हैं, ऐसा गिनना सुसंगत ज्ञात होता है, इस हिसाबसे "प्रत्येकं पुण्यपापम्" यह जो पहले अठारहवाँ स्थान होता था वह पन्द्रहवाँ स्थान हुआ, बांकी छह स्थानोंको नीचे लिखते हैं—

हे शिष्य ! मनुष्योंका जीवन दर्भ (कुशा) के अग्रभागपर टिके हुए जलबिन्दुकी तरह चञ्चल और अनित्य है ॥ १६ ॥

मैंने चारित्र–मोहनीय आदि बहुतही पापोंका संचय किया है, अन्यथा ऐसी दुर्मति भी नहीं होती। इसलिये मुझे गृहवाससे कोई प्रयोजन नहीं है ॥ १७ ॥

और हे शिष्य ! किये गए वे शुभ अशुभ कर्म जो पूर्वजन्मोंमें प्रमाद कषाय आदिके वशीभूत होकर हो चुके हैं तथा जो कर्म मिथ्यात्व अविरतिसे दुष्पराक्रमवाले (दुःखसे प्रतिक्रमणीय) हैं, उन कर्मोंको भोगकर या तपस्यासे क्षयकर मोक्ष होता है। विना भोगे उन कर्मोंसे मुक्ति नहीं है, इसलिये तप संयमकी आराधनाही श्रेष्ठ है। अब मुझे गृहस्थाश्रमसे कोई मतलब नहीं है ॥ १८ ॥

॥ १०५ ॥

यह अठारहवाँ पद होता है। इस विषयमें श्लोक भी है—असंयमसे निवृत्त होनेके लिये इन अठारह स्थानोंके रहनेपर भी जब कोई अनार्य जीव भोगोंके लिये चारित्रधर्मको त्याग देता है, तब उन भोगोंमें आसक्त होता हुआ वह बालबुद्धि परिणामको अर्थात् भविष्यकाल नहीं समझता है ॥ १ ॥

जब कोई बालजीव संयमसे बाहर हो जाता है, तब इन्द्रासनको छोडकर भूमिके ऊपर पडे हुए इन्द्रके समान वह सब प्रकारके साधुधर्मसे भ्रष्ट होकर बादमें सन्ताप करता है ॥ २ ॥

जब साधुपर्यायमें रहता है तब तो सुरेन्द्रों व नरेन्द्रोंका भी वन्दनीय होता है। किन्तु संयमसे गिरनेके बाद फिर वही अवन्दनीय हो जाता है अर्थात् किसीका भी वन्दनीय नहीं रहता है। उस स्थितिमें वह स्वर्गसे भूमिपर गिरे हुए देवके समान बादमें पश्चात्ताप करता है ॥ ३ ॥

जब कोई संयममार्गमें पूजित रहता है और असंयममें आतेही अपूजनीय हो जाता है, तब राज्यसे च्युत राजाके समान वह पीछे पश्चात्ताप करता है ॥ ४ ॥

जब कोई संयमकी अवस्थामें संघका मान्य होता है और संयमसे हीन होकर पीछे अमान्य हो जाता है, तब दीक्षासे पतित वह व्यक्ति कुग्राममें लाकर छोडे गए शेठके समान पीछे पश्चात्ताप करता है ॥ ५ ॥

जब संयमको त्यागनेवाला जीव यौवनसे बहार होकर बुढापेमें आता है, तब जिह्वेन्द्रियके वशीभूत होकर आहारके साथ बडिश-लोहकंटकको गिलजानेवाले मत्स्यके समान वह पश्चात्ताप करता है ॥ ६ ॥

इसी बातको स्पष्ट रीतिसे कहते हैं—जब वह संयमको त्यागनेवाला जीव सर्वाङ्गशिथिल वृद्ध होजाता है और मतलबी व कपटी कौटुम्बिकोंकी दुष्ट चिन्ताओंसे पीडित होता है, चिन्तासे पीडित होनेके बाद वह संयमहीन जीव उन नकली कुटुम्बिओंके द्वारा जालमें फंसाकर बन्धनोंमें बन्धे हुए हाथीकी तरह पश्चात्ताप करता है ॥ ७ ॥

इसीको विशेष स्पष्टरूपसे कहते हैं— जब वह संयमको त्यागनेवाला जीव पुत्रकलत्रोंसे सताया जाता है तथा दर्शनमोह आदि मोहनीय कर्मोंके समूहमें फंस जाता है, तब गाढ कीचडमें फंसे हुए गजेन्द्रके समान साधुतासे गिरनेके बाद वह जीव पश्चात्ताप करता है, और मनमें सोचता है कि हाय! मैंने ऐसा अविचारका काम क्यों किया ? ॥ ८ ॥

और यह भी सोचता है कि यदि मैं जिन भगवानके कहे हुए श्रामण्य-साधुभावमें स्थिर रहता और साधुपर्यायमें रमा रहता तो आज बहुश्रुत व भावितात्मा होकर मैं गणी-आचार्य बन जाता ॥ ९ ॥

चंचल चित्तवाले संयमीको स्थिर करनेके लिये कहते हैं— संयममें रति रखनेवाले महामुनिओंके लिये यह मुनिपर्याय स्वर्गके समान सुखद तथा समाधानकारी है। जैसे देव स्वर्गमें दर्शन आदि व्यापारोंमें लगे हुए दीनतारहित होते हैं, वैसे मुनिगण भी उससे अधिक भावसे प्रत्युपेक्षणा आदि क्रियाओंमें सदा अदीनमनसे रहते हैं। किन्तु जो संयममें रति नहीं रखनेवाले केवल लिङ्गमात्रसे साधु हैं, ऐसे जिनभेषकी विडम्बना करनेवाले उन कुलिङ्गिओंके लिये तो यह साधु-पर्याय महानरक अर्थात् रौरवादि नरकके समान है, क्योंकि मुनिवेषमें उन्हें तीव्र मनोदुःख होता है जो नरकके समान दुःखप्रद और भावी नारक आदि दुर्गतिबन्धका कारण होता है ॥ १० ॥

उपसंहाररूपसे इसी बातको पुनः कहते हैं— इसलिये साधुपर्यायमें रत रहनेवाले महर्षिओंके देवतुल्य उत्तम सुखोंको समझकर तथा इसी साधुपर्यायसे विरत रहनेवाले कुलिङ्गिओंके नरकोपम प्रबल दुःखोंको जानकर पण्डित-सदसद्विवेकी साधु सदा मुनिपर्यायमें रमण करे ॥ ११ ॥

संयमसे पडनेवालोंके लौकिक दोषोंको कहते हैं— जो श्रमणधर्मसे पतित और तपस्यांरूप लक्ष्मीसे हीन है, उसके संगमें आनेयोग्य कुशील लोग भी ऐसे दुर्व्यवहारीकी यज्ञसम्बन्धी बुझाई गई निस्तेज आगकी तरह

और विषैले दांतोंसे हीन घोर विषसर्पकी तरह हीलना करते हैं, तथा तू पतित है, ऐसा कहते है और पहले समानताका व्यवहार रखनेवाले आप्त-इष्टजन भी उसे अपनी पंक्तिमें बैठने नहीं देते हैं ॥ १२ ॥

लौकिक दोषको दिखाकर अब उभयलोकगत दोषोंको कहते हैं— जो धर्मसे भ्रष्ट व अधर्मका आचरण करनेवाला तथा अखण्डनीय चारित्रकी खण्डना करनेवाला है उसको इस लोकमें अधर्म अर्थात् अधर्मात्मा कहते हैं, तथा अयश याने पराक्रमके अभावसे होनेवाली न्यूनता व अकीर्ति जैसे कि पुण्यफलसे रहित यह दानव किसी कामका नहीं है ऐसी निन्दा होती है, और संयमसे पतित होनेके कारण 'यह पुराना पतित हुआ' इत्यादिरूपसे नीच निन्दित व पामर जनोंमें भी उसकी बदनामी होती है, फिर शिष्टसज्जनोंकी तो बातही क्या! ये तो हुए लौकिक दोष, अब पारलौकिक दोष दिखाते हैं— चारित्रको खण्डित करनेवालोंकी परलोकमें नीचगति अर्थात् नरक आदि गति नियत है ॥ १३ ॥

चारित्रभ्रष्टोंके लिये अन्य अनिष्ट बातें कहते हैं—वह संयमसे पतित जीव धर्मकी बिलकुल परवाह नहीं करता हुआ प्रकटचित्तसे विषयसुखोंको भोगकर तथा अनेक प्रकारके खेती आदि जैसे जीवघातक कामोंको करके मरकर दुःखोंसे पूर्ण व अनिश्चित ऐसी गतिमें याने दुर्गतिमें जाता है और उस संयमभ्रष्टको बोधि याने जैनधर्मकी प्राप्ति दुर्लभ होती है। जिसलिये कि वह एकवार प्रवचनकी विराधना करचुका है इसलिये वह अनेक भावमें विराधकही बना रहता है। इसी हेतुसे बोधि भी दुर्लभ होती है ॥ १४ ॥

जिसलिये ऐसी बात हैं इसलिये दुःखकी दशामें भी साधुको ऐसा विचार करके संयम नहीं छोडना चाहिये, इसी बातको कहते हैं—पहले नरकगतिमें गये हुए और दुःखमें पडे हुए केवल क्लेशमय वृत्तिवाले इस जीवका नरकमें पल्योपम अथवा सागरोपम जितना दीर्घकाल बीत जाता है फिर मेरा यह संयममें अरतिरूप मनोदुःख क्या चीज है? और कितने दिनोंका है? दुःखकी दशामें भी दीक्षितको संयमसे पतित नहीं होना चाहिये ॥ १५ ॥

फिर—मेरा यह संयममें अरतिरूप दुःख बहुत कालतक नहीं रहेगा क्योंकि जीवोंकी भोग-पिपासा सदा रहनेवाली नहीं है। यह विषयभोगकी लालसा प्रायः यौवनकालमेंही रहनेवाली है, वृद्धके शरीरसे चली जाती है। अगर वृद्धावस्थामें भी यह विषयलालसा नहीं गई तो आयुके अवसानमें मेरे शरीरके नष्ट होनेपर तो अवश्यही नष्ट हो जायगी। इस भोगलालसासे अनन्तकालतक सुखदाता संयमका त्याग करना उचित नहीं है ॥ १६ ॥

इस प्रकारकी दृढताका फल कहते हैं—

जिस संयमी जीवका आत्मा इस प्रकार निश्चित-दृढप्रतिज्ञ बना रहता है, वह विघ्न आनेपर खुशीसे शरीर त्यागदेता है किन्तु धर्मानुशासनको नहीं त्यागता है, पूर्वोक्त उस दृढ आत्माको इन्द्रियाँ चलायमान नहीं कर सकती हैं जैसे सुमेरु पर्वतको प्रबल वेगसे चलती हुई भी हवा नहीं हिला सकती है ॥ १७ ॥

उपसंहार करते हुए कहते हैं—

इस प्रकार अध्ययनमें कहे गए अष्टादशस्थान आदि भावोंको अच्छीतरह विचार कर तथा ज्ञान दर्शनादिके आयको और इसके अनेक उपायोंको समझकर बुद्धिमान् साधु काय, वचन और मनसे संयम रहता हुआ तथा तीन गुप्तिओंसे गुप्त होता हुआ जिनवाणीकी उपासना करे अर्थात् यथाशक्ति शास्त्रकथित क्रियाके आराधनमें तत्पर रहे ॥ १८ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ रतिवाक्या नामकी प्रथम चूलिका समाप्त ॥



॥ १०९ ॥

॥ दूसरी चूलिका ॥



अब दूसरी चूलिका कहते हैं—

१ इस विषयमें ऐसी प्राचीन किंवदन्ती है कि एक आर्याने किसी साधुजीको चातुर्मासिक आदि पर्व समयमें उपवास करनेकी प्रेरणा की। साधुजीने भी प्रेरणाको पाकर उपवास तो करलिया किन्तु शारीरिक स्थितिसे उन्हें समय बिताना मुश्किल होगया। संयोगवश उनका उस तपोव्रतमेंही अकस्मात् देहावसान होगया। इस बातको जानकर साध्वीजीको बडी चिन्ता हुई कि मेरी प्रेरणासे साधुजीने उपवास किया और उपवासमेंही उनका देहान्त होगया। अतः मैं ऋषिघातिका हूँ। मुझे तीर्थङ्कर महाराजसे इसका निर्णय करना चाहिये। ऐसा विचार कर आर्याजीने तपसे देवाराधन किया। जिससे प्रभावित होकर उस देवने भी साध्वीजीको महाविदेह क्षेत्रमें तीर्थङ्करके पास पहुंचा दिया। तीर्थङ्कर महाराजके पास पहुंचकर साध्वीने भी अपनी शङ्का निवारणार्थ प्रश्न किया, उत्तरमें भगवानने विशुद्ध चित्तवाली व अघातिका कहकर यह चूलिका दी (हारिभद्रीयवृत्ति)।

उपरोक्त विवरणमें बहुतसी बातें विचारणीय हैं, यह चूलिका भलेही तीर्थङ्करभाषित हो या न हो किन्तु है पूर्ण माननीय, क्योंकि इसमें कोईभी वचन जिनवाणीविरुद्ध नहीं दिखता। जोभी दोनों अध्ययन चूलिकाके नामसे प्रसिद्ध हैं तथापि रचनाकारने चूलिका नामको अन्तिम अध्ययनमेंही ' चूलिअं तु पवक्खामि ' इस पदसे स्वीकार किया है। और इसीके लिये उपरोक्त किंवदन्ती भी है।

अब रहा प्रथम चूलिका अध्ययन सो रचनाकारने भलेही इसे चूलिका नाम नहीं दिया हो लेकिन् दशवैकालिकके साथ इसका सम्बन्ध करनेवाले आचार्योंने कदाचित् इस सूत्रके उपरिष्टात् होनेसे चूडा यह नाम रक्खा हो यह सम्भव है, दोनोंकी रचना व चूडा नामसे प्रसिद्धि निर्युक्तिकार व भाष्यकारके अवश्य पहलेसे है, रचनाशैलीसे दोनोंके कर्ता भिन्न भिन्न होने चाहिये ऐसा हमारा अनुमान है। विशेष आगमोंके परिशीलन करनेवाले ऐतिहासिक विद्वान् इस विषयको स्पष्ट करेंगे तो ठीक होगा।

इस चूलिकाका पूर्व चूलिकासे सम्बन्ध इसप्रकार है—संयममार्गमें दुःखी होकर उद्विग्न-चञ्चल होने-वाले साधुको दृढ रहनेका उपदेश प्रथम चूलिकामें दे आए हैं। इस दूसरी चूलिकामें पवित्र चर्या-समाचारीको कहते हैं। यद्यपि नामादि भेदसे चूडा पदके छह अर्थ हैं किन्तु इनमें चूडा अर्थात् श्रुतज्ञान ही मुख्य है। श्रुतज्ञान-रूप साधनसे चर्यागुण साध्य है। कार्यकारणमें कथञ्चित् अभेद होनेसे श्रुतज्ञान इस पदसे चर्यागुणरूप कार्य लिया जाता है।

ग्रन्थकार कहते हैं—मैं केवली भगवान्‌से कही हुई जो श्रुतज्ञानरूप चूलिका है उसको कहूंगा, जिस चूलिकाको सुनकर सुपुण्य अर्थात् पूर्वोपार्जितपुण्यशाली जीवोंकी चारित्रधर्ममें मति अर्थात् भावसे श्रद्धा होती है ॥ १ ॥

इस चूलिकारूप वृक्षके मूलभूत अर्थको कहते हैं—जहाँ बहुजनसमाज नदीप्रवाहमें पडे हुए सूखे काष्ठकी तरह विषयवासनारूप प्रवाहमें बहा जा रहा है, वहाँ कर्मप्रकृतिके प्रतापसे विषयविकारके विपरीत अर्थात् विषयनिवृत्तिरूप प्रवाहपर लक्ष्य रखनेवाले संयमी जीवको मुक्तिरूप हेतुसे संयमरूप प्रतिस्रोत-विपरीत प्रवाहमें ही मुक्त होनेके लिये अपने आत्माको स्थिर रखना चाहिये। अभिप्राय ऐसा है कि—ओघरूपसे सांसारिक जीव विषयविकाररूप प्रबल प्रवाहमें वह रहा है, इस प्रवाहके प्रतिकूल संयममार्गमें लगना यह परमपुण्यका परिणाम है, ऐसा सुयोग जब शुभकर्मसे मिला तब इस सुयोगको व्यर्थ नहीं जाने देना किन्तु कठिनाईमें भी आत्माको संयममार्गमेंही स्थिर रखना चाहिये ॥ २ ॥

अनुस्रोत-विषयप्रवाहमें बहते रहना इसको संसारी जीव सुख माननेवाला है, क्योंकि वह कर्मके बोझसे दबा है। किन्तु सुविहित साधुओंके लिये प्रतिस्रोत अर्थात् विषयोंसे विपरीत निवर्तन होनेरूप-विषयविका-रोंसे दूर रहनाही आस्रव-इन्द्रियवि .य आदि सद्गुणोंका स्थान है अथवा आश्रम-संयम आदि व्रत ग्रहणरूप

होता है। अनुस्रोत-विषयके अभिमुख प्रवृत्ति करना जन्ममरणरूप संसार है, और प्रतिस्रोत-विषयोंमें प्रवृत्तिसे पृथक् रहना यही उस संसारसे पार उतरना है ॥ ३ ॥

इसलिये आचारमें पराक्रमशाली तथा इन्द्रियादि निरोधरूप संवरमें अधिक समाधि-चित्तशान्तिको रखनेवाले साधुको संयमकी विशुद्धिके लिये भिक्षुभावको स्थिर रखनेवाली अनियतानिवास व अप्रतिहतविहार आदि बाहरी व भीतरी ऐसी चर्या तथा मूल व उत्तररूप गुण और समयपर पिण्डविशुद्धि आदिकी आसेवना-रूप नियम सम्यग् ज्ञान, सम्यग् आसेवना और सम्यक् प्ररूपणाके द्वारा ये सब चर्या आदि सदा द्रष्टव्य-देखनेयोग्य हैं ॥ ४ ॥

चर्याको कहते हैं—अनियत निवास, अनेक गृहोंकी विशुद्ध गोचरी, विशुद्ध उपकरणोंका ग्रहण, निर्जन प्रदेशमें वास, और वस्त्र पात्र आदि उपधिको अल्प रखना, तथा कलहकाण्डसे दूर रहना, अप्रतिहत विहार करना ये सब चर्याएँ साधुओंके लिये अति प्रशस्त हैं ॥ ५ ॥

विहारचर्या और आहारचर्यामें विशेषता दिखाते हैं—विहारचर्यामें-जनसमूहसे परिपूर्ण जैसे कि राजकुल, देवकुल आदि आकीर्ण स्थान और जहाँ स्वपक्ष या परपक्षसे अपमान होनेका भय हो वह अवमान-स्थान इन दोनों स्थानोंको साधु छोडदेवे, क्योंकि ये दोनों स्थान सदोष हैं, आकीर्ण स्थानमें-जनसंमर्दके कारण हाथ पैर टूटनेका भय है, और अपमानस्थानमें अलाभ तथा आधाकर्मादि दोषसहित आहार मिलनेकी शङ्का है, इसी प्रकार आहारचर्यामें प्रायः उपयोगपूर्वक देखकर लाया हुआ आहार-पानी साधुओंके लिये प्रशस्त है, मुनि इस प्रकारके आहारके लिये जावे, ऐसेही आहारग्रहणमें पहले आठ भांगे कह आए हैं उन भङ्गोंमें प्रथम

भङ्गको श्रेष्ठ बताते हुए कहते हैं—संसृष्ट हाथ व पात्रसे दिये जाते आहारमेंही साधु यत्न करे, वह संसृष्ट हाथ या पात्र दिये जाते निरवद्य आहारसेही संसृष्ट हो, किन्तु दूसरी सावद्य वस्तुसे संसृष्ट न हो, अगर असंसृष्ट हाथ या पात्र होगा तो पुरःकर्मकी शङ्का रहेगी, इसलिये उक्त आठ भङ्गोंमें-संसट्ठे हत्थे, संसट्ठे मत्ते, सावसेसे दव्वे, यह प्रथम भङ्गही उत्तम है ॥ ६ ॥

उपदेशरूपसे कहते हैं —साधु मद्यपान और मांसाशनका त्यागी होवे और दूसरोंका द्वेष नहीं करे, ऐसेही वारंवार विना विशेष प्रयोजनके विकृति-घृत, दुध, दही आदि सरस आहार नहीं करनेवाला तथा गमना-गमन आदि क्रियाओंके करनेपर कायोत्सर्ग करनेवाला होवे (अथवा विकृतिका आहार करनेपर कायोत्सर्ग करे ऐसा भी एकपक्ष है), और आगमके स्वाध्यायमें व व्यावच आदिमें तथा आयम्बिल आदि तपमें विशेष प्रयत्न करे ॥ ७ ॥

मास आदि कल्पकी समाप्तिमें विहार करता हुआ साधु शयन-शय्या, आसन-पीठ, पाटला आदिके विषयमें गृहस्थोंसे ऐसी प्रतिज्ञा नहीं करावे कि मैं लौटकर आऊं तो मुझेही यह शयन आसन देना, ऐसेही उपा-श्रयके विषयमें व स्वाध्यायभूमिके विषयमें एवं भक्त पान आदिके विषयमें वैसी प्रतिज्ञा नहीं करावे, ग्राममें व कुलमें अथवा नगरमें या किसी देशमें अर्थात् किसीभी विषयमें कहीं पर भी ममताभाव नहीं रक्खे ॥ ८ ॥

उपदेशरूपसे ही कहते हैं— साधु गृहस्थोंकी वेयावच नहीं करे, तथा वचनमात्रसे नमस्कार, शरी-रको झुकाकर वन्दन, और वस्त्र देने आदि रूपसे पूजासत्कार भी नहीं करे, मुनि गृहस्थोंकी सेवा करना आदि संक्लेशोंसे रहित ऐसे साधुओंके साथ रहे, जिससे कि चारित्रकी हानि नहीं होवे ॥ ९ ॥

असंक्लिष्टोंके साथ रहना चाहिये ऐसा कहचुके हैं, अब उसमें विशेषताको कहते हैं—यदि अपनी अपे ासे गुणाधिक अथवा गुणोंसे स्वसमान ऐसा निपुण-संयमानुष्ठानमें कुशल दूसरा सहायक साधु नहीं मिले तो कामोंमें अनासक्त तथा पापकर्मोंको त्यागता हुआ संहनन आदिसे युक्त ा अकेला भी ावहार करे ॥ १० ॥

विहारकालको कहते हैं—संवत्सर अर्थात् वर्षाऋतुसम्बद्ध चार मास और शेषकालमें एक मास एक स्थानमें रहना यह परम-उत्कृष्ट प्रमाण है, जहाँ चातुर्मास या ऋतुबद्ध एकमास उत्कृष्ट रहचुके है वहाँ फिर द्वितीय वर्षाबद्ध चार मास रहे नहीं अर्थात् दूसरे वर्ष वहाँ चातुर्मास नहीं करे, ऐसे शेषकालमें भी द्वितीय तृतीय मास वहाँ नहीं रहे अर्थात् चातुर्मास व शेषकल्पका दुगुणा समय निकाले विना वहाँ चातुर्मास तथा मासकल्प नहीं करे, सूत्रकथित मार्गसेही साधु प्रवृत्ति करे, सूत्रका विधिनिषेधरूप अर्थ जैसी आज्ञा करे उसीके अनुसार प्रत्येक साधुको आचरण करना चाहिये ॥ ११ ॥

इसप्रकार शुद्धसमाचारीवाला साधु जिससे सीदित न हो उस उपायको कहते हैं— जो साधु रातके प्रथमभागमें तथा अन्तिमभागमें आत्मासे आत्माको देखता है, जैसे मैंने अपनी शक्तिके अनुसार कौनसा तपःकर्म आदि किया और मेरेलिये अब क्या कर्तव्य करना बाकी है, अथवा करनेलायक कौनसा वेयावच आदि कार्य-शक्ति होते भी नहीं कर रहा हूँ ? ॥ १२ ॥

मेरी कौनसा त्रुटिको दूसरा देखरहा है अथवा क्या आत्मा कहीं थोडे वैराग्यवाला है ? या कौनसी चूकको मैं नहीं त्याग रहा हूँ ? इत्यादि बातोंपर अच्छीतरह विचार करता हुआ साधु इसीप्रकार आगमोक्त विधिसे चूकको समझकर भविष्यकालके लिये संयममें बाधा नहीं पहुंचावे ॥ १३ ॥

कैसे यह दिखाते हैं—मन वचन अथवा शरीरसे जहीं कहीं संयमस्थानसे कुछ च्युत हुआ प्रमादयुक्त आत्माको देखे तब जैसे जातिमान् घोडा नियमित गतिके लिये शीघ्रही लगाम लगवा लेता है वैसे उसी संयमस्थानसे धीर गम्भीर साधु अपने विराधक आत्माको रोककर सम्यग् विधिओंके ऊपर यत्नशील बना रहे ॥ १४ ॥

धैर्यवान् व जितेन्द्रिय ऐसे जिस सत्पुरुषके इस प्रकार अपने हितोंके अवलोकन करनेरूप योग मन, वाणी व शरीरके होते हैं उस सत्पुरुषकोही विद्वान् लोग सदा प्रतिबुद्धजीवी-संयममें सावधान साधु कहते हैं, क्योंकि वही सर्वथा संयमजीवनसे जीता है ॥ १५ ॥

इस शास्त्रका उपसंहार करते हुए उपदेशका सर्वस्व कहते हैं— शक्ति होनेपर सुसमाधिवाले सर्व इन्द्रियोंसे युक्त ऐसे संयमीको चाहिये कि परलोकसम्बन्धी अपायोंसे अपने आत्मा और पर आत्माकी भी रक्षा करे। क्योंकि जो साधु स्वपर आत्माकी रक्षा नहीं करता है वह अरक्षित जन्ममार्गमें जाता है, और जो अच्छीतरह रक्षा करता है वह साधु सर्व दुःखोंसे छूटता-अलग होता है ॥ १६ ॥ ऐसा मैं कहता हूँ। इति।

॥ विविक्तचर्या नामकी दूसरी चूलिका समाप्त ॥

॥ इति सौभाग्यचन्द्रिका हिन्दी टीका समाप्त ॥

॥ ११५ ॥

है जानना सूत्रार्थका गुरुकी कृपापर टिक रहा।
हठसे स्वयं जो पढलिया वह तत्त्वसे वञ्चित रहा॥

यह बात सच्ची मानकर गुरुनामसे टीका रची।
गुरुने सिखाई थी तथा जो बात मतिसे भी जची॥ १॥

इस बातको गाथानुगत न्यूनाधिकोंको छोडकर।
मैंने लिखा है गुरुकथित निज संस्मरणसे जोडकर॥

स्मृति ही हुई हो क्षीण या विपरीत तो चाहूँ यही।
विद्वान् मुनिवर सोचकर समझें वही जो हो सही॥ २॥



॥ ११६ ॥

शब्दकोश व टिप्पण.

अध्ययन १

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
१	संजम	संयम (पु.)	पापमार्गका निरोध, यतना, इन्द्रियदमन.
२	अप्पा	आत्मन् (पु.)	आत्मा, जीव.
३	एसणा	एषणा (स्त्री.)	तिसरी समिती—आहार आदिकी गवेषणा.
४	अहागड	यथाकृत (न.)	अपने लिये सहज बनाया हुवा.
५	अणिस्सिअ	अनिश्रित (त्रि.)	कुल वगैरहमें मोहरहित.

अध्ययन २

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
१	सामण्ण	श्रामण्य (न.)	साधुधर्म.
२	अच्छंद	अच्छन्द (वि.)	परवश.
-५	संपराय	सम्पराय (पु.)	संसार.
६	वंतय	वान्त (न.)	छोडा हुवा या वमन किया हुवा.
,,	अगंधण	अगंधण (पु.)	उत्तम जातिका सर्प, सर्पकी एक जात.
८	भोगराय	भोगराज (पु.)	यदुवंशी राजा उग्रसेन.
,,	अंधगवण्हि	अन्धकवृष्णि (पु.)	यदुवंशी राजा समुद्रविजय.
,,	गंधण	गंधण (पु.)	हीन जातिका सर्प.
,,	निहुअ	निभृत (वि.)	स्थिरचित्त.
९	हड	(दे.)	अबद्धमूल वनस्पतिविशेष.

॥ १ ॥

अध्ययन ३

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
१	विप्पमुक्क	विप्रमुक्त (त्रि.)	बाह्य आभ्यन्तर ग्रन्थिसे रहित.
,,	अणाइण्ण	अनाचीर्ण (त्रि.)	नहीं आचरण करनेयोग्य कर्म.
,,	निग्गंथ	निर्ग्रन्थ (पु.)	साधु.
२	उद्देसिअ	औद्देशिक (न.)	दूसरा उद्गम दोष, साधुके निमित्त करके बनाया हुआ आहार आदि.
,,	कीअगड	क्रीतकृत (त्रि.)	अष्टम उद्गम दोष, साधुके निमित्त मूल्यसे खरीदा हुआ आहार आदि.
,,	नियाग	नियोगिक (न.)	आमंत्रण देनेवालेके यहांसे अथवा नित्य एक जगहसे आहार लेना.
,,	अभिहड	अभिहृत (न.)	साधुके लिये स्थानान्तरसे सामने लाया हुआ आहार आदि.
३	संनिहि	संनिधि (पु.)	घृत गुड आदिका संचय.
,,	गिहिमत्त	गृह्यमत्र (गृहिपात्र) (न.)	गृहस्थके पात्र.
,,	रायपिंड	राजपिण्ड (पु.)	राजाके लिये योग्य या राजाके यहाँका आहार.
,,	किमिच्छअ	किमिच्छक (न.)	जहाँ पूछके इच्छानुसार दिया जाय वैसा दान.
,,	संपुच्छणा	सम्प्रच्छना (स्त्री.)	गृहस्थसे सावद्य विषय पूछना अथवा अपनी शोभाके विषयमें पूछना.
५	सिज्जायर	शय्यातर (त्रि.)	साधुको रहनेके लिये मकान देनेवाला गृहस्थ.
,,	आसंदी	आसन्दी (स्त्री.)	छोटी खाट या आसनविशेष.
६	वेआवडिअ	वैयावृत्त्य (न.)	भोजन आदिसे सेवा.
,,	आजीववत्तिया	आजीववृत्तिता (स्त्री.)	जाति कुल बताकर जीना.
,,	आणिव्वुड	अनिर्वृत (न.)	अपरिणत याने पूर्ण निर्जीव नहीं बना हुआ (मिश्र व सचित्त).
७	आमए	आमक (त्रि.)	सचित्त या कच्चा.

॥ २ ॥

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
१०	लहुभूयविहारी	लघुभूतविहारिन् (त्रि.)	वायुकी तरह अनिरुद्ध विहार करनेवाले.
११	आसव	आस्रव (पु.)	कर्मबन्धके कारण.
१५	सिद्धि	सिद्धि (स्त्री.)	सर्वथा कर्ममुक्त जीवोंका स्थान.
,,	परिणिव्वुड	परिनिर्वृत (वि.)	सर्वथा दुःखरहित या कर्ममुक्त होना.

अध्ययन ४

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
	कासव	काश्यप (पु.)	क्षत्रियोंका गोत्रविशेष.
	अदिण्णादाण	अदत्तादान (न.)	विना दिये पदार्थोंका लेना अर्थात् चोरी.
	उंडुअ	उन्दुक	भूमि, जगह, पात्रविशेष.

अध्ययन ५ (उद्देश १)

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
२६	आयाण	आदान (न.)	लानेका मार्ग.
३०	सच्चित्त	सचित्त (न.)	पृथ्वी जल अग्नि वायु वनस्पति आदि सजीव पदार्थ.
३२	पुरेकम्म	पुरःकर्म (न.)	दान देनेके पहले सजीव पानी आदिसे हाथ धोना.
३४	उक्किट्ठ	उत्कृष्ट (न.)	कालिङ्ग तुम्ब त्रपुष आदि फलोंके शस्त्रसे किये हुए चिकने टुकडे अथवा उखलमें कूटे हुए चिंचिनी आदिके पत्ते.
३५	पच्छाकम्म	पश्चात्कर्म	मुनिओंको आहार आदि देकर उस निमित्तसे जल आदिका आरम्भ.
३६	एसणीय	एषणीय (न.)	दोषरहित.
४५	नीसा	निःसारिका (स्त्री.)	पीसनेकी शिला खरल आदि.
५१	वणिमट्ठा	वनीपकार्थ (पु.)	याचकोंके लिये बनाया हुवा आहार.

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
५५	पूइकम्म	पूतिकर्म (न.)	आधाकर्म दोषयुक्त आहारके अंश संमिश्रित आहार.
”	अज्झोअर	अध्यवपूरक (पु.)	अपने लिए सीझते हुए ओदन आदिमें साधुका आना सुनकर अधिक डालना.
”	पामिच्च	प्रामित्य (न.)	साधुके लिये किसी दुर्बलसे छीनकर आहार आदि देना.
”	मीसजाय	मिश्रजात (न.)	गृहस्थ और साधु दोनोंके लिये सम्मिलित बने हुए पदार्थ.
५९	उत्तिंग-पणग	उत्तिङ्ग-पनक (पु.)	कीडी-नगरा आदि.
६९	मालोहडा	मालापहृता (स्त्री.)	माला वगैरह ऊंचे स्थानसे उतारकर दी जानेवाली भिक्षा.
७५	संसेइम	संस्वेदिम (न.)	पसीनेसे पैदा होनेवाले जीव, आटेका पानी.
७८	थोव	स्तोक (त्रि.)	थोडा.
८१	परिठविज्जा	परिष्ठापयेत्	अपनापन हटाकर अनुपयोगी वस्तु डालदेना.
८७	सिज्जा	शय्या (स्त्री.)	निवासस्थान.
८९	अइयार	अतिचार (पु.)	दोष.
९५	चिअत्त	प्रीतिकर (त्रि.)	प्रसन्न मन.
९८	सूइअ	सूचित (न.)	कहके दिया हुवा या शाक आदिसे युक्त आहार.
९९	फासुअ	प्रासुक (त्रि.)	निर्जीव.

अध्ययन ५ (उद्देश २)

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
१	पडिग्गह	प्रतिग्रह (पु.)	पात्र.
२	निसिहिआ	नैषेधिकी (स्त्री.)	स्वाध्यायभूमि वा निवासस्थान.
५	संनिवेस	सन्निवेश (पु.)	उपनगर.
७	उज्जुअ	ऋजुक (त्रि.)	सन्मुख.

॥ ४ ॥

॥ ५ ॥

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
१०	किविण	कृपण (पु.)	कंजूस.
,,	वणीमग	वनीपक (पु.)	याचक.
१८	अणिव्वुड	अनिर्वृत (न.)	सचित्त.
२०	छिवाडी	(दे.)	मूंग आदिकी फली.
२१	कोल	बदर (पु.)	बेर.
,,	वेलुअ	वेणुक (न.)	वंशकरेला.
,,	कासवणालिआ	काश्यपनालिका (स्त्री.)	श्रीपर्णी फल.
२२	वियड	विकट (न.)	शुद्धोदक.
२५	समुआण	समुदान (न.)	भिक्षासे प्राप्त सामुदायिक.
,,	ऊसढ	उत्सृत (न.)	ऋद्धिसम्पन्न या ऊंचाकुल.
२६	मायण्ण	मात्राज्ञ (पु.)	आहारके परिमाणको जाननेवाला.
३३	भद्दग	भद्रक (न.)	अच्छा.
,,	विरस	विरस (न.)	रसरहित या बासी ठण्ढा आहार.
३४	पंत	प्रान्त (न.)	असार.
३५	मायासल्ल	मायाशल्य (न.)	कपटभावरूप कांटा.
३८	अनिव्वाण	अनिर्वाण (न.)	निर्वाण—सर्वथा दुःखमुक्ति—उसका अभाव.
४२	पणिअ	प्रणीत (न.)	स्निग्ध आहार.
४६	देवकिव्विस	देवकिल्विष (न.)	नीच जातिके देवयोग्य कर्म.
४८	बोही	बोधि (पु.)	सम्यक्त्व या जिनधर्मप्राप्ति.

॥ ५ ॥

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
५०	सुप्पणिहिइंदिए	सुप्रणिहितेन्द्रिय (पु.)	इन्द्रियोंमें उपयोग रखनेवाला.
"	तिव्वलज्ज	तीव्रलज्ज (पु.)	उत्कृष्ट संयमवाला.
			अध्ययन ६
१	दंसण	दर्शन (स्त्री.)	सम्यक्त्व याने सत्यश्रद्धा.
"	गणि	गणिन् (पु.)	साधु आदि समूहका अधिपति वा आचार्य.
"	समोसढ	समवसृत (न.)	स्थित या धर्मदेशनामें लगा हुआ.
२	आयारगोयर	आचारगोचर (पु.)	क्रियाकलाप.
३	सिक्खा	शिक्षा (स्त्री.)	ग्रहणा और आसेवनारूपसे शिक्षाके दो प्रकार है.
५	विउलट्ठाण	विपुलस्थान (न.)	विपुल ऐसे मोक्षका हेतु संयम.
६	खुड्डग-वियत्त	क्षुल्लक-व्यक्त (पु.)	क्षुल्लक-बालक, व्यक्त-ज्ञान आदिसे वृद्ध.
१४	उग्गह	अवग्रह (पु.)	उपाश्रय.
१६	भेआययण	भेदायतन (न.)	चारित्रभङ्गका कारण.
१८	विड	प्रासुक (न.)	निर्जीव बना हुआ.
२७	करणजोअ	करणयोग (पु.)	करना करवाना अनुमोदन ये तीन करण है, और मन वाणी और शरीर ये तीन योग.
५१	कुंडमोअ	कुण्डमोद (पु.)	मिट्टी आदिका बडा भाजन अर्थात् कुण्डा.
५४	आसालअ	आशालक (पु.)	आजूबाजू सहारेवाला आसन.
६२	घसा (स्त्री.)	देशी	शुषिर भूमि.
६६	चिक्कण	"	स्निग्ध या गाढ.

॥ ६ ॥

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
६९	सविज्जविज्जा	स्वविद्यविद्या (स्त्री.)	परलोकसाधक विद्या अर्थात् तात्त्विक ज्ञान.
			अध्ययन ७
१	विणय	विनय (पु.)	भाषाका शुद्ध प्रयोग.
३	असच्चमोसा	असत्यामृषा (स्त्री.)	सत्य भी नहीं और मृषा भी नहीं ऐसी व्यावहारिक बोलचालकी भाषा.
४	सासय	शाश्वत (त्रि.)	मोक्षपद.
८	पच्चुप्पण्ण	प्रत्युत्पन्न (न.)	वर्तमानकाल.
२१	पंचिंदिअ	पञ्चेन्द्रिय (पु.)	पांच इन्द्रियोंवाले जीव (कर्ण, चक्षु, नासिका, रसना, स्पर्श.)
२७	उदगदोणि	उदकद्रोणी (स्त्री.)	अरहट्ट, प्राचीन जलयन्त्र.
३२	टाल	टाल (न.)	गुठली नही बंधा हुआ कोमल फल.
३६	सुतित्था	सुतीर्था (स्त्री.)	सुन्दर तीरवाली नदी.
४१	सुलट्ठ	सुलष्ट (त्रि.)	सुन्दर.
५७	चउक्कसायावगअ	चतुष्कषायापगत (त्रि.)	क्रोध मान कपट लोभ इन चार कषायोंसे रहित.
,,	अणिस्सिअ	अनिश्रित (त्रि.)	कहीं भी मोक्ष या रुकावट नहीं रखनेवाला.
			अध्ययन ८
११	उत्तिंग	उत्तिङ्ग (पु.)	सर्पच्छत्रादि या कीडीनगरा.
,,	पणग	पनक (पु.)	उल्ली, पांचवर्णकी काई.
२२	निट्ठाण	निष्ठान (न.)	वर्ण रस आदिसे युक्त उत्तम अन्न.
,,	रसणिज्जूढ	रसनिर्यूढ (न.)	विरस या तुच्छ धान्य.

॥ ७ ॥

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
२९	अतिंतिण	अतिन्तिन (पु.)	भिक्षा आदि नहीं मिलनेपर भी शान्त रहना.
३२	वियडभाव	विकटभाव (पु.)	प्रकट विचारवाला.
३५	बल	बल (न.)	मनोबल.
,,	थाम	स्थाम (पु.)	शरीरकी दृढता.
५०	आयारपण्णत्ति	आचार-प्रज्ञप्ति	आचाराङ्ग, विवाहप्रज्ञप्ति (भगवती) आदि.

अध्ययन ९ (उद्देश १)

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
१	थंभ	स्तम्भ (पु.)	अभिमान.
११	जहाहिअग्गी	यथाहिताग्नि (पु.)	अग्निको घरमें सतत रखनेवाले ब्राह्मण.

अध्ययन ९ (उद्देश २)

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
१	खंध	स्कन्ध (पु.)	वृक्षका मूल.
२	सिग्घं	शीघ्रं अथवा श्लाघ्यं	जल्दी वा प्रशंसनीय.
३	मिय	मृग (पु.)	मूर्ख.
,,	नियडी	निकृति (स्त्री.)	कपट.
६	उववज्झ	औपवाह्य (पु.)	राजा आदिके प्रेमपात्र हाथी घोडे वगैरह.
७	छाय	छात (त्रि.)	चाबुक आदिके प्रहारसे चिह्नित शरीरवाले.
८	कलुण	करुण (पु.)	दीन.
,,	विवण्णछंद	विपन्नच्छन्दस् (त्रि.)	पराधीन होनेसे स्वेच्छारहित.
१४	निअच्छंति	नियच्छन्ति (क्रि.)	पाते हैं.

॥ ८ ॥

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
१५	निद्देसवत्ती	निर्देशवर्ति (पु.)	आज्ञापालक.
१६	अणंतहिअकामअ	अनन्तहितकाम (पु.)	मोक्षपदका इच्छुक.
१८	उवहि	उपधि (पु.)	वस्त्र पात्र रजोहरण आदि धर्मसाधनके उपकरण.
१९	किच्च	कृत्य (न.)	आचार्य या गुरुजन.
२३	हीणपेसण	हीनप्रेषण (पु.)	गुरुकी आज्ञाको बराबर न पालनेवाला.
२४	सुयत्थधम्म	श्रुतार्थधर्म (पु.)	गीतार्थ याने आगमके विशेषज्ञ.
,,	ओह	ओघ (पु.)	संसारका प्रवाह.

अध्ययन ९ (उद्देश ३)

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
३	रायणिअ	रत्नाधिक (त्रि.)	ज्ञानदर्शन-चारित्र-रूप भावरत्नोंकी विशेषतावाले.
,,	परिआयजिट्ठ	पर्यायज्येष्ठ (त्रि.)	लंबे कालके अर्थात् पूर्वदीक्षित.
,,	ओवायव	अवपातवत् (त्रि.)	विनयशील.
४	उंछ	उञ्छ(न.)(गृहस्थोद्धरितादि)	गृहस्थके बचे हुवे आहार आदि अथवा थोडा.
,,	समुयाण	समुदान (न.)	विधिपूर्वक भिक्षा.
८	परमग्गसूर	परमाग्रशूर (पु.)	दानशूर युद्धशूर आदिसे विशिष्ट प्रधान शूर.
१०	अकुहअ	अकुहक (पु.)	इन्द्रजाल आदि कौतुकसे रहित.
१५	अभिगमकुसल	अभिगमकुशल (त्रि.)	आगत साधु वगैरहके योग्य सत्कार करनेमें चतुर.

अध्ययन ९ (उद्देश ४)

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
	अत्तसंपग्गहिअ	आत्मसम्प्रगृहीत (पु.)	मैं विनीत हूँ आदिरूप अहङ्कारयुक्त न हो.

॥ ९ ॥

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
	आययट्ठि	आयतार्थिन् (पु.)	मोक्षका इच्छुक.
	कित्ति	कीर्ति (स्त्री.)	सर्वत्र फैलनेवाली शोभा.
	वण्ण	वर्ण (पु.)	एक दिशामें व्याप्त प्रशंसा.
	सद्द	शब्द (पु.)	आधी दिशामें व्याप्त गुणानुवाद.
	सिलोगट्ठअ	श्लाघार्थ वा श्लोकार्थ (पु.)	गुणीके समक्ष होनेवाली स्तुतिके लिये.
	अतिंतिण	अतिन्तिन (पु.)	किसीके एकवार कुछ कहनेपर असूयासे वारंवार बोलनेवाला.
५	भावसंधअ	भावसन्धक (त्रि.)	मोक्षको समीप करनेवाला.
७	इत्थत्थ	इत्थंस्थ (त्रि.)	नारक आदि संसारके पर्यायोंको.

अध्ययन १०

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
९	छंदिअ	निमन्त्र्य	निमंत्रण करके.
१०	निहुइंदिअ	निभृतेन्द्रिय (त्रि.)	इन्द्रियोंको स्थिर रखनेवाला.
,,	अविहेडअ	अविहेठक (पु.)	योग्य कार्यमें अनादर नहीं करनेवाला.
१३	वोसट्ठचत्तदेह	व्युत्सृष्टत्यक्तदेह (त्रि.)	शरीरपर रागद्वेष नहीं करनेवाला.
१४	जाइपह	जातिपथ (पु.)	संसार.
१५	अज्झप्परअ	अध्यात्मरत (त्रि.)	शुभध्यानमें तल्लीन.
१६	पुलनिप्पुलाअ	पुलाक-निष्पुलाक (पु.)	संयमको निस्सार करनेवाले दोषोंसे रहित.
१७	अणिह	अनिभ (अनीह) (त्रि.)	कपटसे रहित.
२०	अज्जपय	आर्यपद (पु.)	शुद्ध धार्मिक पद याने केवल सम्यग्धर्मके कहनेवाले वचन.

॥ १० ॥

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
२१	निच्चहिय	नित्यहित (त्रि.)	मोक्षसाधन सम्यग्दर्शन आदि.
,,	अपुणागमा	अपुनरागमा (त्रि.)	जहाँ जानेपर फिर संसारमें नहीं आना पडे ऐसी गति याने सिद्धगति.
			प्रथम चूलिका
	अरइसमावण्णचित्त	अरतिसमापन्नचित्त (त्रि.)	संयममें उद्विग्न चित्तवाला.
	ओहाणुप्पेही	अवधानोत्प्रेक्षी (पु. न.)	संयमसे पीछे हटनेकी इच्छावाला.
	दुस्समा	दुष्षम (पु.)	दुषमानामका काल (पंचमआरा).
१	आयइ	आयति (स्त्री.)	भविष्यकाल.
५	कव्वड	कर्वट (पु.)	बहोत छोटा खेडा.
७	कुतत्ती	कुतप्तिः (स्त्री.)	बुरी चिन्ताएँ.
९	भाविअप्पा	भावितात्मन् (पु.)	ज्ञानक्रियासे प्रसन्न जीवनवाला.
१२	जण्णग्गिविज्झायमिव	यज्ञाग्निं विध्यातमिव	बुझी हुई यज्ञाग्निके समान.
१४	पसज्झचेअ	प्रसह्यचेतस् (उ.)	प्रकट चित्त.
,,	अणहिज्झिअ	अनभिध्यात (त्रि.)	अनिष्ट गति.
१५	झिज्झइ	क्षीयते (क्रि.)	समाप्त होता है.
१६	जीविअपज्जव	जीवितपर्याय (पु.)	जीवनकी समाप्ति.
१८	आय	आय (पु.)	ज्ञान आदिका लाभ.
,,	उवाय	उपाय (पु.)	उसके साधन काल विनय आदि.
			द्वितीय चूलिका
३	अणुसोअ	अनुस्रोतस् (पु.)	विषयानुकूल लोकप्रवाह.

॥ ११ ॥

गा. नं.	अर्धमागधी	संस्कृत	हिन्दी
३	पडिसोअ	प्रतिस्रोतस् (पु.)	विषयसे विरुद्ध प्रवृत्ति.
५	समुआणचरिआ	समुदानचर्या (स्त्री.)	अनेक घरोंमें भिक्षाके लिये घूमना.
,,	पइरिक्किया	प्रतिरिक्तता (स्त्री.)	एकान्तसेवीपन.
,,	ओसण्ण	उत्सन्न	प्रायः.
९	अभिवायण	अभिवादन (न.)	वचनसे नमस्कार करना.
,,	वंदण	वन्दन (न.)	प्रणाम.
,,	पूअण	पूजन (न.)	वस्त्र आदिसे सन्मान करना.
१२	पुव्वरत्तावरत्तकाल	पूर्वरात्रापररात्रकाल	रात्रीके प्रथम और अन्तिम प्रहर.
१३	अणागय	अनागत (न.)	भविष्यकाल.
१४	आइण्णअ	आकीर्णक (पु.)	उत्तम जातिका घोडा.
,,	खलीण	खलिन (पु.)	लगाम.



टिप्पणम्

१ तृतीयाध्ययनस्य चतुर्थगाथायां छत्रोपानद्धारणरूपे द्वेऽनाचीर्णे १९-२१ संख्यायां प्रतिपादिते स्तः। वृत्तिकारेण यत्तत्राऽपवादरूपम् 'आगाढग्लानाद्यालम्बनं मुक्त्वा अनाचरितम्' इत्युक्तं तत्प्रवृत्तिपोषकत्वात्तन्मूलकत्वाद्वा प्रवृत्तेर्न यथावन्मान्यमिति विदुषा विवेक्तव्यम् ॥

२ महाव्रतप्रतिपादकेषु 'तिविहं तिविहेणं मणेणं' इत्यादिपाठेषु दृष्टेष्वादर्शेषु मुद्रितपुस्तकेषु च प्रायः 'मणेणं वायाए काएणं' इत्येवंविधः पाठो दृश्यते। अस्मिन्नेव सूत्रे परत्र बाहुल्येन 'मणसा वयसा कायसा' एवमपि पाठ उपलभ्यते, परं शब्दानुशासनदृष्ट्या तु 'मणसा वयसा काएणं' इति शुद्धपाठेन भाव्यम्। अन्यत्त्वार्षत्वादिति प्रतिवाक्यार्हमेव भवति।

३ 'से भिक्खू वा' इत्यादि पाठे पूर्व-से-शब्दो भिक्षुवाचकः, पर-से-शब्दस्तत्कायवाचक एवं बहुभिः सम्मतत्वादत्राऽपि तथैव स्वीकृतम्। किन्तु यदि पूर्व-से-शब्दोऽथवाचकः पर-से-शब्दश्च भिक्षुवाचकः स्वीक्रियेत तदा भवति विशिष्टार्थसङ्गतिः। एवं स्वीकरणे काऽपि बाधा न स्यात्तदा विद्वद्भिस्तथा स्वीकरणीयम् ॥

स्पष्टीकरणम्

वृत्तिटिप्पणस्थवाक्येषु कतिचिल्लौकिकदृष्ट्याऽपि प्रयुक्तानि, यथा-'श्रोत्रियस्य चाण्डालालिङ्गनमिव'। एवमुदाहरणरूपेण-उद्धरणरूपेण वा प्रयुक्तवचनेषु यत्रकुत्रचिद्वैषम्यं चेत्तत् सैद्धान्तिकं न मन्तव्यम्॥ एवमेव 'इत्वरं सूतकयुक्तम्' इति वचनं लौकिकदृष्ट्या कैश्चित्स्वीकृतमपि न जैनं सैद्धान्तिकम्।

सम्पादकः।

शुद्धिपत्रम्

भूमिका

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	२	पाठक !	पाठकों !
१	१८	कमी	कभी
३	७	जीवनकी	जीवनके
३	१६	ह	हैं
५	११	देवर्द्धि°	देवर्द्धि°
५	१४	९५०	९८०
६	१५	और	जो
९	६	छट्ठा	चौथा
१०	१५	दिया	दिये
११	७	तो अपने	तो मैं भी अपने
१२	१७	परिश्रम	परिश्रमको

अध्ययन २

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	९	वत्थगध°	वत्थगंध°

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	२	कुतश्चिन्निमित्ततरादप्रियं	कुतश्चिन्निमित्तान्तरादप्रियं
१२	१२	नो अपि अहमपि	नो अप्यहमपि
१३	७	कुविउं	कूविउं
१५	९	सुखमस्यातीति	सुखमस्यास्तीति
१६	१२	मदनफलं	मयणफलं
१८	१३	कामयामीत्येवम्भूतं	कामये—इत्येवम्भूतं
२०	३	चत्तीहामो	चत्तिहामो
२२	१४	यथा, क	यथा कः ?,
		अध्ययन ३	
२५	१	तीर्थंकरा :, स्वतस्तीर्णत्वादुभयं	तीर्थंकराः स्वतस्तीर्णत्वात्, उभयं
२५	१४	दिवसभक्तादि	दिवसभुक्तादि
३२	१२	द्वेषरहिताः	रागद्वेषरहिताः
		अध्ययन ४	
३९	१३	अन्येतुं	अन्ये तु
४३	५	°संस्पर्शनार्थम्	°सन्दर्शनार्थम्
४३	६	पृथिव्यादीनामपिः	पृथिव्यादीनामपि

॥ ३ ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४	२	सस्वेदिमाः—	संस्वेदिमाः
५०	१	तेषा	तेषा—
५७	११	पुनर्वृद्ध्यभावेन	पुनर्वृद्ध्यभावेन
६०	४	नाऽऽपीडियत्	नाऽऽपीडयेत्
६२	११	पुद्गलं	पुद्गलं
७१	९	अविहारो	अ विहारो
७४	५	मोक्ष	मोक्षं
७४	१०	सब्भिंतरबाहिर	सब्भिंतरबाहिरं
८१	४	ति	इति

अध्ययन ५ (१)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८५	११	सत्य (ताऽ)	सत्य (ताऽ)—
९९	३	आनीयात्	आनयेत्
१००	८	बोधव्वे	बोद्धव्वे
१०२	२	पच्छाकम्म दोसओ	पच्छाकम्मदोसओ
१०३	१०	तया	तथा
११३	१	बीजेर्हरितेर्वा	बीजैर्हरितैर्वा

॥ ५ ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११८	९	सिंगवेरं	सिंगबेरं
११९	२	शष्कुलिं	शष्कुलीं
१२०	१३	चः	च
१२०	१७	नासदयतीति	नासादयतीति
१२६	३	भुंञ्जीत	भुञ्जीत
१३४	३	°रसंस्कृत	°रसंस्कृतं
		अध्ययन ५ (२)	
१३८	६	विधिना	विधिना
१४५	१	तद्भ्रवे°	तद्भवे°
१७१	१३	उत्तरतोपि	उत्तरतोऽपि
		अध्ययन ६	
१८७	२	असणपाणाइ	असणपाणाइं
१८७	८	छणणाति	छणंति
१८८	७	पलिअं	पलिअंकेसु
१८८	७	मच	मंच
१९५	५	चतैत्	चैतत्
		अध्ययन ७	
२०४	१५	नत्तुणित्ति	नत्तुणियत्ति

॥ ५ ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०६	१	नत्तुणित्ति	नत्तुणियत्ति
२०१	५	महाकाइात्ति	महाकायात्ति
२१५	१५	°मायुंषि	•मायूंषि
२१६	८	पणिताऽथ	पणिताऽर्थ
२१६	८	इात	इति
२१८	२	शब्दाद	शब्दाद्
२२१	१४	आस्वैहि	आस्स्वैहि
२२२	८	नाऽऽसपेद्	नाऽऽलपेद्
२२४	१३	रिद्धिमंताति	रिद्धिमंतात्ति
२२५	५	भयसा व	भय हास
२२५	१	क्रोधाल्लोभाद्भयाद्वा	क्रोधाल्लोभाद्भयाद्धासाद्वा

अध्ययन ८

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२१	३	निरवज्ज पि	निरवज्जं पि
२२१	६	कायव्य	कायव्व
२३२	६	वृंष्ट	वृष्टं
२३३	११	पद्मिणी°	पद्मिनी•
२३६	१	पणकं	पनकं
२४२	१४	आहारमइअं	आहारमाइअं
२५२	३	वतते	वर्तते

॥ ६ ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५२	४	तिष्ठेद	तिष्ठेद्
२५२	४	गुर्वन्तिके	गुर्वन्तिके
२६१	६	चन्द्रमासि	चन्द्रमाः

अध्ययन ९ (१)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७१	६	जस्सतिए	जस्संतिए

अध्ययन ९ (२)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८२	२	एहलोगस्स	इहलोगस्स
२८६	२	यस्येतदुभयतो	यस्यैतदुभयतो
३०१	१०	श्रतं	श्रुतं

अध्ययन १०

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३११	१४	विआवए	वीआवए
३१४	११	धुवयोगी	ध्रुवयोगी
३२२	१५	जीवित	जीवितं

चूलिका १

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३५	११	पज्यो	पूज्यो
३३९	११	धर्मान्द्रष्टं	धर्माद्भ्रष्टं
३४४	७	अधितिष्ठेत	अधितिष्ठेत्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		चूलिका २	
३४५	२	अस्यौघत	अस्यौघतः
३४५	१०	°दार्यया स°	°दार्ययाऽस°
३४५	१०	ऋषिघातका°	ऋषिघातिका°
३४६	२	भवतुकामेन	भवितुकामेन
३४६	३	°काष्ठवद्	°काष्ठवद्
३४७	३	°पराक्रमेन	°पराक्रमेण
३४८	२	प्रशस्ताः	प्रशस्ता
३४८	३	समुदानचर्या	समुदानचर्या-
३५२	१३	°द्रुतुवन्द्धकाले	°द्रुतुवन्द्धकाले

आभ्योऽन्याऽपि काचित्त्रुटिर्लब्धावकाशा स्यादत्र संशोधने तदा धीधनैर्मुनिवरैः श्राद्धैश्च संशोध्य सूचनीया येनाऽग्रिममुद्रणे स्यात्तस्या विशोधनमिति ।

सम्पादकः ।



॥ ८ ॥

हिन्दी टीका

॥ ९ ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१	सूत्रका	सूत्रकी
१	८	दुगतिमें	दुर्गतिमें
२	१	ह	हैं
२	१०	-	—
४	१७	होता	होगा
६	५	अधारतासे	अधीरतासे
६	५	इसलिय धर्यवान्	इसलिये धैर्यवान्
६	८	पूवाक्त	पूर्वोक्त
६	८	ग्रन्थस	ग्रन्थसे
६	१५	ग्रहिमात्र—	ग्रहिमात्र—ग्रहस्थके
७	५	खलना	खेलना
७	१३	आर	और
८	९	अजन	अंजन
९	९	जिन्हाने	जिन्होंने
१३	११	सचेतन	सचेतन
१४	१	कह	कहे
१६	१	झूंठोंका	झूठोंका

॥ ९ ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	२	दूसर	दूसरे
१६	४	लेनेस	लेनेसे
१६	४	व्रतमें	महाव्रतमें
१६	१६	अलग	पीछे
१७	१०	जान्	जानूं
१९	८	घूंआ	धूंआ
१९	१३	उत्तेजन—	उत्तेजन,
२१	७	करनेवाला	करनेवाला वह
२२	१३	आर	और
२२	१५	फकता	फेंकता
२३	३	विधिसे—	विधिसे
२४	१	मन्दतास	मन्दतासे
२६	३	करत	करते
३२	१३	और	या
३३	४	वहाँ	वह
३७	१	निसरणी	निःसरणी—
३८	५	पदार्थको	पदार्थ
३८	१५	लेते	देते
४१	३	बना हुआ	बने हुए

॥ १० ॥

पृष्ठ.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४१	१२	आहारको दोपरहित होकर	दोपरहित आहारको
४४	५	ऐसे	तो
४४	८	कटे	तोडे
४४	१३	बाचमें	बीचमें
४४	१३	अ र	अगर
४४	१४	निजाव	निर्जीव
४४	१५	ता	तो
४४	१५	साध	साधु
४४	१७	अथही	अर्थही
४४	१८	मालम	मालूम
४५	२	मुझ	मुझे
४६	१	पारणामको-	परिमाणको
४७	१३	वह मद्यपी साधु-	जैसे
४७	१३	वह दुर्बुद्धि	वह मद्यपी दुर्बुद्धि
४९	३	सीखकर	सीखकर साधु
५०	१०	होकर	होकर उनको
५१	१०	कुशीलपना घोर	कुशीलपना लोकमें घोर
५४	५	आहारोंका	आहारोंको
५५	११	बायुक	वायुके

॥ ११ ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५५	१३	दूसरोंको	दूसरोंसे
५६	११	आश्रममें	आश्रयमें
५७	९	बचे	धोये
५९	९	विभूषा निमित्तक	विभूषानिमित्तक
६१	४	सत्यकी	सत्यके
६१	१६	बोलना	बोलनी
६२	नोट	याने दादीको	याने नानी व दादीको
६३	१४	ह	है
६८	१	बची	बेची
६८	१५	फलानेकी	अमुककी
६८	१७	आदि हैं	आदि
३८	१८	होंगे	होवें
६९	३	बोलना	बोले
६९	६	जैस	जैसे
६९	८	मानस	मानसे
६९	१२	भाषाको बोलनेवाला	भाषाको विचारकर बोलनेवाला
६९	१३	भापाको छोडनेवाला	भाषाको सदा छोडनेवाला
७०	१	किये	किये हुए
७१	१६	ईंटोंके	पत्थरके

॥ १२ ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७२	३	प्रासुक हुआ है	प्रासुक किया गया है
७२	८	अग्निकायके	अग्निकायकी
७२	१२	अग्निकायविधि	अग्निकायिकविधि
७३	२	अनन्तकाय सचित्त	अनन्तकाय व सचित्त
७३	४	रहनेवाला	रहनेवाले
७३	११	जिनको	उनको
७३	१२	इन	उन
७४	५	यत्न करे	सदा यत्न करे
७४	७	भी साधु सदा	भी सदा
७५	८	पाकर ग्रहण भी नहीं करे	अज्ञातपनसे लेलेनेपर भी भोग नहीं करे
७६	९	रागद्वेपक	रागद्वेपके
७६	१०	जानेस	जानेसे
७६	११	रोकले ॥ ३१ ॥	रोकले, तथा दूसरीवार फिर उस अकर्तव्यको नहीं करे ॥ ३१ ॥
७६	१५	विनीत	विनीत
७७	८	इन दोषोंको	इन चार दोषोंको
७८	१	(या कम नहीं करे),	या कम नहीं करे,
७८	५	होकर श्रमणधर्ममें लगानेवाला साधु	होकर मुनि श्रमणधर्ममें लगावे, क्यों कि श्रमणधर्ममें लगा हुआ

॥ १३ ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७८	११	उपयोगपूर्वक गुरुके	उपयोगपूर्वक मनवाणीकी गुप्तिके साथ गुरुकी
७८	१८	विरोधी है—किसी भी	विरोधी है—उसको किसीभी
७९	५	पुरुषके	पुरुषकी
७९	७	याग	योग
७९	११	कर	करे
७९	१३	हो, मुनि	हो, तो मुनि
७९	१४	करे, साधुओंके	करे, किन्तु साधुओंके
७९	१५	स्त्रासंसर्ग नहा	स्त्रीसंसर्ग नहीं
७९	१६	ऐसेहा	ऐसेही
७९	१७	नातिकार	नीतिकार
७९	१७	जसे	जैसे
८०	४	स्वाध्यायको करनेवाला	स्वाध्यायको सदा करनेवाला
८२	७	होनेवालाही	होनेवालाही मुनि आचारवान्
८२	१७	आवे उसके	आवे तो उसके
८३	११	वैस	वैसे
८३	१४	शास्त्रालोचनामें	आलोचनामें
८३	१४	तथा कारणान्तरसे	तथा स्थापित अल्पवयस्क आचार्यको
८३	१५	अर्थात् स्थापित	अर्थात् कारणान्तरसे स्थापित
८३	१५	हा	हो

पृष्ठ.	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८४	१२	वही	यही
८४	१७	वही	यही
८५	५	होते हैं	होते हैं, और जिससे मोक्ष भी नहीं होता
८५	१२	गुरुका सत्कार	गुरुका सदा सत्कार
८६	६	शाल	शील
८७	४	हाती	होती
८७	१४	विनयको	विनयके विषयमें
८८	१	दिखाते हैं—राजाके	दिखाते हैं—दिव्य लक्ष्मीके निवारणकी तरहही राजाके
८८	३	सुशिक्षित	सुशिक्षित प्रेमपात्र
८८	६	होकर दुःख	होकर वे दुःख
८८	८	प्याससे	प्यास आदिसे
९०	८	वाले आहार	वाले उस आहार
९०	१०	शिष्यने	शिष्यको
९०	११	समझी हुई है	समझी है
९०	१३	तथा सम्पत्तिका	तथा ज्ञान आदि सम्पत्तिका
९२	११	वचनको ग्रहण कर छलकपटसे रहित जो साधु उसको	वचनको छलकपटसे रहित जो साधु ग्रहण करता तथा उसको
९३	३	आदि	आदिके

॥ १५ ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९३	६	ह	हैं
९४	२	दूसरेकी	दूसरेसे
९४	२	करके	कराता व
९४	१६	निकलनेवाला है,	होकर चलता है,
९५	२	ऐसी	ऐसी अनुपम
९६	८	गणधरोंने	गणधरोंसे
९६	१४	विशेषसेही	अनुशासनसेही
९६	१५	यथाथ	यथार्थ
९७	८	श्रुतसमाधिमें लगा हुआ साधु रहता है	साधु श्रुतसमाधिमें लगा रहता है
९८	१	मोक्षका अर्थी	मोक्षका अर्थी व सूत्रादिसे प्रतिपूर्ण
९८	६	केन्द्रस्थानको	केन्द्रस्थान क्षेमपदको अपने लिये
९९	४	इस	इसी
९९	७	उसी	इसी
९९	९	अथवा खुदाता	अथवा नहीं खुदाता
९९	१०	या पिलाता	या न पिलाता
९९	१०	अथवा	तथा
९९	१२	या	व न
९९	१३	यां	और नहीं
९९	१६	या	व न

॥ १६ ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१००	६	शङ्काके ऐसा	शङ्काके सदा ऐसा
१००	११	या	व न
१००	१२	अथवा	तथा
१००	१८	आकुलतारहित	आकुलतारहित व
१०१	२	आदिकृत शब्द	आदिकृत भयङ्कर शब्द
१०१	१८	बनानेवाले पुलाक व निष्पुलाक नामक दोषोंसे	बनानेवाले दोषोंसे
१०२	१	चाहता	चाहना
१०२	३	स्थिरचित्त होकर	स्थिरचित्त व मायारहित होकर
१०२	६	जैसी	जैसे
१०३	११	भिक्षुके ये	भिक्षुके लिये
१०४	१	साचना	सोचना
१०४	१	कमासे	कर्मोंसे
१०४	४	खुपामद	खुशामद
१०६	३	भविष्यकाल	भविष्यकालको
१०६	१३	बहार	बाहर
१०६	१७	फंसाकर	फंसकर
१०७	५	कि	कि—
१०८	१	घोर विपसर्पकी	घोरविष सर्पकी
१०८	१	है	हैं

॥ १७ ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०८	१२	दुःखासे पूर्ण व अनिश्चित	दुःखोंसे पूर्ण व अनिष्ट
१०८	१४	भावमें	भवोंमें
१०८	१८	दुःखकी दशामें	इस विचारसे दुःखकी दशामें
१०९	१	क्याकि	क्योंकि
१०९	१२	संयम	संयत
१११	१३	वह	बह
१११	१६	बहत	बहते
१११	१८	इन्द्रियवि य	इन्द्रियविजय
११२	१	हाता	होता
११२	१	ह	है
११२	१	अनस्रात	अनुस्रोत
११२	१	विषयोंमें	विपयोंकी
११२	११	दिखात	दिखाते
११२	११	जसे	जैसे
११३	६	धृत	धृत
११४	२	अपे से	अपेक्षासे
११४	३	ाहार	विहार
११४	६	रहचुके है	रहचुके हैं
११४	७	शेषेकाल	शेषकाल

॥ १८ ॥

॥ १९ ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११४	१२	जैसे	जैसे—
११४	१५	कानसा	कौनसी
११४	१५	क्या आत्मा	क्या मेरा आत्मा
११५	३	स्थानसे	स्थानमें
११५	४	हितोंके	हितोंको
११५	४	योग मन, वाणी व शरीरके होतं हैं	मन वाणी व शरीरके योग होते हैं
११५	८	भी रक्षा करे	भी सतत रक्षा करे
११५	१७	विधिस	विधिसे
११६	२	हटसे	हठसे

शब्दकोश व टिप्पण.

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	२	अंशसंमिश्रित	अंशसे मिश्रित
६	५	दर्शन (स्त्री)	दर्शन (न.)
७	१४	मोक्ष	मोह
१०	७	बारबार बोलनेवाला	बारबार नहीं बोलनेवाला
१०	१३	अपिहडअ	अविहेडअ
११	९	बहोत	बहुत
१२	९	रात्री	रात्रि



॥ १९ ॥

॥ श्रीदशवैकालिकसूत्रं समाप्तम् ॥

श्रीमद्दशवैकालिक सूत्रपर जैन एवं अजैन विद्वानोंसे प्राप्त कुछ अभिप्राय.

(१) भारतभूषण शतावधानीजी श्री रत्नचन्द्रजी महाराज, पंजाबकेसरी पूज्यश्री काशीरामजी महाराज वक्ता मुनिश्री सौभाग्यमलजी महाराज—

" दृष्टमिदं श्रीदशवैकालिकसूत्रं (सावचूरि सच्छायम्) कियदंशेन, अल्पसमयत्वान्न साद्योपान्तम्। तत्र या त्रुटिः सा पृथक्पत्रे निर्दिष्टा। अवचूरिविषये अस्माकमयमभिप्रायः—यदर्थोऽस्मत्समाजस्य सर्वथा न प्रमाणपदमर्हति सा टीका वाऽवचूरिः किमर्थं सर्वथा प्रमाणरूपसूत्रेण संयोजनीया ? अनेक स्थलेषु अवचूरिभाषाटीकयोर्मध्येऽर्थभेदः स्पष्टं प्रतीयते, कुत्रचिद्विपरीतार्थोऽपि, यथा--पञ्चमाध्ययन--प्रथमोद्देशक--सप्तदशगाथायां " इत्वरं सूतकयुक्तमित्यादि " इदं सूत्रं बहूनां साधूनां साध्वीनां श्रावकश्राविकाणाञ्च कण्ठस्थं क्रियतेऽतोऽत्र स्वल्पोऽपि पाठभेदो न क्षन्तुमर्हः स्यात्*। 'मणसा वयसा कायसा' इति पाठ आबालप्रसिद्धो वर्तते। तत्स्थाने विनाकारणं ह्रस्वविधानं न केनाऽपि प्रकारेण सोढव्यं स्यादित्यादि। बहुवक्तव्यमपि मुद्रणानन्तरमकिञ्चित्करामिति किमधिकेन ? वस्तुतस्त्वेतादृशगौरवयुतकार्यं सहवासप्रवृत्त्या परस्परविचारविमर्शेन परस्परसाहाय्यप्रदानेन च क्रियते तावच्छ्रेयस्करं भवति। सुज्ञेषु किं बहुना ? एतत्तु प्रशंसनीयं यत् पत्रादिकं प्रकाशनकार्यं च मनोहरं वर्तते। संशोधन-परिश्रमोऽपि श्लाघनीयः।

कान्दावाडी, बम्बई, १२-६-१९४०

---

* शङ्का–निरसनके लिये 'स्पष्टीकरणम्' इस शीर्षकको देखिए.

(२) जैनधर्मदिवाकर उपाध्यायजी श्री आत्मारामजी महाराज, कविवर उपाध्यायजी श्री अमरचन्द्रजी महाराज—

" दशवैकालिक सूत्रका इतना अधिक सुन्दर एवं सफल संस्करण जैन संसारको देनेके उपलक्ष्यमें आचार्य श्री हस्तीमल्लजी महाराजको हार्दिक धन्यवाद। आधुनिक सम्पादनपद्धतिके सभी समुचित साधनोंका उपयोग करके वास्तवमें स्थानकवासी जैन समाजमें प्रकाशनकी एक नई दिशा स्थापित की गई है।

सौभाग्यचन्द्रिका टिकाकी भी अपनी एक खास विशेषता है। सरस, सरल और सुबोध भाषाके द्वारा संक्षेपमें मूलका वास्तविक आशय प्रगट करदेना ही विशिष्ट लेखनकला है। और इसमें आचार्यश्रीकी सफलता प्रशंसनीय है।

जैन समाजका कर्तव्य है कि वह प्रस्तुत संस्करणको अधिकसे अधिक अपनाए और इस प्रकार आगमसाहित्य-के मौलिक संस्करणोंके प्रकाशनका अग्रिम मार्ग प्रशस्त करे। किसी भी प्राचीन आगमका आधुनिक शैलीके द्वारा सम्पादन-कार्य बहुत नाजुक होता है, बहुतसी बार बडी बडी भूलोंको हटानेकी चेष्टामें छोटी खटकनेवाली भूलें रह जाती हैं। परंतु आशा है-भ्रान्तियोंके विवादमें पडकर हम पुस्तककी अन्य अनेकविध प्रशस्तताओंको न भुलाएँगे और अपने एक विद्वान् सहयोगीका इस अभिनव क्षेत्रमें सोल्लास स्वागत करेंगे।"

लुधियाना (पंजाब). २३–५--४०

श्री. अगरचंदजी भैरोंदानजी साहब सेठिया–बिकानेर—

" जैन और जैनेतर समाजको जैन साहित्यसे परिचित करानेके लिये आपका यह प्रयत्न प्रशंसनीय है। अवचूरि सरीखी सरल, संक्षिप्त और सूत्रार्थको स्पष्ट करनेवाली प्राचीन टीकाको प्रकाशित करके आपने एक अभावकी पूर्ति की है। हिन्दी टीका भी उपयोगी है। इससे साधारण जनता पर्याप्त लाभ उठा सकेगी। इसके लिये आप और महाराज भी धन्य-वादके पात्र है। कागज और छपाई सुन्दर है।"

डॉ. पी. एल्. वैद्य, प्रोफेसर नौरोसजी वाडिया कॉलेज, पूना—

" या ग्रंथांत प्राकृत मूळ, त्याची संस्कृत छाया, एक अप्रसिद्ध पण सुबोध संस्कृत टीका व शेवटीं मराठी किंवा हिन्दी अनुवाद हीं दिलीं आहेत. या सर्व सामग्रीमुळें समाजाच्या सर्व प्रतींच्या लोकांची उत्तम सोय झाली असून या ग्रन्थाचा आस्वाद आतां सर्व लोकांस घेणें शक्य झालें आहे. संपादकांनीं आपलें काम अत्यंत काळजीपूर्वक व उत्तम रीतीनें केलें आहे, त्यामुळें एकंदर ग्रन्थ फार सुंदर व शुद्ध झाला आहे. ग्रन्थ पोथीरूपानें छापला असल्यामुळें मुनि, शास्त्री व पंडित यांची सोय झाली आहे, पण आकार बेताचा व आटोपशीर असल्यामुळें नवीन विद्वानांनाही फारसा गैरसोईचा वाटणार नाहीं. "

डॉ. ए. एन्. उपाध्ये, प्रोफेसर राजाराम कॉलेज, कोल्हापूर—

" The first volume of the series, "श्रीदशवैकालिकसूत्रम् (सावचूरिसच्छायम्)" is already before us. It is edited by Mr. A. N. Surpuria, M. A., LL. B. who is to be highly congratulated for bringing an unpublished Avachūri to light and for presenting the edition in such a manner that it would attract a wider public of readers. Mr. Surpuria has taken great pains and has done the work ably and carefully. "

